# श्री शङ्कराचार्य का आचार दर्शन

लेखक

डॉ० रामानन्द तिवारी शास्त्री, एम० ए०, डी० फ़िल्०

जसवन्त कालिज, जोधपुर

२००६

हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग

# श्री शङ्कराचार्य का आचार दर्शन

लेखक

डा० रामानन्द तिवारी, शास्त्री, एम० ए०, डी० फ़िल्०

जसवन्त कालिज, जोधपुर
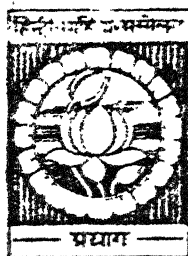
२००६

हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग

प्रकाशक—
हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग

प्रथम संस्करण १०००, मूल्य ५)

मुद्रकः—पं० रामप्रताप शास्त्री, सम्मेलन मुद्रणालय, प्रयाग।

# प्रकाशकीय

विद्वान् दार्शनिकों का विश्वास है कि श्री शङ्कराचार्य पूर्णरूप से ब्रह्मवादी थे, वह संसार को मिथ्या और मायामय मानते थे तथा जगत् के व्यावहारिक पक्ष से उपेक्षित थे। प्रस्तुत पुस्तक के लेखक ने शङ्कराचार्य के दर्शन का व्यावहारिक पक्ष अपने अध्ययन का विषय बनाया है, और इस प्रकार परम्परा से चली आने वाली कुछ भ्रामक धारणाओं के खंडन के साथ-साथ लेखक ने उन जीवनोपयोगी तत्त्वों की छानबीन करने की चेष्टा की है जिन्हें केवल उच्चकोटि का वाग्विलास मात्र नहीं कहा जा सकता।

गंभीर विषयों की भाषा भी गंभीर तो अवश्य होती है किन्तु यह आवश्यक नहीं कि वह क्लिष्ट भी हो। लेखक का ध्यान 'साधु' भाषा की ओर नहीं गया है।

निःसंदेह, पुस्तक लिखने में लेखक ने परिश्रम और सूझ से काम लिया है। हिन्दी संसार सामान्य रूप से, और दर्शनशास्त्र का विद्वान् विशेष रूप से डा० रामानन्द तिवारी शास्त्री की इस पुस्तक में मौलिकता पायेगा। आशा है, इस अध्ययन पूर्ण पुस्तक का हिन्दी जगत् में उचित समादर होगा।

**साहित्य मंत्री**

स्वर्गीय

महामहोपाध्याय

**श्रीयुत डॉ० पंडित गंगानाथ झा**

की

**पुण्य स्मृति में**

जिनकी अदृष्ट अनुकम्पा का यह दृष्ट फल है।

# भूमिका

प्रस्तुत ग्रन्थ सन् १९४७ में प्रयाग विश्वविद्यालय द्वारा डी० फ़िल्० की उपाधि के लिए स्वीकृत मेरे "The ethics of Shankarachanya" नामक अन्वेषण-ग्रन्थ ( Thesis ) का संक्षिप्त हिन्दी रूपान्तर है। इस ग्रन्थ का प्रयोजन वेदान्त के एक प्रायः उपेक्षित अंग—आचार-दर्शन—की श्री शंकराचार्य-कृत भाष्य-ग्रन्थों के आधार पर सांगोपांग मीमांसा प्रस्तुत करना है। अद्वैतेतर वेदान्त सम्प्रदायों के आक्रमण तथा पश्चिमी समालोचकों के आक्षेपों से प्रसारित श्री शंकर वेदान्त-विषयक भ्रान्तिओं का निवारण कर जीवन-सम्बन्ध में वेदान्त के वास्तविक मूल्य और व्यावहारिक उपयोग का प्रदर्शन इस मीमांसा का अभीष्ट विषय है। श्री शंकराचार्य के अनुसार जगत् माया है, जीव मिथ्या है और मोक्ष नैष्कर्म्य है जिसमें जगत्, जीव तथा जीवन तीनों का ब्रह्म में विलय हो जाता है, अतः अद्वैतवेदान्त में आचार का न कोई मूल्य है और न उसमें आचार-दर्शन के लिये कोई स्थान है, इस सामान्य प्रवाद का आचार्य को उक्तियों के आधार पर निराकरण इस मीमांसा का खण्डन पक्ष है। किन्तु इसका मुख्य ध्येय अद्वैतवेदान्त के मूल स्वरूप का निरूपण तथा जीवन और कर्म के मूल्यों से उसके सामंजस्य का प्रदर्शन है। उक्त प्रवाद का आधार भी अद्वैतवेदान्त के मूल स्वरूप के विषय में भ्रान्ति है, अतः अद्वैत के स्वरूप-निरूपण द्वारा ही इसका निराकरण अधिक उचित और उपयोगी जान पड़ा। विषय के क्रम-निर्देश के लिये इतना संकेत पर्याप्त होगा कि पहले अध्याय में विवेच्य प्रसंग की पीठिका का आभास देकर विवेचन के महत्व का लक्ष्य किया गया है। दूसरे अध्याय में प्राचीन आलोचन परम्परा का अनुसरण करते हुए पूर्वपक्ष की स्थापना की गई है। तीसरे अध्याय में अद्वैत के स्वरूप का निरूपण किया गया है तथा प्रसंगतः सृष्टिवाद के तात्पर्य तथा मायावाद के महत्व की मीमांसा की गई है। चौथे अध्याय में तीसरे अध्याय के निष्कर्ष-भूत तत्वों के आधार पर श्रीशंकर-सम्मत वेदान्त-गत आचार-दर्शन के स्वरूप, सिद्धान्त और प्रयोजन का विवेचन किया गया है। पाँचवे अध्याय में वेदान्ताभिमत निःश्रेयस अथवा परमार्थ के स्वरूप का निरूपण तथा उसकी प्राप्ति के साधनों का संकेत और

प्रसंगतः साध्य-साधन सम्बन्ध का निर्देश किया गया है। छठे अध्याय में वेदान्त के व्यावहारिक आचार-दर्शन अर्थात् परमार्थ प्राप्ति के साधनों की विस्तृत व्याख्या की गई है। सातवें अध्याय में अद्वैत वेदान्त में जीवन के मूल्यों का सामंजस्य किया है। अन्तिम अध्याय उपसंहार में वेदान्त के संदेश का निर्देश कर युद्ध और अशान्ति से विक्षुब्ध विश्व में शान्ति-स्थापना में वेदान्त की उपादेयता का लक्ष्य किया गया है।

यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि इस मीमांसा में वेदान्त में किसी पश्चिमी आचार-सिद्धान्त को खोजने की चेष्टा नहीं की गई है। पश्चिमी-दर्शन-सिद्धान्तों से कहीं कहीं साम्य होने पर भी भारतीय दर्शन का स्वरूप और उसके सिद्धान्त, उसकी प्रेरणा और प्रयोजन अपनी एक मौलिकता रखते हैं। उस मौलिकता की उपेक्षा कर भारतीय चिन्तन में पश्चिमी सिद्धांत खोजने वाले तुलनात्मक अध्ययन भ्रान्त तथा भ्रामक हैं। तुलनात्मक अध्ययन के पूर्व भारतीय दर्शन के विविध सिद्धान्तों के मौलिक स्वरूप का निरूपण आवश्यक है। इसी दृष्टिकोण से प्रस्तुत ग्रन्थ में श्री शंकराचार्य-कृत मूल भाष्य-ग्रन्थों के आधार पर वेदान्त के आचार-दर्शन के सिद्धान्त और व्यवहार पक्षों की मीमांसा की गई है। श्री शंकराचार्य के अनुसार सत्य का क्या स्वरूप है, आचार का क्या परम आदर्श है, परमार्थ का क्या स्वरूप है, उसकी प्राप्ति के साधन क्या हैं, आचार के इस सिद्धान्त का तात्विक दृष्टि से क्या महत्व है तथा व्यावहारिक जीवन में क्या मूल्य है, ये इस मीमांसा के मुख्य विषय हैं।

डॉ० राधाकृष्णन् प्रभृति आधुनिक विद्वानों के ग्रन्थों का सहायता और समर्थन के लिए उपयोग किया गया है, किन्तु मुख्य रूप से प्रस्थानत्रयी पर श्री शंकराचार्यकृत भाष्य ही इस अध्ययन के मूल आधार हैं। आचार्य के मूल वचनों से प्रभूत उद्धरणों द्वारा प्रत्येक मत और निर्णय की पुष्टि का प्रयत्न किया गया है। दश प्राचीन उपनिषदों पर श्री शंकराचार्य-कृत भाष्यों का उपयोग विशेष रूप से किया गया है। लेखक का विश्वास है कि वेदान्त परम्परा में ब्रह्मसूत्र तथा ब्रह्मसूत्र भाष्य के अधिक गौरव ग्रहण कर लेने के कारण ही वेदान्त-मत भ्रान्त होकर इतने आक्षेप और आक्रमण का लक्ष्य बना। ब्रह्मसूत्र वेदान्त-परम्परा का महत्वपूर्ण अंग है और आचार्य कृत ब्रह्मसूत्रभाष्य का उनकी रचनाओं में महत्वपूर्ण स्थान है, इसमें कोई संदेह नहीं। किन्तु यह स्मरण रखना आवश्यक है कि ब्रह्मसूत्र वेदान्त का तर्क-

प्रस्थान है। तर्क का वेदान्त में आदर है, किन्तु वेदान्त का लक्ष्य तर्कातीत अनुभव है। तर्क मीमांसा वेदान्त का गौण पक्ष है। साधना और अनुभव वेदान्त के मुख्य और आन्तर विषय हैं। ब्रह्मसूत्र का विषय प्रधानतः खण्डन है। स्वयं श्री शंकराचार्य ने खण्डन को वेदान्त का उद्देश्य नहीं माना है (ब्रह्मसूत्रभाष्य २-२-१)। उस खण्डन के प्रसंग-गत सिद्धान्त भी वेदान्त के मुख्य सिद्धान्त नहीं हैं। ब्रह्मसूत्र का आरम्भ ही सृष्टिकारण मीमांसा से होता है और ब्रह्मकारणवाद का प्रतिपादन उसका लक्ष्य प्रतीत होता है। अधिकांश ब्रह्मसूत्र का विषय जगत्कारण रूपसे ब्रह्म का साधन और निरूपण तथा सांख्यादि अन्य दर्शनों के सृष्टि-सिद्धान्तों का निराकरण है। लेखक का मत है कि सृष्टि के कारण रूप से ब्रह्म के स्वरूप की मीमांसा का वेदान्त सिद्धान्त में कोई मूल महत्व नहीं है। ग्रन्थ के तीसरे अध्याय में श्री शंकराचार्य के अनुसार ब्रह्मकारणवाद के वेदान्तगत महत्व की विस्तृत मीमांसा की गई है। उसमें यह स्पष्ट किया गया है कि ब्रह्मकारणवाद वेदान्त का मूल सिद्धान्त नहीं है। ब्रह्म जगत् का कारण है यह वेदान्त की एक मर्यादा मात्र है और सृष्टिकारण मीमांसा के उपनिषद्गत समस्त प्रसंग अर्थवाद मात्र हैं। उनका तात्पर्य सृष्टि के कारण और क्रम की मीमांसा करना नहीं, वरन् कार्य-कारण के प्रयोग से ब्रह्म के साथ सृष्टि के सम्बन्ध का लक्ष्य करना है। इसका अभिप्राय यह नहीं है कि ब्रह्म वस्तुतः जगत् का कारण है और सृष्टि ब्रह्म का कार्य है, वरन् इसका तात्पर्य केवल इतना ही है कि कारण से कार्य के सम्बन्ध की भाँति जगत् का भी ब्रह्म से अपृथक् तादात्म्य सम्बन्ध है। सृष्टि मीमांसा के अर्थवाद सिद्ध हो जाने पर मायावाद का महत्व भी कम हो जाता है। मायावाद सृष्टि मीमांसागत समस्याओं का अनिर्वचनीय समाधान है। अस्तु, सृष्टि-मीमांसा और मायावाद वेदान्त के मुख्य विषय न होने के कारण ब्रह्मसूत्र का पथ-प्रदर्शन वेदान्त के लिये अहितकर हुआ। ब्रह्मसूत्र भाष्य को ही वेदान्त का प्रकाश-स्तम्भ मानकर चलने वाले परवर्ती आचार्य सृष्टि मीमांसा के मार्ग से जाकर मायावाद के गहन कान्तार में पथ-भ्रष्ट हो गये और एक हजार वर्ष तक माया-महानिशा में महाभ्रान्ति के महारण्य की संकीर्ण विचार-वीथियों में ही भटकते रहे।

इस मायामय-भ्रान्ति में वेदान्त के तत्व का अन्धकाराच्छन्न हो जाना स्वाभाविक था। सृष्टिवाद और मायावाद वेदान्त के मुख्य विषय बन गये और उन्हीं की निरन्तर मीमांसा होती रही। ब्रह्म अनुभव का विषय

है और तर्क भेदाश्रित है अतः ब्रह्म तर्कमीमांसा का विषय नहीं है, वेदान्त के इस सरल तत्व का विस्मरण कर वेदान्त के आचार्य तर्क द्वारा ब्रह्म के स्वरूप, जगत्कारण, ब्रह्म-माया-सम्बन्ध, ब्रह्म-जीव-सम्बन्ध आदि अनिर्वचनीय विषय का सूक्ष्म निर्वचन करते रहे। वस्तुतः वेदान्त कोई तर्क-सिद्धान्त नहीं है वरन् एक अनुभव दर्शन है। ब्रह्म विश्व का चरम सत्य तथा जीवन का परम साध्य है। वह ब्रह्म पूर्ण रूप से तो अनुभव द्वारा ही अवगम्य है, विचार और तर्क द्वारा उसका सामान्य रूप से लक्ष्य किया जा सकता है। अतः सत्य और परमार्थ रूप से ब्रह्म के स्वरूप का सामान्य निरूपण कर साधना-क्रम की व्याख्या ही वेदान्त का मुख्य विषय होना चाहिये। लेखक की दृष्टि में आचार-दर्शन ही, जो प्रायः उपेक्षित रहा है, वेदान्त का सबसे महत्वपूर्ण अंग है। प्रस्तुत ग्रन्थ में आवश्यक होने के कारण आरम्भ में ब्रह्म के स्वरूप का निरूपण, जीव, जीवन और जगत् का ब्रह्म में स्थान आदि विषयों की मीमांसा कर शेष भाग में वेदान्त के व्यवहारपक्ष का ही प्रतिपादन किया गया है।

लेखक का विश्वास है कि ब्रह्मसूत्र तथा ब्रह्मसूत्रभाष्य के वेदान्त-परम्परा में अधिक महत्वपूर्ण स्थान ग्रहण कर लेने के कारण ही वेदान्त-मत भ्रान्त हुआ। अतएव प्रस्तुत ग्रन्थ में वेदान्त के विविध सिद्धान्तों के निरूपण के लिये उपनिषद् भाष्यों का ही अधिक आश्रय लिया गया है। सम्पूर्ण ग्रन्थ में पाद-टिप्पणियों में दिये गये लगभग पाँच सौ मूल उद्धरणों में से लगभग तीन सौ उपनिषद भाष्यों से लिये गये हैं तथा लगभग सौ ब्रह्मसूत्र भाष्य में से हैं। शेष सौ उद्धरण गीताभाष्य, माण्डूक्यकारिकाभाष्य तथा मूल प्रस्थान त्रयी से लिये गये हैं। वस्तुतः श्री शंकराचार्य के सम्पूर्ण ग्रन्थों के बड़े सतर्क उपयोग द्वारा ही शांकरवेदान्त के वास्तविक स्वरूप का निरूपण सम्भव है। आकार और अर्थ दोनों में गौरवपूर्ण होने के कारण उपनिषद् भाष्यों को प्रधानता देनी होगी। ब्रह्मसूत्र भाष्य, गीताभाष्य तथा माण्डूक्यकारिका भाष्य का उपयोग ब्रह्मसूत्र, गीता और माडूक्यकारिका में प्राप्त सिद्धान्तों से श्री शंकर सम्मत वेदान्त के सिद्धान्तों के भेद को ध्यान में रखते हुये बड़ी सतर्कतापूर्वक करना होगा। भाष्य प्रसंग में प्राप्त आचार्य के स्वतन्त्र-सिद्धान्त वचन ही विस्तृत वेदान्त-महासागर में हमारे ज्योतिर्दीप हैं। उन्हीं की संगति-क्रम से सभी भाष्य-ग्रन्थों का उचित और सतर्क उपयोग कर वेदान्त के

यथार्थ स्वरूप का निरूपण किया जा सकता है। प्रस्तुत ग्रन्थ इसी दिशा में एक प्राथमिक प्रयास है।

इस दृष्टिकोण और धारणा की दृष्टि से प्रस्तुत ग्रन्थ वेदान्त के नवीन अध्ययन की ओर सम्भवतः पहला ही प्रयास है। वेदान्त की परवर्ती परम्परा की भाँति उसके आधुनिक अध्ययन में भी ब्रह्मसूत्रभाष्य और तद्गत सृष्टि-कारणमीमांसा तथा मायावाद को ही अधिक महत्व दिया गया है। डॉ० पॉल डॉयसन रचित वेदान्त का परम प्रामाणिक ग्रन्थ ब्रह्मसूत्रभाष्य का व्यवस्थित संक्षेप मात्र है। अन्य अनेक आधुनिक ग्रन्थों का भी विषय और दृष्टिकोण समान है। यही कारण है कि वेदान्त के प्रति पश्चिमी आलोचकों के आक्षेपों के अभी तक अधूरे और असन्तोषजनक उत्तर ही दिये जा सके हैं। डॉ अर्कहार्ट के महान् आक्षेप ग्रन्थ "सर्वेश्वरवाद और जीवन के मूल्य" ( Pantheism and the Value of Life ) की भाँति, जो वेदान्त की ईसाई आलोचना की पराकाष्ठा अंकित करता है, कोई परिपूर्ण प्रत्युत्तर का प्रयास दिखाई नहीं दिया। सत्य यह है कि ब्रह्मसूत्र और ब्रह्मसूत्रभाष्य के आधार पर प्रचलित वेदान्त परम्परा तथा उसी आधार पर आश्रित अध्ययन में इन आक्षेपों के निराकरण के लिये अधिक अवलम्ब मिलना सम्भव नहीं है। इन आक्षेपों के उत्तर के लिये ही नहीं वरन् वेदान्त के वास्तविक स्वरूप के निरूपण के लिये प्रस्तुत ग्रन्थ में एक नवीन दृष्टिकोण का अवलम्बन किया गया है।

इस दृष्टिकोण की मुख्य मौलिकता इसकी आचार-मूलकता है। प्रचलित परम्परा के अनुसार जीव, जीवन, जगत् और कर्म को मिथ्या मानने के कारण वेदान्त में आचार-दर्शन के लिये कोई स्थान शेष नहीं रह जाता, क्योंकि इनकी सत्यता ही आचार का आधार है। प्रस्तुत मीमांसा का दृष्टिकोण और निष्कर्ष मौलिक होने के साथ साथ वेदान्त की प्रचलित परम्परा से भिन्न भी है। अतः रूढ़िवादी विद्वानों से कदाचित् यह सहानुभूति और सहमति प्राप्त न कर सके। बहुत से वयोवृद्ध और विद्यावृद्ध वेदान्तियों को इस अप्रौढ़ साहस की मौलिकता तथा अनर्गलता पर क्षोभ होगा। जीव और जगत् की सत्यता की स्थापना तथा मोक्ष से आचार-कर्म की संगति सिद्ध करने की चेष्टा परम्परागत वेदान्त के अनुसार वेदान्त को भ्रष्ट करना है। फिर भी मेरा अनुरोध है कि यह पश्चिमी आलोचना से विचलित वेदान्त के एक उत्साही युवक का अविचारित दुःसाहस नहीं है;

वरन वेदान्त के एक विनम्र विद्यार्थी का अध्ययन और विचार पर आश्रित मत है। इसमें कहीं भी आचार्य के वचनों में अपने विचारों का रूप देखने की चेष्टा नहीं की गई है। प्रत्येक महत्वपूर्ण प्रसंग में आचार्य के निर्देश का अनुसरण किया गया है। इस नवीन और विचित्र मत के आधार-भूत प्रत्येक सिद्धान्त और निष्कर्ष के समर्थन के लिये पद पद पर आचार्य के वचनों के मूल उद्धरण दिये गये हैं। मेरा विश्वास है कि इसका विचार कर माननीय विद्वान् मेरे इस प्रयास को दया की दृष्टि से देखेंगे और वन्दनीय वेदान्ती इसे विनम्र मत-भेद मानकर क्षम्य समझेंगे। यह कहना अनावश्यक है कि इस ग्रन्थ का अध्ययन अपूर्ण है। अपूर्णता के कारण सन्देह के स्थल शेष रह जाना स्वाभाविक है। कुछ और अध्ययन तथा विचार के बाद विषय को अधिक स्पष्ट और मान्य बना सकना सम्भव है। आशा है भविष्य में यह सम्भावना कभी सत्य हो सकेगी। विशेष रूप से सन्दिग्ध तथा अधिक स्पष्टीकरण और विवेचन की अपेक्षा रखने वाले स्थलों का संकेत कर वेदान्त के प्रेमी और विद्वान् मुझे अनुगृहीत करेंगे। यह आधुनिक भावना-हीन सभ्यता का अंगभूत शाब्दिक शिष्टाचार नहीं, वरन् पूर्वजों के चिन्तन की अमर विभूति वेदान्त के एक वास्तविक जिज्ञासु का विनम्र और आन्तरिक निवेदन है।

इस अध्ययन के प्रारम्भ, प्रगति और पूर्ति में मेरी आत्मा के अनेक अभिभावकों तथा जीवन के अनेक सुहृदों और बन्धुओं का सहयोग रहा है। विगत युद्ध के संकट काल में कितनी प्रेरणाओं, कितने प्रोत्साहनों और कितने अवलम्बों के आधार पर यह छोटा सा प्रयास पूर्ण होसका है उन सबका उल्लेख न सम्भव है और न आवश्यक। स्वर्गीय महामहोपाध्याय डॉ० पंडित गंगानाथ झा की अमर आत्मा तत्वालोक के दिव्य ध्रुव की भाँति दर्शन के इस दुर्गम अरण्य में मेरा निरन्तर पथ-प्रदर्शन करती रही है। वस्तुतः यह ग्रन्थ उनकी ही अदृष्ट अनुकम्पा का दृष्ट फल है। अपने परम पूज्य गुरुपाद श्रीमदाचार्य श्री भूपेन्द्रपति त्रिपाठी की अपार अनुकम्पा मुझे एक अयाचित किन्तु अक्षय वरदान रूप में प्राप्त हुई है। उनके स्नेह से संवर्द्धित ज्ञान-प्रदीप से ही मैं दर्शन के इस गहन कान्तार में अपना पथ खोज सका हूँ। पूज्यपाद श्रीयुत पंडित क्षेत्रेशचन्द्र चट्टोपाध्याय के अन्तेवास में मेरी आत्मा को एक अभीप्सित अभिभावन मिल गया था। उनके उदात्त-गम्भीर व्यक्तित्व के सम्पर्क से, उनके सरल स्वभाव के संकेतों से

तथा उनके सहज स्नेहमय आदेशों से मेरी आत्मा का कितना संस्कार हुआ है, मेरे विचार का कितना परिष्कार हुआ है तथा मेरे प्रयास को कितना प्रेरणा मिली है वह मेरे लिये अननुमेय है। प्रयाग विश्वविद्यालय के तत्कालीन अध्यक्ष श्रीयुत प्रोफेसर रामचन्द्र दत्तात्रेय रानडे का महिमामय और तेजस्वी व्यक्तित्व उनके सभी विद्यार्थियों के लिये एक अपूर्व प्रेरणा रहा है। अनेक कठिनाइयों में मेरे ऊपर उनकी जो विशेष कृपा रही है उसके लिये मैं उनका अत्यन्त कृतज्ञ हूँ। उनके पथ-प्रदर्शन, प्रोत्साहन और प्रेरणा से मेरी दार्शनिक आकांक्षाओं को सदा पोषण मिला है। प्रयाग विश्वविद्यालय के वर्तमान अध्यक्ष प्रोफेसर श्रीयुत अनुकूलचन्द्र मुकर्जी तथा वर्तमान रीडर श्रीयुत रामनाथ कौल का जो स्नेह और सहानुभूति मेरे साथ रहा है उससे मुझे सदा बल मिला है प्रोफेसर मुकर्जी का उदार और गम्भीर व्यक्तित्व तथा श्रीयुत कौल का सरल और संस्कृत व्यवहार उनके विद्यार्थियों के लिये एक अनुकरणीय आदर्श रहा है। सुहृद्वर श्रीयुत पंडित प्रकाशचन्द्र चतुर्वेदी विक्षुब्ध जीवन-सागर में मेरे प्रकाश स्तम्भ रहे है। उनके निर्भीक विचार, सहृदय गुण ग्राहकता और प्रबल व्यक्तित्व से मेरे क्षीयमाण चिन्तन और जीवन का कायाकल्प हुआ है। जीवन के उस संकटमय संक्रान्तिकाल में जीवन-रक्षण के साथ साथ दार्शनिक चिन्तन, अध्ययन और लेखन सम्भव बनाने का श्रेय उनकी भौतिक, नैतिक और बौद्धिक सहायता को ही है। यह ग्रन्थ तो एक प्रकार से उनकी ही आकांक्षा की पूर्ति है; इसके उपरान्त भी यदि मैं कोई मूल्यवान् दार्शनिक कार्य कर सकूँगा तो उसका मौलिक श्रेय उन्हीं को होगा। इसके अतिरिक्त मैं श्रीमान् राणा पराक्रम जंगबहादुर और श्रीमती रानी हेमन्त कुमारी देवी की अपार कृपाओं का चिर आभारी हूँ। उनके भागीरथी-कूलस्थ प्रासाद की दिव्य शान्ति और अखण्ड एकान्तता में तीनवर्ष तक जो सुविधापूर्ण अध्ययन सम्भव हो सका वही इस ग्रन्थ का आधार है। अन्त में श्रीमान् राणा तेजराज जंगबहादुर और श्रीमती रानी लोककुमारी देवी के जिस उदार और कृपापूर्ण संरक्षण में यह कार्य पूर्ण हो सका वह चिर-स्मरणीय है। मेरे बालबन्धु श्री शिवसेवक शर्मा, एम० ए० के देहरादून निवास के सुपास में एक ही ग्रीष्मावकाश में जिस सुविधा और सरलता से ग्रन्थ के हिन्दी रूपान्तर का दुष्कर कार्य सम्पन्न हो सका उसका श्रेय प्रियवर शिव और उनकी सौभाग्यशीला पत्नी श्रीमती पद्मारानी को है। इसके लिये मुझे उनके प्रति आभार-प्रदर्शन नहीं करना

है क्योंकि यह हमारे सम्बन्ध का सहजाधिकार है। सुहृद्वर साहित्याचार्य श्रीयुत पंडित प्रभात मिश्र शास्त्री ने मेरे अन्य अनेक कार्यों की भाँति इस ग्रन्थ के लेखन और प्रकाशन के प्रसंग में जो श्रम उठाया है वह उनके सौहार्द का स्वभावाधिकार है। बन्धुवर श्रीयुत पंडित अभयराज छगाणी ने जिस श्रम और तत्परता से मेरे दुर्बोध लेख के आधार पर प्रेस के लिये स्वच्छ पाण्डुलिपि तैयार की उसके लिये मैं उनका आभारी हूँ। राजस्थान विश्वविद्यालय की प्रकाशन समिति ने इस ग्रन्थ के प्रकाशन के लिये जो १०००) की आर्थिक सहायता दी है उसके लिये मैं उक्त विश्वविद्यालय और उसके अधिकारियों का अत्यन्त कृतज्ञ हूँ। इस आर्थिक सहायता का सदुपयोग कर पुस्तक के शीघ्र और सुरुचि-पूर्ण प्रकाशन के लिये हिन्दी-साहित्य सम्मेलन के अधिकारियों विशेषकर सम्मेलन मुद्रणालय के मुद्रक श्रीयुत पंडित रामप्रताप शास्त्री को हार्दिक धन्यवाद देना भी मेरा कर्तव्य है।

रामानन्द तिवारी शास्त्री

# अध्याय-सूची

# विषय-सूची

## चौथा अध्याय

### श्री शङ्कराचार्य का आचार दर्शन

(६६—९२)



## पाचवाँ अध्याय

### साध्य और साधन

(९३—११४)

## छठा अध्याय

### वेदान्त का व्यावहारिक आचार-दर्शन
### अर्थात्
### मोक्ष प्राप्ति के साधन

(११५—१६०)



## सातवाँ अध्याय

### मोक्ष और जीवन के मूल्य

(१६१—१८६)



## आठवाँ अध्याय

### उपसंहार : वेदान्त का सन्देश

(१६०—१६७)

# पहला अध्याय

## विषय-प्रवेश

दर्शन जीवन और जगत् के चरम सत्य की खोज है। इसका मूल मनुष्य की प्रकृति में है और इसकी प्रेरणा विश्व के रहस्य में। मानव-जाति का शैशव ही इसका आरम्भ है और मानव-जाति का इतिहास इसकी प्रगति का पथ। मानव के इतिहास का आरम्भ जगत् के विभिन्न प्रदेशों में हुआ, अतः दर्शन की विकास-गति भी विविध रही है। मानवीय अनुभव और ज्ञान की अभिव्यक्ति विभिन्न जातियों की प्रतिभा के अनुकूल विविध रूपों में हुई है। भारतीय दर्शन का आरम्भ मानवीय सभ्यता के आदि काल में प्राचीन आर्यावर्त्त में हुआ। प्रकृति के इस आवास में प्रकृति-काव्य के रूप में दर्शन का आरम्भ होना स्वाभाविक था। एक हजार वर्ष तक हमारे देश का वायु-मण्डल एक जागरण-शील जाति के आनन्द-संगीत से प्रतिगुञ्जित होता रहा किन्तु जब प्रकृति-काव्य पर्याप्त हो चुका तो जीवन-दर्शन शनैः शनैः उसका स्थान ग्रहण करने लगा। चिन्तन का युग आरम्भ हो गया। ऋग्वेद के संगीतमय उद्‌गारों का अन्त उपनिषदों के चिन्तनमय विचारों में हुआ। वेद का पर्यवसान वेदान्त में हुआ।

यद्यपि वेदान्त का मूल अभिप्राय उपनिषदों से ही है, फिर भी उपनिषदों के आधार पर विकसित सम्पूर्ण धार्मिक और दार्शनिक परम्परा वेदान्त के ही नाम से विख्यात है। यदि हम उपनिषदों और उनके आधार पर विकसित सम्पूर्ण विचार-परम्परा को वेदांत मानें तो वेदांत के विकास के तीन प्रस्थान हैं। वेदांत-सम्प्रदाय में ये प्रस्थान-त्रय के नाम से प्रसिद्ध हैं। उपनिषद् श्रुति-प्रस्थान कहलाती हैं क्योंकि इनमें सत्य के वे साक्षात् अनुभव सन्निहित हैं जो हमारे पुण्यदेश के प्राचीन ऋषियों को मानवीय चिन्तन के प्रभात में प्राप्त हुए थे। भगवद्-गीता स्मृति-प्रस्थान कहलाती है क्योंकि उसमें सत्य की मूल-परम्परा के संस्मरण संग्रहीत हैं। वेदांत-सूत्र तर्क-प्रस्थान कहलाते हैं क्योंकि वे वेदांत के विकास में तर्क-पद्धति के प्रतीक हैं। इन तीनों प्रस्थानों के क्रम में एक न्याय-संगति है। लौकिक जगत् के बाह्य रूपों में अन्तर्निहित एक

परोक्ष-लोक की सत्ता की चेतना ऋग्वेद की काव्यात्मा में सर्वत्र व्याप्त है। सत्य के उन साक्षात् अनुभवों के संग्रह-रूप उपनिषदों में उस चेतना का पर्यवसान होना अनिवार्य था। उपनिषद् वेदों के अंतिम भाग हैं तथा उनमें भारतीय चिन्तन का पर्यवसान है। उपनिषदों में भारतीय चिन्तन अपनी पराकाष्ठा को पहुँच गया सा जान पड़ता है। किंतु आध्यात्मिक अनुभव की वे कोटियाँ जो एकांत आश्रमों की निर्द्वन्द्व शांति में रहने वाले प्राचीन ऋषियों के लिये संभव थीं, जीवन के कोलाहल और जगत् के उपद्रवों में रहनेवाले साधारण जनों के लिये गम्य नहीं थी। उनके लिये एक ऐसी वस्तु की आवश्यकता थी जिसमें सत्य का स्वरूप अक्षुण्ण रहने पर भी वह सुगम हो। भगवद्-गीता उपनिषदों का ऐसा ही लोकानुकूल संस्करण है। उसमें सत्य की सरलता और जीवन की सरसता है, अतः उसका हमारे देशवासियों पर सबसे अधिक प्रभाव रहा है। प्रत्येक गृह गीता-मन्दिर है, और प्रत्येक आत्मा उसके सत्याऽऽलोक से प्रकाशित है। सरल और श्रद्धालु जनों के लिये तो वह सत्य का अंतिम शब्द है।

किन्तु विवेचनात्मक बुद्धि वालों के लिये यह यथेष्ट नहीं था। यद्यपि उपनिषदों में सत्य के पूर्ण अनुभव निहित हैं किन्तु उनका रूप व्यवस्थित नहीं है, यदि रूप की व्यवस्था का तात्पर्य विचार की तार्किक संगति से है। वे आधुनिक अर्थ में दर्शन के ग्रंथ नहीं हैं। वे प्राचीन ऋषियों को तीव्र अनुभव के क्षणों में प्राप्त सत्य-साक्षात्कार के सहजोद्गार हैं। किसी व्यक्ति-विशेष द्वारा प्रतिपादित दर्शन-पद्धति की अपेक्षा उन्हें सत्य की संस्थायें कहना अधिक उपयुक्त होगा। उनमें सन्निहित अनुभवों की अपरोक्षता तथा प्रयोजन की व्यावहारिकता के कारण वे अधिक सजीव तथा इसी कारण बाह्य रूप में कम व्यवस्थित हैं। उनके रचयिताओं की अनेकता और निर्माण काल की विभिन्नता के कारण विचार-संगति एक प्रकार से असंभव-सी है। किन्तु उनकी प्रेरणा का मूल एक आध्यात्मिक क्रांति के युग की सामान्य चेतना में है, अतः विशेष रूपों में अनेक भेद होते हुए भी उनमें भावना और प्रयोजन की समानता है। उपनिषदों के बाद वेदांत परम्परा का विस्तार करने वालों ने उनके प्रयोजन की इस एकता के विषय में कभी संदेह नहीं किया। किन्तु यह दार्शनिक दृष्टिकोण और आध्यात्मिक प्रयोजन की सामान्य एकता मात्र है। विशेष सिद्धांतों में इतना मतभेद है कि उनका सामंजस्य कठिन है। किन्तु वेदांत के प्राचीन प्रचारकों की दृष्टि में श्रुति का एक शब्द

भी उपेक्षणीय नहीं हो सकता, और श्रुति के विषय में असंगति भी अकल्पनीय है। अतः वेदांत के प्रतिपादिकों के लिये उपनिषद्-वेदांत को तर्क-संगत रूप देना एक पवित्र कर्तव्य हो गया। बौद्ध और जैन तथा सांख्य-योग, न्याय-वैशेषिक, मीमांसा आदि प्रतिपक्षी दर्शनों के बढ़ते हुए विरोध के कारण यह कर्तव्य और भी प्रबल हो गया। अनेक सूत्रकारों ने उपनिषद्-वेदांत को व्यवस्थित रूप देने की चेष्टा की। यद्यपि उपनिषदों से सिद्धांत के विषय में विविध सूत्रकारों में मतभेद था ( जैसा कि ब्रह्म-सूत्रों में बादरायण की विविध सूत्रकारों के मतों की चर्चा से स्पष्ट है ), किन्तु उनमें किसी को उपनिषदों की तत्वगत एकता में संदेह नहीं था; और प्रत्येक ने अपने दृष्टिकोण से उपनिषद् वेदांत को एक व्यवस्थित दर्शन का रूप देने की चेष्टा की। कदाचित् वेदांत के तत्व और परम्परा के सफलतम प्रतीक होने के कारण बादरायण के ब्रह्मसूत्र ही सुरक्षित रह सके तथा इसी कारण उनकी इतनी प्रतिष्ठा और ख्याति है।

किन्तु बादरायण के ब्रह्म-सूत्र विषय में पर्याप्त होते हुए भी अर्थ में इतने कूट हैं कि स्वतन्त्र रूप से उनका तात्पर्य समझना दुष्कर है। अतः ब्रह्म-सूत्रों के व्याख्यान के रूप में वेदांत की परम्परा जारी रही। संक्षिप्त सूत्रों का अनेक विशाल भाष्यों के रूप में विस्तार हुआ। जिस प्रकार उपनिषदों के सिद्धांत के विषय में सूत्रकारों में मतभेद रहा, उसी प्रकार ब्रह्म-सूत्रों के तात्पर्य के विषय में भाष्यकारों में मतभेद रहा; तथा जिस प्रकार बादरायण के ब्रह्मसूत्र उपनिषद् वेदांत के सफल-तम समन्वय के रूप में अवशिष्ट रहे उसी प्रकार श्री शंकराचार्य का शारीरक-भाष्य ब्रह्मसूत्र की सबसे अधिक प्रामाणिक व्याख्या के रूप में सुरक्षित रहा। हाल में कुछ आधुनिक समालोचकों ने इस विषय में कुछ संदेह उपस्थित किया है। डा० थीबो (Dr. Thibeaut) श्री रामानुज के भाष्य को सूत्र के शब्द और भाव के अधिक निकट मानते हैं, यद्यपि वे यह स्वीकार करते हैं कि श्री शंकराचार्य का भाष्य उपनिषदों की भावना के अधिक समीप है। इस निर्णय का स्पष्ट निष्कर्ष यही निकलता है कि श्री शंकराचार्य ने उपनिषदों के तात्पर्य को सूत्रकार की अपेक्षा अधिक अच्छी तरह समझा। यह निष्कर्ष परम्परा के विरुद्ध है जो सूत्रों को उपनिषदों का व्यवस्थित समन्वय मात्र मानती है। आखिर यह परम्परा सत्य के आधार पर ही चली होगी। श्री शंकराचार्य ने उस परम्परा के सत्य पर विश्वास किया। वे सूत्रों को वेदांत-वाक्य-कुसुमों के गुम्फन के लिये सूत्र-मात्र मानते

हैं।[1] वे केवल उपनिषदों को ही मूल वेदांत मानते हैं और उन्होंने सूत्रों का भाष्य इसी विश्वास के आधार पर किया है कि वे उपनिषद्-वेदांत के प्रतिनिधि हैं। अस्तु, यह स्वाभाविक और अनिवार्य है कि उनकी व्याख्या उपनिषदों की भावना के अनुकूल हो। संदेह के क्षणों में हम श्री शंकराचार्य पर सूत्रकार के शब्दों के साथ खींचातानी करने का दोषारोपण भले ही करें, किन्तु समस्त भ्रांति का वास्तविक और मूल उत्तरदायित्व सूत्रकार पर ही है।

इसके अतिरिक्त ब्रह्मसूत्रों के व्याख्यान का प्रश्न, जैसा कि डा० थीबो ( Dr. Thibeaut ) ने अपने श्री भाष्य के अनुवाद की भूमिका में कहा है, 'दार्शनिक की अपेक्षा आलोचनात्मक महत्व का अधिक है'। वास्तविक महत्व की बात यह नहीं है कि ब्रह्म-सूत्रों का यथार्थ व्याख्याकार कौन है, वरन् यह कि मूल वेदान्त का वास्तविक प्रतिनिधि कौन है। इस प्रसंग मे श्री शंकराचार्य की श्रेष्ठता सर्वमान्य है। प्राचीन वेदान्त के वे सबसे बड़े प्रतिनिधि माने जाते हैं। श्री रामानुज ने ब्रह्मसूत्रों को स्वतन्त्र मान कर उनकी व्याख्या की है। जो श्री रामानुज के भाष्य को सूत्रकार के अधिक निकट मानते हैं वे भी यह स्वीकार करते हैं कि उनकी व्याख्या के लिये उपनिषदों में बहुत कम आधार है। श्री शंकराचार्य ने प्राचीन उपनिषदों का भाष्य किया है और अपने भाष्यों में प्रायः प्राचीन उपनिषदों से ही उद्धरण भी दिये हैं। इसके विपरीत श्री रामानुज ने अपने भाष्य में प्रायः अर्वाचीन उपनिषदों और पुराण, महाभारत आदि से अधिक उद्धरण दिये हैं। श्री शंकराचार्य की अपेक्षा कहीं अधिक काल तक जीवित रहने पर भी उन्होंने उपनिषदों पर भाष्य नहीं किया। इससे मूल वेदान्त के साथ उनका सम्बन्ध स्पष्ट हो जाता है। ब्रह्मसूत्रों के व्याख्याकार की दृष्टि से श्री रामानुज का जितना भी महत्व हो तथा स्वतन्त्र रूप से उनके दर्शन-सिद्धान्त का जितना भी मूल्य हो, किन्तु उपनिषदों पर अंशतः आश्रित होते हुए भी उनका सिद्धान्त मूल वेदान्त का प्रतिनिधि नहीं है, तथा ब्रह्मसूत्रों के भाष्यकार की दृष्टि से श्री शंकराचार्य के प्रति हमारा कितना भी सन्देह हो किन्तु वे निस्सन्देह प्राचीन वेदान्त के श्रेष्ठतम प्रतिनिधि हैं। श्री शंकराचार्य ने वेदान्त-सिद्धान्त का इतना परिपूर्ण प्रतिपादन किया है कि उनके बाद वेदान्त शांकर-दर्शन के साथ समानार्थक-सा हो गया। वेदान्त के व्योम-मंडल में वे ध्रुव की भाँति अपनी आत्मा के चिरन्तन आलोक से हमारे सत्य-पथ का प्रदर्शन करते हैं।

---

१ वेदांत-वाक्य-कुसुम-ग्रथनार्थत्वात् सूत्राणाम्। ब्र० सू० भा० १-१-२।

भाष्यकार की दृष्टि से श्री शंकराचार्य का स्थान भारतीय चिन्तन के इतिहास में अद्वितीय है। उनकी व्याख्यान और प्रतिपादन की प्रतिभा की कहीं भी तुलना नहीं मिल सकती। उनके भाष्य केवल एक दर्शन-सिद्धान्त के पूर्ण प्रतिपादक ही नहीं वरन् साहित्य की अनमोल निधि हैं। जितने वे अपने विचारों के महत्व के लिये मूल्यवान् हैं उतने ही अपनी शैली के लिये सराहनीय हैं। किन्तु श्री शंकराचार्य केवल एक भाष्यकार ही नहीं थे, वे हमारे देश के सबसे अधिक प्रतिभावान् दार्शनिक थे। किन्तु वे आधुनिक अर्थ में दार्शनिक नहीं थे। भारत में दर्शन बौद्धिक विलास नहीं था, वरन् वह जीवन का एक आध्यात्मिक उद्योग था। वह जीवन और जगत् के चरम सत्य की खोज था। श्री शंकराचार्य का दर्शन असंख्य वर्तमान बौद्धिक सिद्धान्तों की संख्या को बढ़ाने वाला एक सिद्धान्त नहीं है, वरन् वह अनुभव के एक सरल और चरम सत्य का प्रांजल निर्वचन है। सत्य का साक्षात्कार करने वालों में श्री शंकराचार्य प्रथम नहीं थे; किन्तु उस सत्य को लोकग्राह्य बनाने वालों में वे श्रेष्ठतम थे। एक प्राचीन परम्परा के आधार पर उन्होंने एक पूर्ण दर्शन का निर्माण किया। प्रो० दासगुप्त का यह कथन सत्य हो सकता है कि बहुत सी समस्याओं का जिन्हें श्री शंकराचार्य ने अछूता छोड़ दिया था उनके अनुयायियों ने ही पूर्ण विवेचन किया है।[२] किन्तु इस कथन से प्रो० राधाकृष्णन् के इस मत का उद्देश्य नष्ट नहीं होता कि श्री शंकराचार्य का दर्शन अपने में पूर्ण तथा पूर्वापर-निरपेक्ष है, और एक कला-कृति की स्वतः सिद्ध पूर्णता रखता है।[3]

किन्तु श्री शंकराचार्य केवल एक दार्शनिक भी नहीं थे। वे जीवन और जगत् के द्रष्टा मात्र नहीं थे, किन्तु दोनों के उद्धारक थे। वे सत्य के अवतार थे।[४] वे सत्य के प्रतिपादक ही नहीं वरन् उसके प्रचारक भी थे। उन्होंने केवल एक दर्शन का प्रतिपादन मात्र नहीं किया, वरन् वे मानव जाति के लिये सन्देश लेकर आये थे, इसीलिये वे जगद्गुरु कहलाये। वे सत्य के बौद्धिक प्रतिपादन मात्र से संतुष्ट न थे, वरन् प्रत्येक मनुष्य को उससे अवगत

---

2- History of Indian Philosophy Vol. I. P. 437-

3- Indian Philosophy Vol. II P- 446.

4- Radha krishnan : Indian Philosophy vol. II. P-448.

कराना उन्होंने अपने जीवन का आध्यात्मिक ध्येय बना लिया था। उनका जीवन एकान्त चिन्तन मात्र का जीवन नहीं था, वरन् एक आध्यात्मिक ध्येय के लिये आत्म समर्पण था। उन्होंने प्राचीन श्रुतियों पर प्रामाणिक भाष्य ही नहीं लिखे वरन् अपने कार्य में सहायता देने के लिये शिष्य भी बनाये और सत्य की परम्परा को प्रचलित रखने के लिये देश के चारों कोनों पर पीठ स्थापित किये। उन्होंने कन्या-कुमारी से काश्मीर तक और पुरी से द्वारका तक की यात्रा की तथा जनता को सत्य का उपदेश दिया। यात्रा के प्रसंग में उनकी विभिन्न सम्प्रदायों के आचार्यों से भेंट हुई। उनके साथ उन्होंने शास्त्रार्थ किया; उनको परास्त कर कुछ को अपने सम्प्रदाय में दीक्षित कर अपना शिष्य बना लिया। किन्तु इस सब में उनका उद्देश्य पर-मत-खण्डन नहीं, वरन् आध्यात्मिक-तत्व-निदर्शन रहा। न्याय उनके लिये एक दार्शनिक क्रीड़ा नहीं था जैसा कि उनके अनुयायियों के लिये था। इन शास्त्रार्थों में उनका उद्देश्य तार्किक चमत्कारों का प्रदर्शन नहीं, वरन् सत्य का निदर्शन था। ब्रह्मसूत्रों के तर्कपाद की भूमिका में जहाँ उन्होंने विभिन्न मतों का तर्कानुसार खण्डन किया है उन्होंने यह स्पष्ट कर दिया है कि वेदान्त का उद्देश्य सत्य का निदर्शन मात्र है, केवल तर्क के आधार पर किसी मत का खण्डन या मण्डन नहीं है।[५] वे इस शंका से अनभिज्ञ न थे कि सत्य के साधकों के लिये मोक्ष के साधन रूप से सत्य-ज्ञान का निदर्शन मात्र पर्याप्त है, अन्य मतों के साथ द्वेष तथा उनका खंडन उन्हें शोभा नहीं देता।[६] वे इस बात को स्वीकार करते हैं कि वेदान्त का किसी मत से विरोध नहीं है, क्योंकि उसका उद्देश्य केवल एक अनुभव के सर्वमान्य सरल-तम सत्य का निदर्शन मात्र है।[७] किन्तु फिर भी ऐसे कई मत हैं जिनका बड़ी गम्भीरता से प्रतिपादन

---

५. यद्यपीदं वेदान्तवाक्यानामैदम्पर्यं निरूपयितुं शास्त्रं प्रवृत्तं न तर्कशास्त्रवत् केवलाभिर्युक्तिभिः कञ्चित्सिद्धान्तं साधयितुं दूषयितुं वा प्रवृत्तम्। ब्र० सू० भा० २-२-१

६. मुमुक्षूणां मोक्षसाधनत्वेन सम्यग्दर्शननिरूपणाय स्वपक्षस्थापनमेव केवलं कर्तुं युक्तं किं परपक्षनिराकरणेन परविद्वेषकरणेन। ब्र० सू० भा० २-२-१

७. तैरन्योन्यविरोधिभिरस्मदीयोऽयं वैदिकः सर्वाऽनन्यत्वादात्मैकत्वदर्शनपक्षो न विरुध्यते। मां० का० भा० ३-१७

किया गया है और महाजनों ने जिन्हें ग्रहण किया है; सरल जन उनके प्रभविष्णु रूप से भ्रान्त हो सकते हैं। [८] अतः सत्य के तथा मानवता के सत्याधिकार के हित के लिये उनका खंडन आवश्यक है। यदि वे मत न्याय संगत नहीं हैं और जीवन तथा अनुभव की व्याख्या नहीं कर सकते, तो वे सत्य के प्रतिनिधि नहीं है, अतः खण्डनीय हैं। सत्य का निदर्शन आवश्यक है पर साथ ही असत्य का खंडन भी अनिवार्य है। दार्शनिक के कर्तव्य के इस उत्तर भाग के महत्व की उपेक्षा उनके लिये सम्भव नहीं थी जिनके मतानुसार अज्ञान का निवारण सत्य-ज्ञान का एक प्रतियोगी अंग है।

किन्तु सत्य के एक सत्य साधक की भाँति श्री शंकराचार्य ने अपने मत का प्रतिपादन एक दार्शनिक भावना के साथ किया। उन्होंने अन्य मतावलम्बियों को विधर्मी की दृष्टि से नहीं देखा और न उनके बलात् धर्मपरिवर्त्तन अथवा संहार को उचित समझा। अन्य धर्म के संस्थापकों को उन्होंने बड़े सम्मान के साथ सम्बोधित किया है। भिन्न दर्शनों के मानने वालों के साथ उन्होने आदर का व्यवहार किया। समानता का पद देकर उनके साथ शास्त्रार्थ किया तथा उनके दर्शनों में जो कुछ सत्य था उसकी उपेक्षा नहीं की। सत्यानुरूप भाव से ही उन्होंने सत्य का निदर्शन किया। धर्म-परिवर्तन उनका मत नहीं था वरन् उनके सत्य मार्ग का स्वाभाविक परिणाम था। वह बलपूर्वक नहीं वरन् विश्वास पूर्वक परिवर्तन था। मण्डन मिश्र का उदाहरण इस प्रसंग में सब से अधिक स्मरणीय है। श्री शंकराचार्य के सन्देश का प्रचार तलवार की धार पर नहीं, वरन् सत्य की भावना से हुआ है। उन्होंने मनुष्य तक अपना सन्देश पहुँचाने के लिये अमानुषिक साधनों का आश्रय नहीं लिया, वरन् अत्यन्त माननीय और उदात्त मार्ग का अनुसरण किया। नीति और धर्म के नाम पर उन्होंने शान्ति-प्रिय मनुष्यों पर अनैतिक तथा अधर्मपूर्ण अत्याचार नहीं किये, वरन् अत्यन्त धर्म और सत्यपूर्ण प्रणाली से मनुष्यों को सत्य और शान्ति का सन्देश दिया। उन्होंने असत्य को सत्य का साधन बनाकर उसे मिथ्या नहीं बनाया वरन् अपनी ही महिमा में उसकी प्रतिष्ठा की। उन्होंने सत्य का प्रहार कर मनुष्य के हृदय को विक्षत नहीं किया,

---

८. तथापि महाजनपरिगृहीतानि महान्ति सांख्यादितन्त्राणि सम्यग्दर्शनाऽपदेशेन प्रवृत्तान्युपलभ्य भवेत् केषाञ्चिन्मन्दमतीनामेतान्यपि सम्यग्दर्शनोपदेशानीत्यपेक्षा। ब्र० सू० भा० २ २-१

वरन् केवल सत्य का निदर्शन कर मानव जाति को बल और प्रकाश दिया। उन्होंने सत्य का उपदेश मात्र नहीं वरन् पालन किया। वेदान्त का पथ निर्दोष तथा शान्ति प्रिय जनों के रक्त से रंजित नहीं, वरन् सत्य के प्रकाश से उज्ज्वल है। वेदान्त ही संसार का अकेला धर्म है जिसने सदा सत्य के प्रचार में सन्मार्ग का अवलम्बन किया है। उसके सत्य की शिखा से असत्य का धूम नहीं निकलता। ब्रह्म का दूत शैतान का सिपाही नहीं था। धर्म के आकाश मण्डल में श्री शंकराचार्य अपनी भस्मकारी शिखा से विस्मित विश्व की दृष्टि को अन्ध करते हुए धूमकेतु तथा शान्ति प्रिय मानवता के विनाश के अग्रदूत की भाँति प्रकट नहीं हुए, वरन् सत्य-प्रिय जगत् को शांति और श्रेय का आश्वासन देने वाले प्रशान्त-पुनीत सूर्य की भाँति उदय हुए। वे सत्य के प्रचारक ही नहीं थे वरन् सत्यता-पूर्वक सत्य का पालन, दार्शनिक भाव से दर्शन का प्रतिपादन, धार्मिक रूप से धर्म संस्थापन, शान्त-विधि से मत-प्रचारण, मानवीय भावना से मनुष्यों को संदेश-प्रदान, करने वालों में श्री शंकराचार्य बुद्ध और ईसा की श्रेणी में हैं।

किन्तु हमारे देश के सर्वश्रेष्ठ धर्म के इस महान् संस्थापक के विषय में यह सामान्य धारणा है कि जिस दर्शन-सिद्धान्त का उन्होंने प्रतिपादन किया है वह उनके जीवन के सिद्धान्त और प्रयोजन के नितान्त विरुद्ध है। उनका जीवन सत्य के प्रचार के लिये आत्म-समर्पण का जीवन था और उस कार्य को उन्होंने बड़ी सद्भावना और सचेष्टता के साथ सम्पादित किया। किन्तु जिस दर्शन का उन्होंने प्रतिपादन किया उसके विषय में विश्वास किया जाता है कि वह हमें निष्क्रियता और निरपेक्षता के आदर्श की ओर ले जाता है। उनके धर्म का सिद्धान्त लोक का निःश्रेयस था तथा उनकी साधना का उद्देश्य जगत् का उद्धार था; किन्तु उनके दर्शन के अनुसार लोक और जगत् दोनों ही मिथ्या हैं। मानव-जाति चिरन्तनता के महासागर पर एक बुद्बुद्-श्रेणी के समान है, तथा जगत् मृग-जल की भाँति मिथ्या है। लोक की तुच्छता का विश्वास ही निःश्रेयस है और जगत् की असत्यता का ज्ञान ही उसका उद्धार है। श्री शंकराचार्य के जीवन और दर्शन का यह पारस्परिक विरोध एक सिद्धान्त का रूप ग्रहण करता हुआ जान पड़ता है जब हम यह सोचते हैं कि श्रीशंकराचार्य ने अपने धर्म को भविष्य के लिये एक चिरन्तन परम्परा का रूप देने के लिये देश के चारों कोनों पर पीठों की स्थापना की। जो सामान्य रूप से उनका

दर्शन कहा जाता है उसके आधार पर तो उनका समस्त जीवन एक आत्म-व्याघात तथा दम्भ से पूर्ण जान पड़ता है । जहाँ दर्शन केवल बौद्धिक चिन्तन मात्र है वहाँ उसका जीवन से विरोध यदि मान्य नहीं तो अवगम्य अवश्य है। किन्तु जहाँ दर्शन जीवन की साधना है वहाँ यह अवगम्य भी नहीं। केवल बौद्धिक विचारक भी उन असामंजस्यों से अनभिज्ञ नहीं थे जो उनके विचार से उत्पन्न होते थे । अपने विचारों से उत्पन्न होने वाले भयंकर परिणामों से ह्यूम (Hume) स्वयं हैरान था । बार्कले (Berkeley) और कान्ट (Kant) जैसे महान् दार्शनिकों ने भी अपने सिद्धान्तों से समझौता किया है; इससे जीवन के साथ दर्शन की एकता का सत्य प्रमाणित होता है। श्रीशंकराचार्य के समान महान् दार्शनिक इतनी दृढ़ता के साथ एक ऐसे दर्शन का प्रतिपादन कर सकता है जो उनके जीवन और साधना के सिद्धान्त तथा प्रयोजन के नितान्त विरुद्ध हो, यह मान्य नहीं । जब हम यह विचार करते हैं कि वह साधना उस दर्शन से प्रेरित ही नहीं वरन् उसीके प्रचार के लिये थी तो यह मत और भी अधिक अमान्य हो जाता है । यह एक आश्चर्य की बात है कि निष्क्रियता और निरपेक्षता का दर्शन लोक-सेवा के लिये इतने सक्रिय जीवन के लिये प्रेरणा कैसे दे सका ; लोक की तुच्छता और जगत् के मिथ्यात्व का दर्शन लोक के मोक्ष और जगत् के उद्धार की साधना का आधार कैसे बन सका; विनाश को जीवन का पर्यवसान मानने वाला एक जाति का उद्धर्ता कैसे माना जाता रहा । या तो वह दर्शन जो उनका कहा जाता है उनके वास्तविक दर्शन का विकृत रूप है, या श्री शंकराचार्य दम्भ और छल की प्रतिमूर्ति थे। दोनों ही निर्णय बड़े भयानक प्रतीत होते हैं। यह मानना कठिन है कि प्रतिपक्षी समालोचक तथा निष्पक्ष विद्वान् ही नहीं उनके अनुयायी भी एक सहस्र वर्ष तक उनके दर्शन की विकृत व्याख्या करते रहे । किन्तु यह मानना और भी कठिन है कि श्रीशंकराचार्य के समान सत्य-भक्त साधक के दर्शन और जीवन में इतना आत्म-व्याघात-मय छद्म छिपा रहा हो। समस्या बड़ी जटिल है, किन्तु इसका निर्णय अविलम्ब रूप से आवश्यक है । या तो हमें यह मानना होगा कि जो श्री शंकराचार्य का दर्शन कहा जाता है वह उनके वास्तविक मत का विकृत रूप मात्र है और उस विकृति के इतिहास की व्याख्या करनी होगी; अथवा यदि ये व्याख्यायें यथार्थ हैं, तो हमें यह मानना होगा कि श्री शंकराचार्य का, जीवन एक अत्यन्त शोचनीय मिथ्याचार का जीवन था ।

---

# दूसरा अध्याय

## पूर्व-पक्ष

सामान्यतः यह विश्वास किया जाता है और बहुत से विद्वानों का भी यही मत है कि वेदान्त निषेध और पलायन का दर्शन है। वेदान्त में जगत् की सत्यता और जीवन के मूल्यों का निषेध किया गया है। यह कहा जाता है कि यदि वेदान्त के अनुसार जगत् मिथ्या है और जीवन माया है तो हमारे उच्चतम आदर्श मिथ्या-लोक के असत्याऽऽकाश में उड़ते हुए निस्तत्व बुद्बुदों के समान हैं और हमारी श्रेष्ठतम आकांक्षायें स्वप्न-लोक में प्रेत छायाओं की खोज मात्र हैं। एक मात्र सत्य समस्त दृश्य तथा ज्ञेय जगत् से परे कोई अज्ञेय तत्व (अथवा अ-तत्व) है; और एक सर्वातीत अन्धकार में आत्मा का विलय ही परमानन्द की प्राप्ति है। एक ऐसे सिद्धान्त के आधार पर जो जीवन और जगत्, व्यक्तित्व और प्रगति, इच्छा और सुख, प्रयत्न और प्राप्ति का निषेध करता हो, एक सार्थक जीवन-दर्शन का निर्माण कदाचित् ही सम्भव है। अतः बड़े विश्वास के साथ इस मत का प्रतिपादन किया गया है कि वेदान्त में यथार्थ में किसी प्रकार के आचार-दर्शन के लिये स्थान नहीं है और यदि उसमें कोई आचार-दर्शन सम्भव है तो वह नैष्कर्म्य-वाद है जो वास्तव में कोई आचार-दर्शन नहीं।

पश्चिमीय विद्वान् वेदान्त के बड़े गम्भीर अध्ययन और उसके सिद्धान्तों के गम्भीर विवेचन के बाद इस परिणाम पर पहुँचे हैं। मैक्समूलर ( Max Muller) तथा डॉयसन ( Deussen ) के समान निष्पक्ष विद्वानों ने गम्भीर अध्ययन के बाद इस परिणाम को अनिवार्य पाया है। मेकेन्जी (Mckenzie) तथा डॉ० अर्कहार्ट (Urquhart) के समान पक्षपाती विद्वानों ने अपने निष्कर्षों को धर्म मान कर प्रतिपादित किया है। एक जिस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं उसी का उन्होंने प्रतिपादन किया है, दूसरे जिसका प्रतिपादन करना चाहते हैं उसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं। भारतीय-चिन्तन से एक जीवन-व्यापी सम्पर्क और सहानुभूति रहने के कारण मैक्समूलर में अन्य ईसाई समालोचकों का सा धार्मिक पूर्वानुरोध (Prejudice) नहीं पाया जाता फिर भी

वेदान्त को एक 'कठोर एकत्ववाद' ( Unflinching Monism ) की संज्ञा देकर उन्होंने वेदान्त में आचार के मूल्य के लिये अधिक स्थान नहीं रक्खा। पॉल डॉयसन भी वेदान्त के एक दीर्घ तथा गम्भीर अध्ययन के बाद वेदान्त में आचार-दर्शन के लिये व्यावहारिक उपयोगिता से अधिक मूल्य न दे सके। उनके अनुसार व्यावहारिक वेदान्त में ही आचार-दर्शन का मूल्य है, पारमार्थिक वेदान्त में उसका कोई स्थान नहीं है। मोक्ष के लिये केवल सत्व-शुद्धि के साधन रूप से नैतिक आचार की उपयोगिता है, उसका कोई श्रेयस-मूल्य नहीं है। प्रो० मेकेन्जी के अनुसार वेदान्त भारतीय चिन्तन का प्रतिनिधि है और उनके अनुसार भारतीय चिन्तन-सिद्धान्तों ने आचार-दर्शन के लिये कोई स्थान नहीं रक्खा है। डॉ० अर्कहार्ट का महान् अन्वेषण ग्रन्थ "सर्वेश्वरवाद और जीवन का मूल्य" (Pantheism and the value of life ) वेदान्तिक आचार दर्शन के विरुद्ध सबसे प्रबल तथा गम्भीर आक्रमण है और वेदान्तिक आचार-दर्शन की ईसाई समालोचना की पराकाष्ठा अंकित करता है। उन्होंने भारतीय चिन्तन में जीवन के मूल्यों की भावना पर सर्वेश्वरवाद के प्रभाव के अध्ययन के लिये उर्वरतम क्षेत्र पाया है। उनका विश्वास है कि भारतवर्ष सर्वेश्वरवाद की मातृभूमि है और भारत में सर्वेश्वरवाद शुद्धतम रूप में पाया जाता है। अतः जीवन पर इसका प्रभाव यहाँ सब से अधिक स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है। मैक्समूलर के इस तीव्र व्यंग के बाद भी कि 'उन प्राचीन सत्यान्वेषकों को रहस्यवादी अथवा सर्वेश्वरवादी कह कर टाल देना सरल है, यद्यपि प्रयोग करने वाले स्वयं इन परिभाषाओं का पूर्ण अर्थ नहीं समझते' तथा डॉयसन के इस मत के बाद भी कि 'वेदान्त को किसी भी परम्परागत परिभाषा की सीमा में नहीं बाँधा जा सकता' डॉ० अर्कहार्ट अपने को कॉवेल (Cowell) के साथ एकमत मानते हैं जिनके अनुसार 'उपनिषदों में सर्वत्र सर्वेश्वर-वाद की भावना व्याप्त है' और अपने मत के समर्थन के लिये डॉ० इन्ज, डॉ० बार्नेट, प्रो० मेकडॉनल तथा गार्बे के समानार्थक विचारों का आश्रय लेकर सर्वेश्वरवाद को ही भारतीय दर्शन का मुख्य सिद्धान्त मानते हैं।

सर्वेश्वरवाद ( Pantheism ) के अनुसार एक ईश्वर ही परम सत्ता है। ईश्वर सब कुछ है और सब कुछ ईश्वर है, यही इसका सामान्य सिद्धान्त है। ईश्वर के अतिरिक्त किसी वस्तु का अस्तित्व नहीं है। जो ईश्वर से पृथक् है वह गौण अथवा असत् है। जगत्प्रपंच के गौणत्व और असत्व

की कल्पनानुकूल विधेयात्मक और निषेधात्मक दो प्रकार का सर्वेश्वरवाद सम्भव है। उपनिषदों में दोनों ही प्रकार का सर्वेश्वरवाद पाया जाता है, किन्तु श्री शङ्कराचार्य के अद्वैत वेदान्त में निषेधात्मक प्रवृत्ति ही प्रबल है तथा श्री रामानुज के विशिष्टाद्वैत की प्रवृत्ति प्रधानतः विधेयात्मक है जो एक यथार्थवादी ईश्वरवाद में पर्यवसित होती है। दोनों ही सामान्य रूप से एक ब्रह्म को परम सत्य मानते हैं; किन्तु श्री शङ्कराचार्य के अद्वैत ब्रह्म में प्रपंच का निषेध स्पष्ट है, श्री रामानुज के अनुसार प्रपंच ईश्वर की सृष्टि होने के कारण गौण है, मिथ्या अथवा असत् नहीं।

श्री शङ्कराचार्य के अद्वैत वाद को मैक्समूलर ने "कठोर एकत्व-वाद" कहा है। ब्रह्म ही एक मात्र सत्य है, अन्य सब मिथ्या है। ब्रह्म एक ऐसा एकत्व है जिसमें सब प्रपंच लीन हो जाता है। यह सर्वभक्षी ब्रह्म श्री शङ्कर का आविष्कार नहीं, वरन् उपनिषदों के सनातन सत्य का पुनः प्रतिपादन मात्र है। श्री शङ्कर के अद्वैत में समस्त प्रपंच का निषेध हो जाता है। उनके अनुसार विशेष नितान्त अकिंचित् है। 'तत्वमसि' इसका मूल मन्त्र है, जिसका सामान्य अर्थ ब्रह्म के एकत्व में जीव और जगत् का विलय है। उस एकत्व में प्रपंच-भेद का निषेध हो जाता है, तथा 'नेति' 'नेति' से ही उसका निर्वचन हो सकता है। वह ब्रह्म नितान्त निर्गुण तथा हमारे ज्ञान के समस्त साधनों से परे है। अतः हमारे ज्ञान-गम्य प्रपंच-भेद के समस्त विधेय ( Predicates ) ब्रह्म में निषेध्य हैं। उच्चतम विधेयों का उद्देश्य अगम्य को किसी प्रकार गम्य बनाना मात्र है। सत्, चित् और आनन्द ब्रह्म के स्वरूप का निर्वचन नहीं करते। डॉ० डाय-सन के मतानुसार सत् सामान्य सत्ता का तुलना में असत् है, इसी प्रकार चित् समस्त वैषयिक ज्ञान का निराकरण और आनन्द समस्त दुःख का निषेध है। इसका परिणाम विधेय जगत् का मिथ्यात्व है।

किन्तु मिथ्या कह कर जगत् का निषेध कर देने से प्रत्यक्ष अनुभव-गत जगत् की स्थिति का समाधान नहीं होता। वेदान्त का प्रसिद्ध मायावाद इसी समाधान का प्रयास है। ब्रह्म को जगत् का कारण मान कर ब्रह्म से जगत् की उत्पत्ति सिद्ध करने की चेष्टा श्री शङ्कराचार्य में है अवश्य, किन्तु गौण रूप में। श्री रामानुज की भाँति वे जगत को वास्तविक ईश्वर की वास्तविक सृष्टि नहीं मानते। श्री शङ्कराचार्य के लिये जगत् मृगजल की भाँति

मिथ्या तथा अविद्यामूलक है। यह अविद्या केवल एक मानसिक सिद्धान्त (Psychological principle) नहीं वरन् एक तात्विक सिद्धान्त (Metaphysical principle ) है। यह केवल हमारे बाह्य जगत् की सत्ता में विश्वास का ही मूल नहीं वरन् बाह्य जगत् की सत्ता का मूल है।

यदि समस्त प्रपंच-जगत् मिथ्या है तो जीव भी, जो उसका एक अंग है, मिथ्या है। जगत् की भाँति जीवत्व और व्यक्तित्व भी अविद्या-मूलक है। यदि जीव की एक व्यावहारिक सत्ता मान भी ली जाय तो भी उसका स्वातन्त्र्य स्वीकार्य नहीं है। वेदान्त में जीव कर्म के आधीन है। कर्म-बन्धन के फल-स्वरूप वह जन्म-परम्परा में भ्रमित होता है। उसका वर्तमान एक अनादि अतीत से नियत है, और उसका अनन्त भविष्य अतीत और वर्तमान दोनों से नियति के समक्ष आत्मसमर्पण के अतिरिक्त उसके लिये और कोई मार्ग नहीं है। इस निर्दय नियतिवाद का परिणाम एक अकरुण निराशावाद होता है। जीव के कर्म-बन्धन और स्वातन्त्र्य निषेध का फल प्रयत्न की व्यर्थता और अकर्मण्यता है। यदि जो हुआ है वह होना था और जो होगा वह होना ही है तो संसार में कुछ भी करने के प्रयत्न का कोई मूल्य नहीं। कठोर नियति के समक्ष आत्म समर्पण ही श्रेय है। ऐसे दर्शन में आशा और उत्साह के लिये स्थान नहीं। निराशावाद के अनुसार जीवन का अन्त दुःख है और दुःख अनिवार्य है। जीवन में न कोई विकास है और न प्रयोजन। श्री शङ्कराचार्य के वेदान्त में शोपेन हावर ( Schopenhauer ) तथा हार्टमान ( Hartmann ) के जैसा प्रत्यक्ष और कठोर निराशावाद तो नहीं पाया जाता, किन्तु जगन्मिथ्यात्व और जीवन की असारता का अन्तिम परिणाम निराशावाद ही है।

किन्तु यह निराशावाद श्री शंकराचार्य का आविष्कार नहीं। डॉ० अर्कहार्ट के अनुसार इसके चिन्ह भारतीय चिन्तन में आदि से ही पाये जाते हैं और कदाचित् जलवायु और राजनीतिक परिस्थिति भी इसमें कारण है। यद्यपि वैदिक धर्म एक आशा और आनंद का धर्म है, किन्तु यह आनन्द गम्भीर नहीं है। यह एक प्रकार से अबोधता का आनन्द है और आत्मिक जिज्ञासा के अभाव के कारण है। अथर्ववेद और उपनिषदों में जब आध्यात्मिक खोज आरम्भ हो जाती है तो भारतीय चिन्तन के क्षितिज पर चिन्ता के मेघ घिरने लगते हैं। कर्म-सिद्धान्त के उद्भव के साथ तो उसकी गति स्पष्ट रूप से निराशावाद की ओर हो जाती है।

'असतो मा सद्गमय, तमसो मा ज्योतिर्गमय, मृत्योर्मा अमृतं गमय' उपनिषदों की करुण पुकार है। कर्म सिद्धान्त का अर्थ जन्म-परम्परा के स्थान पर मृत्यु-परम्परा हो जाता है। जीवन एक अभिशाप हो जाता है और जीवन की इच्छा मुक्ति की अभिलाषा में परिणत हो जाती है। मरण की अनन्त परम्परा की अपेक्षा तो विनाश ही अधिक वांछनीय है। जलवायु और राजनीतिक कारण मिलकर इस सिद्धान्त को और दृढ़ बना देते हैं। आर्यावर्त्त के विशाल मैदानों और उच्च पर्वतों के बीच मनुष्य एक तुच्छ प्राणी जान पड़ता है। आयनिक जलवायु के कारण शिथिलता, निरुत्साह, विश्राम की कामना मनुष्य को संघर्ष के अयोग्य बनाती है। शताब्दियों के स्वेच्छाचारी शासन ने भी मनुष्य को व्यक्तित्वहीन, उदासीन तथा निष्क्रिय बना दिया। ऐसे शासन और जलवायु ने भारत का वातावरण निराशावादी दर्शन के अनुकूल बना दिया। अतएव निस्सार और असह्य जीवन से मुक्ति दिलाने वाले दर्शन का सहर्ष स्वागत हुआ।

जगत् को निस्सार मानकर उसकी उपेक्षा पर आश्रित आशावाद का परिणाम भी अन्त में निराशावाद ही होता है। ऑस्ट्रिच ( Ostrich ) पक्षी की भाँति थोड़ी देर के लिये अपनी आँखें बन्द कर हम क्षण भर मन में संतोष कर सकते हैं, किन्तु इस जगत् के कठोर सत्य से मुक्ति नहीं पा सकते। मिथ्या कह देने से जगत् का निराकरण नहीं हो सकता। मिथ्या मान लेने पर जब कठोर सत्य के रूप में जगत् और उसकी समस्याओं का सामना करना पड़ता है तो परिणाम और भी अधिक निराशामय और दुःखमय होता है।

इस असह्य स्थिति से निकलने का एक मात्र मार्ग ब्रह्म की शरण है। किन्तु यह मार्ग भी सन्तोष जनक नहीं। ब्रह्म के साथ एकत्व हमारे व्यक्तित्व का विनाश है। ब्रह्म निर्गुण और अनिर्वचनीय है। ब्रह्म के साथ एकत्व अंधकार अथवा शून्य में हमारी सत्ता का विलय है। इस ब्रह्म-प्राप्ति का आनन्द भी जीवन के दुःख से ही नहीं सुख से भी विहीन एक घोर-निद्रा की शान्ति है, जो मृत्यु की शान्ति के समान है। यह ब्रह्म-प्राप्ति हमारे व्यक्तित्व का विकास नहीं विनाश है। यह मुक्ति एक कारागार के बन्दी को अनन्त मरुस्थल के निस्तब्ध शान्ति और शून्य विस्तार में पहुँच जाने की कल्पना के समान है। कल्पना लोक की शून्य शान्ति क्षण भर में उसकी बेड़ियों की झंकार से भंग हो जाती है और वह अपने को उसी प्रकार सत्य जगत् के असह्य बन्धन में पाता है।

और ब्रह्म में इस पारमार्थिक स्वतन्त्रता की प्राप्ति भी सुगम नहीं है। ब्रह्म अनिर्वचनीय और परात्पर है। हमारी किन्हीं शक्तियों द्वारा वह ग्राह्य अथवा गम्य नहीं है। वह अज्ञात ही नहीं, अज्ञेय है। वह देश, काल, कारणता आदि की कोटियों से मुक्त है। "अणोरणीयान् महतो महीयान्" जैसे विरोधी पदों द्वारा ही उसका निर्वचन हो सकता है। विधेयात्मक पद (Positive Predicates) ब्रह्म के वाचक नहीं लक्षक मात्र है। निषेधात्मक पद(Negative-Predicates) यह नहीं बताते कि ब्रह्म क्या है वरन् यहबताते हैं कि वह क्या नहीं हैं। अतः हम एक अनन्त 'नेति' 'नेति' के अज्ञेयवाद में आ जाते हैं। अज्ञेयवाद का परिणाम विचार की जड़ता और जीवन की व्यर्थता है। जब ब्रह्म जो जीवन का चरम लक्ष्य है अज्ञेय तथा अप्राप्य है और उसकी प्राप्ति का कोई साधन भी नहीं है तो इसका परिणाम घोर निराशावाद होता है। वर्तमान से परे पहुँचने की तीव्र कामना द्वारा ही हम एक लक्ष्य की प्राप्ति कर सकते हैं। किन्तु वेदान्त में कामना के लिये कोई स्थान नहीं है। अस्तु, मनुष्य की प्रकृति को देखते हुए ब्रह्म रूपी लक्ष्य अप्राप्य है।

संसार के मिथ्यात्व का आदर्श भी एक क्षणिक भ्रम है, वह जीवन के कठोर सत्य के सामने नहीं ठहर सकता। ऐसा आदर्श जीवन में प्रेरणा भी नहीं बन सकता। जब संसार मिथ्या है और जीवन एक स्वप्न है तो कोई भी प्रयत्न सार्थक नहीं है। अतः अप्राप्य ब्रह्म तथा मिथ्या जगत् दोनों का ही आदर्श समान रूप से निष्क्रियता उत्पन्न करता है। यह द्विविध असमंजस हमें एक उदासीनता तथा निष्क्रियता के मरुस्थल में छोड़ देता है। किसी सार्थक कर्म की प्रेरणा शेष न रह जाने के कारण हम अपने को भाग्य के अनन्त और असार पथ पर छोड़ देते हैं। व्यक्तित्व और जगत् के मूल्य के प्रतिषेध के कारण जीवन में रहा सहा उत्साह भी जाता रहता है। जीवन के मूल्य और प्रयोजन के बिना कोई धर्म सम्भव नहीं है। हमारे कर्म की सार्थकता तथा मूल्यवत्ता की भावना ही हमें संघर्ष में बल देती है।

किन्तु कल्पनामय दर्शन से जीवन और जगत् के कठोर सत्यों को मिथ्या कह कर उनकी उपेक्षा नहीं की जा सकती। कर्म को असम्भव अथवा असार मान कर हम निष्क्रिय नहीं बैठ सकते। सक्रियता जीवन का सार है और जीवन की आवश्यकतायें हमें कर्म के लिये बाध्य करती हैं। दार्शनिक अन्धकार में घिरे हुये मार्ग में ही हमें विवश हो कर चलना पड़ता है। किन्तु हमारे सामने कोई ऐसा लक्ष्य नहीं रह जाता जो हमारा पथ प्रदर्शक बन

सके और जिसकी प्राप्ति में हमारी यात्रा की सफलता निहित हो। संसार-सागर में बिना पतवार की नाव पर निरपेक्ष यात्री के समान हम निरुद्देश्य तथा निरुत्साह भाव से जायेंगे। किन्तु आदर्श और प्रयोजन के बिना जीवन-यापन सम्भव नहीं है। सत्य और उदात्त आदर्श के अभाव में मनुष्य कोई भी आदर्श ग्रहण कर लेता है। वेदान्त में सभी कुछ समान रूप से निस्सार है तो अच्छे बुरे में भेद नहीं रहता। यहीं से वेदान्तिक बुद्धिवाद के विरुद्ध भावना की प्रतिक्रिया आरम्भ होती है और जीवन में पतन का मार्ग खुल जाता है। संन्यास का अन्त भोगवाद में होता है। उच्चतम दर्शन का परिणाम निम्नतम व्यवहार होता है। भोगवाद में क्षणिक सुख और आकर्षण है, अन्त में दुःख में परिणाम होने के कारण उसका अन्त भी निराशावाद ही होता है। वेदन्त का पापपुण्यातीत आदर्श मुक्त पुरुष को नैतिक नियमों से मुक्त बना देता है। अतः वेदान्त में भी ऐसे पतन की सम्भावना शेष रह जाती है। मुक्तावस्था में "घातक घातक नहीं है, पापी पापी नहीं है।" कौषीतकी उपनिषद् के अनुसार 'मातृवध, पितृवध, चोरी, ब्रह्म-हत्या किसी से भी मुक्त पुरुष को पाप नहीं लगता'। यदि यह भी मान लिया जाय कि ऐसे एक दो अवतरणों के आधार पर यह निर्णय नहीं किया जा सकता कि वेदान्त में पाप को प्रोत्साहन दिया गया है, फिर भी यह तो स्वीकार करना पड़ेगा कि नैतिक दृष्टि से वेदान्त दोष पूर्ण है और उसमें श्रेय की समुचित रक्षा नहीं की जा सकी है। पुण्य-पाप, शुभ-अशुभ का भेद ही नैतिक निर्णय का आधार तथा श्रेय का रक्षक है। इस भेद के निराकरण के कारण नैतिकता से अतीत आदर्श में पतन का प्रतिबन्धक सिद्धान्त शेष नहीं रह जाता।

अतः हमारे जीवन-कर्म के पथ-प्रदर्शक किसी आदर्श के अभाव के कारण यह कहा जा सकता है कि वेदान्त में आचार शास्त्र के लिये कोई स्थान नहीं है। डॉ० अर्कहार्ट ने उन कारणों का विस्तृत विवेचन किया है जो वेदान्त में आचार-शास्त्र की आशा को व्यर्थ बना देते हैं। प्रथम कारण तो वेदान्त की असाधारणता है। जीवन के सामान्य और समस्त क्षेत्र को ध्यान में रख कर वेदान्त-सिद्धान्त का प्रतिपादन नहीं किया गया। वेदान्त का आधार हमारा समस्त अनुभव नहीं वरन् उसका केवल एक पक्ष ( बुद्धि ) है। इस चरम बुद्धिवादिता में ही वेदान्त की असाधारणता का मूल है। इस बुद्धिवाद के आधार पर ही समस्त भेदातीत ब्रह्म को वेदान्त में चरम सत्य माना गया है और जीवन को माया तथा जगत् को मिथ्या कहा गया है। यह ब्रह्म निर्गुण

तथा भेदातीत है, अतः शुभाऽशुभ भेद से भी परे है। शुभाऽशुभ भेद का निराकरण आचार शास्त्र के आधार को ही उन्मूलित कर देना है।

शुभाऽशुभ भेद के साथ साथ वेदान्त में व्यक्तित्व को भी मिथ्या माना गया है। इसके मूल में भी वही बुद्धिवादी एकत्व की कल्पना है। अस्तु, व्यक्ति के बिना नैतिक निर्णय का कोई आलम्बन नहीं रहता। आलम्बन के ही लिये आचार-शास्त्र की अपेक्षा है तथा उसी के कारण वह सम्भव भी है। शुभाऽशुभ के भेद का निराकरण नैतिक निर्णय को असम्भव तथा उसके साथ व्यक्ति की वास्तविकता का निषेध नैतिक निर्णय को अनावश्यक भी बना देता है। व्यक्ति की स्वतन्त्र और चरम सत्ता वेदान्त को मान्य नहीं है। मोक्षावस्था में ब्रह्म में व्यक्तित्व का लय हो जाता है। संसारावस्था में व्यक्ति कर्म-सिद्धान्त के आधीन है, वह एक अनिवार्य नियति का दास है। अतः वह स्वतन्त्र कर्ता नहीं है। कर्म-स्वातन्त्र्य के निषेध में ही नैतिक उत्तरदायित्व का निषेध भी निहित है। यह उत्तरदायित्व की भावना आचार-दर्शन का मूल सिद्धान्त है। हमें क्या 'करना चाहिये' यही आचार दर्शन की मुख्य समस्या है। किन्तु कर्म-स्वातन्त्र्य के बिना उत्तरदायित्व का प्रश्न अन्याय्य और असंगत है। स्वातन्त्र्य उत्तरदायित्व का अनिवार्य पूरक है। यदि कोई मनुष्य कर्म करने, न करने अथवा उसे अन्यथा करने के लिये स्वतन्त्र नहीं है तो हम उसे किसी कर्म के लिये उत्तरदायी अथवा दोषी नहीं ठहरा सकते।

अस्तु, प्रथमतः, शुभाऽशुभ भेद के निषेध के कारण आचार-दर्शन सम्भव नहीं है। दूसरे, व्यक्तित्व के निषेध के कारण वह असम्भव है, क्योंकि व्यक्ति के बिना नैतिक निर्णय का कोई आलम्बन शेष नहीं रह जाता। अन्त में, कर्म-स्वातन्त्र्य के निषेध के कारण आचार-शास्त्र अन्याय्य हो जाता है।

अस्तु, डॉ० मेकेन्जी के अनुसार वेदान्त के आधार-भूत सिद्धान्त का न्यायगत परिणाम तो यही होगा कि वेदान्त में आचार-शास्त्र के लिये कोई स्थान नहीं है। किन्तु जीवन कोरा न्याय नहीं है। डॉ० मेकेन्जी ने भी एक प्रच्छन्न अवमान के स्वर में यह स्वीकार किया है कि उपनिषदों के ऋषि भी मानव थे। इसका अभिप्राय यही प्रतीत होता है कि जीवन की आवश्यकताओं ने उन्हें अपने सिद्धान्तों के विरुद्ध आचार-शास्त्र के लिये स्थान बनाने के लिये विवश किया। शून्य सिद्धान्तों के आधार पर मानव-जीवन का निर्वाह नहीं हो सकता। आचार के आदर्शों के बिना समाज की व्यवस्था

नहीं हो सकती। डॉ० मेकेन्जी ने भी स्वीकार किया है कि जीवन के मार्ग के लिये भारतीयों की खोज नितांत निष्फल नहीं रही है। उनके विचार से यदि भारतीय संस्कृति के मूल में कुछ महान् तथा मूल्यवान तत्व न रहे होते तो हजारों वर्षों तक उसका प्रसार सम्भव न होता। पारिवारिक प्रेम, बड़ों का सत्कार तथा व्यक्ति और समाज के स्वार्थों के एकत्व की भावना भारतीय संस्कृति के मूल्यवान तत्व हैं।

किन्तु जिन आदर्शों के आधार पर भारतीय आचार-शास्त्र का निर्माण हुआ है उनमें सक्रिय प्रेरणा का अभाव है। डॉ० मेकेन्जी के मतानुसार विदेशों को भारत से यदि कुछ सीखना है तो वह अक्रिय गुणों (Passive virtues) के विषय में ही। सब का तात्पर्य यही है कि वेदांत में उदासीनता और निष्क्रियता के आचार-दर्शन के अतिरिक्त और किसी आचार-दर्शन की सम्भावना नहीं है। इस आचार दर्शन में उत्कर्ष और विकाश के लिये भी कोई स्थान नहीं है। वेदान्त का चरम सत्य और परम आदर्श बौद्धिक एकत्व है। बुद्धि में गति और क्रिया नहीं है। ब्रह्म भी निष्क्रिय है। वह किन्हीं प्रयत्नों द्वारा प्राप्य नहीं है। ब्रह्म नित्य है तथा केवल ज्ञान द्वारा लभ्य है। काल-गत क्रिया द्वारा कालातीत ब्रह्म साध्य नहीं हो सकता। अस्तु, आदर्श को सनातन सत्य बनाकर वेदांत लक्ष्य की प्रगति-शील प्राप्ति की प्रेरणा से हमें वंचित कर देता है। जो सनातन सत्य है उसकी प्राप्ति के लिये जीवन में क्या उत्साह हो सकता है?

सत्य और जीवन के प्रति यह बौद्धिक दृष्टि-कोण ही भारतीय तथा ईसाई दर्शन का मुख्य भेद माना गया है। डॉ० डायसन के अनुसार ईसाई धर्म में मनुष्य का सार संकल्प है, भारतीय दर्शन में ज्ञान। डॉ० डायसन ईसाई धर्म को अधिक उदात्त और संगत मानते हैं। प्रो० मेकेन्जी की दृष्टि में भी पाप का मूल संकल्प न मानना भारतीय आचार-दर्शन का प्रधान दोष है। मोक्ष भी एक नवीन ज्ञान है, हमारे संकल्प का नैतिक परिवर्तन नहीं है। मोक्ष के ज्ञान रूप की कल्पना ही भारतीय दर्शन में नैतिक प्रश्नों की उपेक्षा के लिये उत्तरदायी है। अन्ततः वेदान्त में आचार-दर्शन का एक गौण स्थान ही है। नैतिक साधन मोक्ष के बहिर्भूत कारण हैं, साक्षात् कारण नहीं। मोक्ष शुभाऽशुभ से परे, अतः नैतिकता से परे है। यह ज्ञान-गम्य है, कर्म-साध्य नहीं। सामाजिक कर्त्तव्यों से मोक्ष का कोई आन्तरिक सम्बन्ध नहीं है। डॉयसन का कथन है कि ये कर्म ज्ञान के

सहकारी मात्र हैं। सत्व-शुद्धि द्वारा मोक्ष के आरात् उपकारक हैं, साक्षात् कारक नहीं। प्रो० मेकेन्जी ने इसका आशय और भी स्पष्ट कर दिया है 'पुण्य कर्म आत्मा को ऐसी अवस्था में पहुँचाने में सहायक होते हैं, जहाँ से मोक्ष प्राप्त करना सरल है'। वस्तुतः मोक्ष के लिये नैतिकता आवश्यक नहीं है, मोक्ष में उसका कोई स्थान भी नहीं है। ईसाई धर्म के अनुसार नैतिक आचार का सत्य में चरम स्थान और मूल्य है, वेदान्त में नहीं। कामना कर्म का मूल है और कामना का नाश मोक्ष साधना में आवश्यक है। अस्तु, नैतिक कर्म नहीं वरन् संन्यास वेदान्त में अधिक महत्वपूर्ण हैं। किन्तु यह संन्यास वेदान्त में पराकाष्ठा को पहुँच गया है। आत्म-शुद्धि के साधन के स्थान पर वह आत्म-विनाश का कारण बन गया है। संन्यास को ही सर्वस्व मान लेने से जीवन सार-हीन हो जाता है, क्योंकि अन्य निम्न कर्मों के साथ उच्च नैतिक कर्मों की भी हानि होती है। मोक्ष प्राप्ति के बाद भी मुक्त पुरुष के लिये कर्म का कोई महत्व नहीं रहता। मोक्ष शुभाऽशुभ से परे है, अतः शुभ कर्मों में उसकी अभिव्यक्ति आवश्यक नहीं। सामाजिक कर्तव्यों का मोक्ष से कोई सम्बन्ध नहीं रहता। मोक्ष में कर्तव्यों की हानि हो जाती है। मुक्त को मानों निष्क्रियता का अधिकार-पत्र मिल जाता है। इस कर्तव्यता हानि को श्री शंकराचार्य ने वेदान्तियों का अलंकार माना है। मेकेन्जी के अनुसार वेदान्त और ईसाई मत में यह एक बड़ा भेद है।

अस्तु, हम देखते हैं कि नैतिक आचार से वेदान्तिक आदर्श का सामंजस्य संभव नहीं है। वह न नैतिक विकास द्वारा प्राप्य है और न नैतिक आचार में अपने को व्यक्त करता है। ऐसा आदर्श एक समाज-विरोधी आदर्श कहा जा सकता है। प्रो० मेकेन्जी के अनुसार सामाजिक आचार का कोई आदर्श भारतीय दर्शन में नहीं पाया जाता। भारतीय दर्शन के, विशेषकर वेदान्त के, इस समाज-विरोधी स्वरूप का मूल उनकी रहस्यवादिता में है। वेदान्त उच्च वर्ग का दर्शन है। वह सर्व साधारण के लिये गम्य नहीं है। वेदान्त का तत्व वेद में निहित है, जिसका ज्ञान गुरु के बिना नहीं हो सकता। शूद्रों को वेद का अधिकार नहीं है, अतः वेदान्त-ज्ञान भी उनके लिये वर्जित है। वेदाध्ययन वेदान्त-साधना की आवश्यक भूमिका है। द्विजों को ही वेद का अधिकार है अतः वे ही वेदान्त-ज्ञान के अधिकारी हैं। शूद्रों को वेदाधिकार न होने के कारण सत्य-ज्ञान और मोक्ष से भी वंचित रहना पड़ेगा। अस्तु, वेदान्त एक वर्ग-विशेष का विशेषाधिकार है, समस्त

मानवता का उद्धारक संदेश नहीं है। लौकिक जीवन के सुख-दुःख की कोई समुचित व्याख्या हमें वेदान्त में नहीं मिलती। मायावाद के अनुसार समस्त सुख-दुःख मिथ्या है। कर्मवाद के अनुसार सुख-दुःख अनिवार्य है। किन्तु मिथ्यात्व अथवा अनिवार्यता से वास्तविक जीवन के सुख-दुःख का समाधान नहीं होता। सुख-दुःख के प्रति आँख मूँद कर उन्हें मिथ्या मान लेने से उनसे मुक्ति नहीं मिल सकती। और न उन्हें अनिवार्य नियति का विधान मान लेने से उनका समाधान हो सकता है। जीवन के कठोर सत्यों की अग्नि-ज्वाला हमारे दार्शनिक अन्धकार को विदीर्ण कर हमारी भ्रान्ति को दूर कर देती है। हम वास्तविक दुःख को मिथ्या बता कर किसी दुःखी मनुष्य के व्याकुल हृदय को शान्त नहीं कर सकते और न उसे अनिवार्य नियति बताकर ही उसे सन्तुष्ट कर सकते हैं। दुःख और पाप का एक मात्र समाधान नैतिक विकास में है, जो वेदान्त को मान्य नहीं। नैतिक विकास का सिद्धान्त दुःख के कारण की व्याख्या नहीं कर सकता, फिर भी वह दुःख के प्रयोजन की व्याख्या अवश्य करता है। हम यह नहीं जानना चाहते कि संसार में दुःख क्यों है, किन्तु यह अवश्य जानना चाहते हैं कि दुःख का जीवन के लक्ष्य ( श्रेय ) से क्या सम्बन्ध है। वर्तमान दुःख भावी श्रेय की भूमिका होने पर ही सह्य हो सकता है। दुःख और श्रेय का यह सम्बन्ध नैतिक विकास के सिद्धान्त के आधार पर ही हो सकता है। किन्तु वेदान्त में विकास का कोई महत्व नहीं है। ब्रह्म नित्य है, वह ज्ञान-गम्य है, नैतिक विकास द्वारा प्राप्य नहीं है। संसार एक अनादि, अनन्त और अर्थ-हीन प्रक्रिया है। वह संसार भी मिथ्या है अतः उसके विकास का कोई मूल्य नहीं है। कर्म-सिद्धान्त के नियतिवाद के अनुसार विकास असम्भव है और मायावाद के अनुसार वह अनावश्यक है। किन्तु जीवन में विकास की आवश्यकता होने पर ऐसी स्थिति का परिणाम निराशावाद ही हो सकता है। किन्तु निराशावाद दुःख और पाप की समस्या का समाधान नहीं वरन् मानवता का एक अनन्त अभिशाप है। जीवन आशा पर ही अवलम्बित है, अतः निराशावाद जीवन का घातक सिद्धान्त है। जीवन के विकास-पथ पर क्रमशः प्राप्त होने वाला श्रेय ही इस आशा का सम्बल है। यह आशा ही जीवन के समस्त दुःखों का समाधान तथा सहिष्णुता का साधन और उन्नति की प्रेरणा है। यदि हमारे दुःखों का संसार के विकास में कोई सहयोग है तो उन्हें बलिदान का गौरव प्राप्त है। कर्मसिद्धान्त में इस लोकोपयोगी दुःख

के लिये कोई स्थान नहीं है। दुःख हमारे कर्मों का अनिवार्य फल है, अतः अनिवार्य है। लोक की व्यवस्था और विकास में उसका कुछ महत्व नहीं।

अस्तु, वेदान्त न विचार का एक सन्तोषजनक सिद्धान्त है और न उपयुक्त आचार-दर्शन। वेदान्तिक आचार-दर्शन के दोषों का मूल उसके तात्विक सिद्धान्तों में है। वेदान्त में ब्रह्म सत्य है और ब्रह्म एकत्व है। उसमें भेद और प्रपंच के लिये स्थान नहीं है। ज्ञाता और ज्ञेय का भेद जो ज्ञान का मूल सिद्धान्त है, शुभ-अशुभ का भेद जो आचार शास्त्र के लिये आवश्यक है, और ईश्वर और मानव का भेद जो धर्म के लिये अपेक्षित है वेदान्त को मान्य नहीं। ज्ञान और ज्ञेय के भेद का निराकरण ब्रह्म को अज्ञेय बना देता है। शुभ-अशुभ के भेद का निषेध आचार को अनर्थक बना देता है। कर्म के नियतिवाद को मानकर आचार-शास्त्र असम्भव है। व्यक्ति की असत्यता और जगत् का मिथ्यात्व आचार-शास्त्र को अनावश्यक और व्यर्थ बना देते हैं।

किन्तु एक सन्तोषजनक विचार-सिद्धान्त अथवा एक उचित आचार-सिद्धान्त हमारे सत्यान्वेषण का अंत नहीं है। दर्शन हमारे समस्त व्यक्तित्व की माँग है। विचार-सिद्धान्त हमारी आदर्श-कामना की पूर्ति कर सकता है। किन्तु हमारी खोज का पर्यवसान धर्म में ही हो सकता है, जो हमारे जीवन का अवलम्ब बन सके। धर्म से अभिप्राय किसी साम्प्रदायिक मत से नहीं है वरन् एक आध्यात्मिक अनुभव से है जिसमें हमारे व्यक्तित्व की समस्त आकांक्षाओं का समाधान हो सके। वेदान्त के विषय में यह कहा जाता है कि यह केवल दर्शन का एक पूर्ण सिद्धान्त ही नहीं वरन् यह एक जीवित जाति का जीवित धर्म भी है। दर्शन के साथ साथ धर्म होना वेदान्त का विशेष गुण माना जाता है।

किन्तु वेदान्त के पक्षधारियों का यह मत कहाँ तक सत्य है यह विचारणीय है। यह ठीक है कि धर्म के रूप में वेदान्त की मान्यता इस देश में बहुत रही है। किन्तु किसी भी दर्शन की लोकप्रियता उसकी यथार्थता का प्रमाण नहीं बन सकती। वेदान्त-सिद्धान्त कहाँ तक एक संतोषजनक धर्म बनने के गुण रखता है यह विचारणीय है।

यहाँ भी वेदान्त की बुद्धिवादिता घातक सिद्ध होती है। धर्म प्रत्येक रूप में ईश्वर और मानव का सम्बन्ध है। वेदान्त में ईश्वर और मानव का

भेद अमान्य है। एक ब्रह्म ही सत्य है। यह ब्रह्म निर्गुण अतः अनिर्वचनीय है। यह एकत्व रूप ब्रह्म ही वेदान्त दर्शन का चरम सत्य और वेदान्त धर्म का मूल्य आधार है। यह ब्रह्म सर्व कहा जाता है ( सर्वं खल्विदं ब्रह्म )। किन्तु डॉ० दासगुप्त के मतानुसार यह नागार्जुन के शून्य के समान ही असत्यकल्प है। यह ब्रह्म निष्क्रिय है और बर्गसाँ के अनुसार निष्क्रिय होने के कारण शून्य है। इस निर्गुण और निष्क्रिय ब्रह्म की ऐसे ईश्वर के रूप में कल्पना नहीं की जा सकती जिसके साथ भक्त और भगवान का सम्बन्ध सम्भव हो सके। ब्रह्म की अनन्त सत्ता में हमारे व्यक्तित्व का विलय ही वेदान्त का मोक्ष है। यह हमारी आकांक्षाओं की पूर्ति का पर्यवसान है अथवा हमारे अस्तित्व का विनाश यह विवेक करना कठिन है। जीव और ब्रह्म के एकत्व की यह कल्पना धार्मिक भावना के अनुकूल नहीं है। धार्मिक भावना एक सम्बंध है जो दो विविक्त व्यक्तिओं में ही हो सकती है। उपासना और प्रेम के लिये उपास्य-उपासक तथा प्रेमी-प्रेमपात्र का विवेक आवश्यक है चाहे दोनों में कितनी ही आत्मीयता क्यों न हो। यह द्वित्व की भावना इसलिये आवश्यक है कि सम्बंध की कल्पना दो के ही बीच की जा सकती है। उन दोनों में विरोध न हो किन्तु विवेक अपेक्षित है। अद्वैत वेदान्त में द्वित्व के लिये स्थान नहीं है, अतः वेदान्त में धार्मिक भावना के लिये कोई आधार सम्भव नहीं। अस्तु विचार-सिद्धान्त, आचार-दर्शन तथा धर्म तीनों ही रूप में वेदान्त अनुपयुक्त है।

# तीसरा अध्याय

## अद्वैत का स्वरूप

### १. वेदांत न एकत्ववाद है, न सर्वेश्वरवाद, वरन् अद्वैत है

वेदान्त के विषय में सबसे महत्वपूर्ण और स्मरणीय तथ्य यह है कि वेदांत न मैक्समूलर ( MaxMuller ) के मतानुसार 'कठोर एकत्ववाद' ( unflinching Monism) है और न डॉ॰अर्कहार्ट (Dr. Urquhart) की परिभाषानुकूल 'विज्ञानवादी सर्वेश्वरवाद' ( Idealistic Pantheism) है। वास्तव में विचार और सत्य के सिद्धान्त के अर्थ में वेदांत कोई 'वाद' ( ism ) नहीं है, वरन् सत्ता और अनुभव के चरम और सरल सत्य का स्पष्ट निर्वचन मात्र है जिसके आधार पर एक परिपूर्ण दर्शन-सम्प्रदाय का विकास हुआ। अनुभव का आभास प्राप्त करने के पूर्व तक हम बौद्धिक विवेचन के ही रूप में सत्य को ग्रहण कर सकते हैं, यही इस दर्शन सम्प्रदाय के विकास का महत्व है। अखण्ड और सजीव सत्य के शुद्ध तथा सरल स्वरूप में निष्ठा हमारे राष्ट्र की ( यदि हम उसे राष्ट्र कह सकते हैं ) प्रतिभा की विशेषता थी। सत्य की सजीव अखण्डता में से एक अंग छिन्न कर तथा उसे एक 'वाद' का नाम देकर उसकी शुद्धता और अखण्डता नष्ट कर देना हमारे पूर्वजों को अभीष्ट न था। और न इस निर्जीव असत्य के आधार पर भोली मानवता को भ्रान्त तथा आक्रान्त करना ही उनका मन्तव्य रहा। हमारे धर्म का कोई नाम न था जिसे ईश्वर के नाम पर मनुष्य के ऊपर अत्याचार का नारा बनाया जा सकता।[1] सत्य दर्शन के किसी सिद्धांत का नाम नहीं है और न किसी पुण्य नामधेय से पवित्रीकृत रूढ़ि-समूह का नाम धर्म है।

---

१. हमारी जाति तथा हमारे धर्म का 'हिन्दू' नाम विदेशियों द्वारा दिया गया था। विदेशियों द्वारा दिया गया यह अपमान-सूचक नाम हमने अपने पतन और पराजय के युग में स्वीकार कर लिया। किन्तु विदेशी तथा अपमान-सूचक होने के कारण वह हमारी जातीय तथा धार्मिक भावना के जागरण अथवा संघटन का प्रतीक कभी नहीं बन सका।

सत्य का हम कोई नामकरण नहीं कर सकते और न उसे लौकिक उपयोग के अनुकूल ही बना सकते हैं। धर्म उस अनाम सत्य का हमारी चरम सत्ता के रूप में अनुभव है। वेदान्त सत्य का अन्तिम शब्द है। वह हमारे पूर्वजों की हमारे लिये अपूर्व देन है। वेदांत शब्द किसी दर्शन-सम्प्रदाय के नाम का द्योतक नहीं। वेदों का अंतिम भाग होने के कारण उपनिषदों का ज्ञान-काण्ड वेदान्त कहलाया, यह एक ऐतिहासिक संयोग है। यदि किसी नामकरण की आवश्यकता हो तो उसे 'अध्यात्मवाद' कहना सबसे अधिक उपयुक्त होगा। जहाँ तक शब्द सत्य का प्रतीक बन सकता है वहाँ तक 'अध्यात्म' शब्द से वेदांत के स्वरूप की यथार्थ व्यञ्जना हो सकती है। किन्तु उसे 'एकत्ववाद' अथवा 'सर्वेश्वरवाद' कहना नितान्त अनुपयुक्त है। इन नामकरणों के लिये, जो कि सामान्यतः वेदांत तथा विशेषतः श्री शंकराचार्य के विषय में समस्त भ्रांति के मूल कारण हैं,कोई आधार नहीं है। उपनिषदों[२] और श्री शंकराचार्य कृत भाष्य ग्रन्थों में ( यहाँ तक कि गौडपाद कृत कारिका[३] में भी ) सत्य के स्वरूप और अनुभव के निदर्शन के लिये प्रायः 'अद्वैत' शब्द का ही प्रयोग हुआ है। 'अद्वैत' का 'एकत्व' के रूप में अनुवाद और व्याख्यान ही समस्त भ्रांति का बीज बन गया। इस एक शब्द के अयथार्थानुवाद से इस भ्रांति का श्रीगणेश हुआ और 'अहं ब्रह्मास्मि'[४], 'तत्वमसि'[५] 'अयमात्मा ब्रह्म'[६] 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म'[७] 'नेह नानास्ति किंचन'[८] 'मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति'[९] आदि कुछ वेदांत महावाक्यों के बाह्य अर्थ मात्र को लेकर इस मत की परम्परा चल पड़ी कि वेदांत के अनुसार केवल एक ब्रह्म ही सत्य है, शेष सब नाम रूप, माया अथवा मिथ्या है। यदि केवल ब्रह्म ही सत्य है

---

२. द्रष्टाद्वैतो भवत्येव बृह० उप० ४-३-३२।
एकमेवाद्वितीयम् छां० उप० ६-२-१।
३. मा० का० भा० ३-१६, ३-४०, ४-४५, ४-८०, २-३५, २-३६।
४. बृह० १-४-१०।
५. छां० ६ ८-६७।
६. बृह० २-५-१९।
७. छां० ३-१४-१।
८. कठ० २-१-११।
९. कठ- २-१-१०।

और शेष सब मिथ्या है, तो इस मत को 'एकत्ववाद' अथवा 'सर्वेश्वरवाद' कहने में क्या दोष है ? यह एक बहुत सीधी सी बात है किंतु नितान्त असत्य है, क्योंकि इसका वास्तविक अर्थ यह नहीं है जो प्रतीत होता है। वेदान्त के अनुकूल एकत्व बहुत्व अथवा प्रपंच का बहिष्कार नहीं वरन् इसका अन्तर्भूत तथा आधार भूत सत्य है। श्री शंकराचार्य के वेदान्त की सूक्ष्म मीमांसा के उपरांत ज्ञात होगा कि इसे 'एकत्ववाद' अथवा 'सर्वेश्वरवाद' कहने के लिये कोई आधार नहीं है।

सबसे पहिले विचारणीय तर्क यह है कि यदि वेदान्त के प्रतिष्ठाताओं का अभिप्राय एकत्व से होता तो उन्होंने वेदान्त ग्रंथों में अवश्य तद्रूप से उसका नामकरण किया होता। ऋग्वेद के इतने प्राचीन काल में हमारे ऋषि एकत्व की कल्पना से परिचित थे।[10] यदि वेदान्त से उनका अभिप्राय एकत्ववाद से होता तो अवश्य ही उन्होंने उसे 'एकत्ववाद' की संज्ञा दी होती। उपनिषदों तथा श्री शंकराचार्य कृत भाष्य-ग्रंथों में 'अद्वैत' शब्द की निरंतर आवृत्ति एक अकारण संयोग नहीं है, वरन् यह एक ऐसा तथ्य है जो वेदान्त के सत्य के मूल में सन्निहित है। मूल वेदान्त का अभिप्राय एकत्ववाद कदापि नहीं था। यद्यपि सृष्टि-शास्त्र और मायावाद के अनुचित महत्व के कारण उत्तर वेदान्त की प्रवृत्ति एक भ्रामक एकत्ववाद की ओर है, फिर भी यह मौलिक सत्य कि वेदान्त अद्वैतवाद है एकत्ववाद नहीं पूर्णरूप से भ्रांत अथवा आक्रांत कभी नहीं हो सका। कारणवाद का, जो एकत्व की कल्पना का आधार है, अभिप्राय कार्य-कारण का एकत्व नहीं वरन् कार्य का कारण से पृथक-सत्ता-शून्यत्व है।[11] वाचस्पति मिश्र के अनुसार, जिनका स्थान वेदान्त-परम्परा में केवल श्री शंकराचार्य से द्वितीय है, 'वेदान्त का उद्देश्य एकत्व की साधना नहीं किंतु भेद का निराकरण मात्र है'[12] श्री शंकराचार्य के प्रसिद्ध ब्रह्मसूत्र-भाष्य की भूमिका, जो अध्यास-भाष्य के नाम से विख्यात है और जिसमें उनका मूल दृष्टिकोण सन्निहित है, विषय और विषयी के भेदानुवचन

१०. एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति-ऋग्वेद।

११. कारणात् पृथक् सत्ताशून्यत्वं साध्यते नतु ऐक्याभिप्रायेण।
K. Shastri P. 140

१२. अभेदो न साध्यते किन्तु भेदो व्यासिद्धयते वेदान्ते।
K. Shastri P. 145

से आरम्भ होती है। यह सत्य है कि यह भेद चरम तथा आत्यन्तिक नहीं है, किन्तु चरम तथा आत्यन्तिक न होने का अर्थ यह नहीं है कि वह 'असत्' है। श्री शंकराचार्य का अभिप्राय भेद को परमार्थिक महत्व देना नहीं है, किन्तु साथ ही उसकी तथ्यात्मक सत्ता का निराकरण करना भी नहीं है। उनका अभिप्राय केवल आत्मा और अनात्मा के इतरेतर भावगुणाध्यास रूप से प्रकट होने वाली सामान्य अविद्या तथा उससे उत्पन्न होने वाली भ्रांति का निरूपण है। उनका लक्ष्य उन दोनों के विवेक की ओर है, विविक्तों के विनाश की ओर नहीं। अनुभव के इस सरलतम तथ्य से आरम्भ करके श्री शंकराचार्य आत्मा के सत्य के प्रतिष्ठापन की ओर बढ़ते हैं जो अखिल सत्ता और अनुभव का अन्तर्भूत आधार-तत्व है। अत्यन्त सूक्ष्म तर्कों द्वारा उसका संकेत देकर अंत में उन्होंने अनुभवगम्य सत्य के रूप में आत्मा की प्रतिष्ठा की है, क्योंकि अनुभव द्वारा ही उसका वास्तविक स्वरूप पूर्णतः ग्रहण किया जा सकता है। यह अध्यात्म-तत्व सत्ता और अनुभव की अनेकरूपता में एकत्व और अक्षुण्णता का आधार है, तथा हमारे व्यक्तित्व और सत्ता का चरम सत्य है। स्वतः यह विशेष-रहित चैतन्य मात्र है;[13] किन्तु इसका यह अभिप्राय नहीं कि यह उस समस्त भेद और प्रपञ्च को नष्ट कर देता है जिसका यह अन्तर्भूत आधार है। जहाँ आत्मा के निर्विशेष एकत्व से अभिप्राय है वहाँ श्री शंकराचार्य ने 'आत्मैकत्व' पद का प्रयोग किया है[14] 'अहं ब्रह्मास्मि' का आशय यह नहीं है कि हमारी जीवात्मा का ब्रह्म के साथ एकत्व है वरन् यह है कि ब्रह्म हमारी व्यक्तिगत सत्ता का आधार-भूत चरम सत्य है ( देखो प्रकरण ८ ) और एतदर्थ में तीन महावाक्य तीनों पुरुषों में उसी सत्य की व्यञ्जना करते हैं तथा 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' सर्वार्थ में उसी अर्थ की व्यञ्जना करता है। ब्रह्म समस्त भूत सत्ता का अंततम सत्य है। समस्त भूतजात का ब्रह्म से अपृथक् भाव से 'तादात्म्य' है ( एकत्व नहीं ) और ब्रह्म से पृथक् स्थित किसी वस्तु की सत्ता की कल्पना नहीं को जा सकती। 'नेह नानास्ति किञ्चन' वाले प्रसिद्ध मन्त्रपद की, जिसका भेद के खंडन के लिये बहुत दुरुपयोग किया गया है, व्याख्या भी श्री शंकराचार्य ने ब्रह्म के भेद रहित अथवा निर्विशेष

---

१३. निर्विशेष चिन्मात्रम्।

१४. ब्र० सू० भा० २-१-३
 बृ० भा० १-४-२, १-४-७

स्वरूप के निरूपण के अर्थ में ही की है । इस मन्त्रपद का आशय यह नहीं है कि'कहीं भी भेद की सत्ता नहीं है'जैसा कि प्रायः इसका अनुवाद किया जाता है,वरन् यह है कि,'यहाँ ब्रह्म में भेद नहीं है,'[15]इसी प्रकार कठ उपनिषद् के नानात्वदर्शी के प्रति प्रसिद्ध मृत्युशाप 'मृत्योः स मृत्युमाप्नोति' का भी व्याख्यान इसी अर्थ में किया गया है । जिस पद-भाग का अनुवाद प्रायः 'जो यहाँ कहीं भी भेद रखता है' किया जाता है उसका अर्थ श्री शंकराचार्य ने केवल यह किया है कि "जो यहाँ ब्रह्म में नानात्व का दर्शन करता है"।[16]

## २—वेदान्त-दर्शन में सृष्टि-शास्त्र का स्थान

वेदान्त के अनुसार ब्रह्म चरम सत्य है । वेदान्त ग्रन्थों में ब्रह्म को सृष्टि के उदय का मूल बतलाया गया है । तैत्तिरीय उपनिषद् में जिससे इस समस्त भूतजात की उत्पत्ति होती है, जिसमें इन समस्त भूतों के जीवन की स्थिति रहती है तथा जिसमें अन्त में प्रलय के उपरान्त सब विलीन हो जाते हैं' [17] उसे ब्रह्म कहा गया है । तैत्तिरीय पाठ के अनुकूल ब्रह्म-सूत्रों में भी 'जो सृष्टि के उदय, स्थिति और प्रलय का मूल कारण तथा आश्रय है' [18] उसे ब्रह्म संज्ञा दी गई है । वेदान्तिक सृष्टि-शास्त्र में ब्रह्म को विश्व का मूल माना गया है और इस सिद्धान्त के अन्तर्गत सत्य की व्याख्या कारणवाद के आधार पर की गई है । सृष्टि-शास्त्र समस्त प्राचीन दर्शनों की सामान्य रुढ़ि है और कारणवाद के आधार पर इसकी व्याख्या अनिवार्य रूप से अपेक्षित रही है । उपनिषदों में सृष्टि-रचना एक तात्विक तथ्य के रूप में स्वीकृत सी जान पड़ती है । उपनिषदों में कारणवाद के आधार पर सृष्टि क्रम की व्याख्या करने की वास्तविक चेष्टा की गई है । उक्त तैत्तिरीय पाठ के समानार्थक कई पाठ उपनिषदों में पाये जाते हैं । [19] किन्तु साथ ही साथ बहुत से पाठों

१५. इह ब्रह्मणि अनानाभूते । कठ० भा० २-१-१०

१६. इह ब्रह्मणि नाना नास्ति । कठ० भा० २-१-१०

१७. यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते, येन जातानि जीवन्ति यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति तद्विजिज्ञासस्व तद् ब्रह्मेति । तै० ३-१-१ ।

१८. जन्माद्यस्य यतः । ब्रह्मसूत्र १-१-२

१९. सोऽकामयत बहुस्यां प्रजायेयेति । तै० उ० २ ६-१ । तज्जलानिति । छां० ३-१०-१ । तस्माद्वा एतस्मादात्मनं आकाशः संभूतः तै० उ० २-१-१ । स इमाँल्लोकानसृजत । ऐत० उ० १-१-२ ।

में ब्रह्म के अविकार्य स्वरूप का प्रतिपादन भी किया गया है।[२०] अविकार्य ब्रह्म को जगत्कारण के रूप में स्वीकार करने से एक दार्शनिक पहेली उपस्थित हो जाती है। कारणवाद के सिद्धान्त के अनुकूल कारण पदार्थ की कार्य पदार्थ के रूप में वास्तविक परिणति होती है। कारण के बिना कार्य की सत्ता सम्भव नहीं है और इस अर्थ में कार्य कारण से अभिन्न अथवा अपृथक् है। यहाँ तक कारणवाद के सिद्धान्त का वेदान्त के अविकार्य ब्रह्म विषयक सिद्धान्त से कोई विरोध नहीं पड़ता, क्योंकि ब्रह्म के बिना जगत् की सत्ता सम्भव न होने के कारण जगत् का ब्रह्म से अ-भेद अथवा अ-पृथक् भाव अवगम्य है। किन्तु अविकार्य ब्रह्म का वास्तविक परिणाम व्याघात-युक्त होने के कारण स्वीकार्य नहीं। रहस्य अथवा चमत्कार कह देने से इस व्याघात का समाधान नहीं होता, केवल एक भ्रान्ति से इसका आवरण हो जाता है। उपनिषदों में इस व्याघात की चेतना पूर्ण रूप से स्फुटित नहीं जान पड़ती है। नाम-रूप-व्याकरण के रूप में सृष्टि-क्रम की व्याख्या में इस सत्य की अर्धचेतना सी संलक्षित होती है। यह कहना कि जगत् माया अथवा मिथ्या के अर्थ में नाम रूप मात्र है उपनिषदों की उस सत्य भावना के प्रति आक्षेप होगा जिसके साथ उनमें सृष्टि को एक सत्य मान कर उसकी व्याख्या की चेष्टा की गई है। सूत्रकार ने भी प्रथम अध्याय के द्वितीय सूत्र में उस तैत्तिरीय पाठ का संक्षेप करके आगे के सूत्रों में अन्य पाठों के आधार पर सांख्याभिमत प्रकृति-कारणवाद तथा न्यायाभिमत जगदतीत-ईश्वर-कारणवाद का खंडन किया है। किन्तु ऊपर संकेतित व्याघात के प्रति सूत्रकार भी उपनिषदों से अधिक सचेतन नहीं जान पड़ते। जिस सूत्र में सूत्रकार-सम्मत कारणवाद का समावेश है उससे वास्तविक परिणाम ही सूत्रकार का कारण-सिद्धान्त प्रतीत होता है।[२१]-श्री शंकराचार्य ने सृष्टि-विषयक उपनिषद् पाठों की व्याख्या यथार्थ में ही की है और उक्त सूत्र के भाष्य में उसका एक प्रकार से पदार्थ सा कर दिया है।[२२] किन्तु उपनिषदों और सूत्रकार के आशय की

२०. एतद् वै अक्षरम् बृह० उप० ३-८-८, ९, १०, ११, तदेतक्षरं ब्रह्म। मु० उप० २-२-२। येनाक्षरं पुरुषं वेद। मु० उप० १-२-१३।

२१. आत्मकृतेः परिणामात्। ब्रह्मसूत्र: १-४-२६

२२. पूर्वसिद्धोऽपि हि सन्नात्मा-विशेषेण विकारात्मना परिणामयामासाऽऽत्मानमिति ब्र० सू० भा-१-४-२६।

व्याख्या करते हुए यत्र तत्र उन्होंने तत्सिद्धान्त विषयक अपना मत भी स्पष्ट लक्षित कर दिया है। कारणवाद के आधार पर सृष्टि क्रम की व्याख्या की चेष्टा के अन्तर्गत व्याघात की पूर्ण चेतना ही श्री शंकराचार्य का उपनिषत्कारों और सूत्रकार से मुख्य भेद है। दार्शनिक सिद्धान्त के रूप में सृष्टि-शास्त्र के मूल्य की उन्होंने अवहेलना नहीं की है। उपनिषदों और ब्रह्मसूत्रों के सृष्टि-शास्त्र सम्बन्धी स्थलों की उन्होंने विस्तृत व्याख्या की है और कहीं भी उनके मूल्य और महत्त्व को कम करने का प्रयास नहीं किया है। किन्तु उन्होंने सृष्टि-शास्त्र को दर्शन के अन्तिम सिद्धान्त के रूप में स्वीकृत नहीं किया है। उन्होंने यह स्पष्ट रूप से स्वीकार किया है कि 'समस्त वेदान्त ग्रन्थों में परमेश्वर को सम्पूर्ण जगत् का कर्ता माना गया है'।[२३] किन्तु वे इसे दर्शन के अन्तिम सिद्धान्त की अपेक्षा वेदान्त की एक रूढ़ि अथवा मर्यादा के रूप में अधिक सत्य मानते हैं, जैसा कि निम्न दो उद्धरणों से स्पष्ट है—

( क ) परम ब्रह्म से ही समस्त भूतों की उत्पत्ति होती है, यह वेदान्त की **मर्यादा** है।[२४]

( ख ) परम ब्रह्म से ही प्राणादिक जगत की उत्पत्ति होती है यह वेदान्त की **मर्यादा** है।[२५]

यदि हम भामती[२६] के अनुकूल 'मर्यादा' शब्द को 'सीमा' के शाब्दिक अर्थ में भी ग्रहण करें तो भी अर्थ में कोई अन्तर नहीं आता। एक ऐसे बिन्दु पर जाकर हमारे विचार का केन्द्रित हो जाना जिस पर कि वह अपनी सीमा पर पहुँच जाय और जिससे आगे वह न बढ़ सके रूढ़ि कहलाता है। एक दीर्घ परम्परा से प्रशस्त हो जाने पर वह रूढ़ि दार्शनिक सिद्धान्त का रूप ग्रहण कर लेती है। परम्परा के प्रति पूर्ण सम्मान रखते हुए भी श्री शंकरा-

२३. परमेश्वरश्च सर्वजगतः कर्त्ता सर्ववेदान्तेष्ववधारितः ब्रह्म सूत्र भा० १-४-१६।

२४. परस्माद्धि ब्रह्मणो भूतानामुत्पत्तिरिति वेदान्तेषु मर्यादा। ब्र० सू० भा० १-१-२२।

२५. परस्माद्धि ब्रह्मणः प्राणादिकं जगज्जायत इति वेदान्तमर्यादा। ब्रह्म० सू० भा० १-४-१८।

२६. भामती-१-१-२२।

चार्य ने इसके अन्तर्निहित सत्य को अनावृत कर दिया है। ऐतरेय उपनिषद् के द्वितीय अध्याय के भाष्य की भूमिका में वेदान्त दर्शन में सृष्टि-शास्त्र के मूल्य और स्थान के विषय में उन्होंने अपना मत असन्दिग्ध रूप से स्पष्ट कर दिया है। उनका कथन है कि '( ब्रह्म से ) सृष्टि की उत्पत्ति का यह समस्त विस्तृत वर्णन अर्थवाद मात्र है ( और हम बिना किसी अनर्थ की अंशका के कह सकते हैं कि यह दार्शनिक सिद्धान्त नहीं है ); इसका अभिप्राय केवल आत्मा के स्वरूप के अवबोध में सहायक होना है'।[२७] इन दो चार, किन्तु निर्णायक, वचनों में सृष्टि शास्त्र के विषय में श्री शंकराचार्य का सिद्धान्त निहित है, जिसका उन्होंने प्रायः अपने सभी भाष्यों में पालन किया है। जहाँ कहीं भी मूल पाठ में सृष्टि-विधान का प्रसंग आता है वहाँ प्रायः प्रत्येक स्थल पर यह स्पष्ट संकेत किया है कि सृष्टि-विधान से सम्बन्ध रखने वाले इन पाठों का प्रयोजन सृष्टि-क्रम का निर्णय करना नहीं है किन्तु जगत् का ब्रह्म से अभेद अथवा एकत्व स्थापित करना है।[२८] प्रवेश-श्रुति के भाष्य-प्रसंग में भी परमात्मा के सृष्टि-प्रवेश में उन्होंने इसी अभिप्राय का संकेत किया है।[२९] परिणाम-श्रुति में भी इसी अभिप्राय का लक्ष्य पाया है।[३०] बृहदारण्यक उपनिषद् ( २ १-२० ) के भाष्य में उन्होंने कहा है कि 'समस्त वेदान्त-शास्त्रों में जगत की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय ( के ब्रह्म-मूलक होने ) की कल्पना का तात्पर्य सृष्टि-प्रलय-क्रम का निरूपण करना नहीं है किन्तु ब्रह्म के साथ जगत के एक-रूपत्व के ज्ञान को पुष्ट करना है'।[३१] पुनः ब्रह्मसूत्र भाष्य ( ४-३-१४ ) में उनका कथन है कि ( आत्मा के अन्तर्गत ) भेद निराकरण-परक श्रुतियों की भाँति सृष्टि-परिणा-मादि परक श्रुतियाँ अभिधार्थ में ग्रहण नहीं की जा सकती क्योंकि उनका

---

२७. अत्रात्मावबोधमात्रस्य विवक्षितत्वात्सर्वोयमर्थवादः ऐत० भा० २-१-१।

२८. एवमुत्पत्त्यादि श्रुतीनामैकात्म्यावगमपरत्वात् ब्र० सू० भा० ४-३ १४।

२९. अन्यार्थत्वात् ब्रह्मस्वरूपानुगमाय च। तै० भा०-२-६-१।

३०. न चेयं परिणामश्रुतिः परिणामप्रतिपादनार्था तत्प्रतिपत्तौ फलानवगमात्। सर्वव्यवहारहीन ब्रह्मात्मभावप्रतिपादनार्था त्वेषा तत्प्रतिपत्तौ फलाव-गमात्। ब्र० सू० भा० २-१-२७।

३१. तस्मादेकरूपत्वप्रत्ययदार्ढ्यायैव सर्ववेदान्तषूत्पत्तिलयादि कल्पना न तत्प्रत्ययकरणाय। बृह० भा० २-१-२०।

प्रयोजन सृष्टि-क्रमादि का निरूपण करना नहीं किन्तु (ब्रह्म के साथ जगत् के) एकत्व का प्रतिपादन करना है। [32] यही प्रयोजन प्रवेश-श्रुतियों का भी है। [33] प्रवेश एक क्रिया है जिसमें एक स्थान से दूसरे स्थान की ओर गति अभिप्रेत है। सर्वगत ब्रह्म के विषय में गति और प्रवेश असम्भव है। अतः सृष्टि और प्रवेश सम्बन्धी श्रुतियों का तात्पर्य ब्रह्म के साथ जगत् के एकत्व का प्रतिपादन और भेद-दर्शनों का खण्डन करना है।' [34] जगत् के अखिल अनेक-रूप पदार्थ व्यक्त-सृष्टि के पूर्व भी अव्यक्त रूप से ब्रह्म में वर्तमान रहते हैं और तद्रूप से वर्तमान रहते हुए ही विभिन्न रूपों में उनकी सृष्टि होती है। इसीलिए अर्थवाद रूप से यह कहा जाता कि ब्रह्म ने जगत् की सृष्टि कर उसमें प्रवेश किया। [35] परिणाम-श्रुतियों का भी यही अभिप्राय है। [36] अविद्या-कल्पित, व्यक्त तथा अव्यक्त, तत्त्वान्यत्व-भाव से अनिर्वचनीय नाम-रूप लक्षण वाले रूप-भेद के परिणामादि व्यवहारों का आधार ब्रह्म है। किन्तु अपने पारमार्थिक रूप से वह (ब्रह्म) सर्व-व्यवहारातीत और अपरिणत रहता है। परिणाम श्रुतियाँ वास्तविक परिणाम की प्रतिपादक प्रतीत नहीं होती क्योंकि परिणामार्थ में उनकी सफलता नहीं जान पड़ती। उनका अभिप्राय सर्व-व्यवहार-रहित ब्रह्म के साथ जगत् का आत्म-भाव प्रतिपादन करना है क्योंकि तदर्थ में ही उनकी सार्थकता है।' [37] श्री शंकराचार्य की इन उक्तियों के सूक्ष्म विश्लेषण से वेदान्त-दर्शन में सृष्टि-शास्त्र के स्थान और मूल्य के विषय में उनका मत असन्दिग्ध रूप से

---

३२. उत्पत्त्यादिश्रुतीनामपि समानमनन्यार्थमितिचेत्, न, तासामेकत्वप्रतिपादनपरत्वात्। ब्र० सू० भा० ४-३ १४।

३३. तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्। तै० भा० २-६-१।

३४. न तु सर्वगतस्य निरवयवस्य दिग्देशकालान्तरापक्रमणप्राप्तिलक्षणः प्रवेशः कदाचिदप्युपपद्यते। उपलब्ध्यर्थत्वाच्च सृष्टिप्रवेशस्थित्यप्यय-वाक्यानाम्। भेददर्शनापवादाच्च सृष्ट्यादिवाक्याना मात्मैकत्वदर्शनार्थपरत्वोपपत्तिः। बृह० भा० १-४-७।

३५. तत्स्थ एव धर्मान्तरेणोपजायते तेन प्रविष्ट इति उपचर्यते। बृह० भा० १-४-७।

३६. छां० उप० ६-३-२।

३७. अविद्या कल्पितेन च नामरूपलक्षणेन रूपभेदेन व्याकृताऽव्याकृता-

स्पष्ट हो जाता है। ये उक्तियाँ पूर्ण रूप से गम्भीर और सप्रयोजन हैं, और भाष्यों में उनकी निरन्तर आवृत्ति इस बात की द्योतक है कि उनका यही प्रयोजन और तात्पर्य है। वे अकारण संयोग नहीं है वरन् सप्रयोजन वचन हैं और उनमें वह सिद्धान्त सन्निहित है जो श्री शंकराभिमत वेदान्त का मूल आधार है तथा उपनिषदों और सूत्रकार की तुलना में उनसे श्री शंकराचार्य के भेद और भिन्न विकास का स्पष्ट सूचक है।

### ३—सृष्टि-शास्त्र की समस्या का विकास : परिणाम और विवर्त्त

श्री शकराचार्य के अनुसार सृष्टि-विधान वेदान्त की एक रूढ़ि अथवा मर्यादा मात्र है, कोई तात्विक सिद्धान्त नहीं। उनके अनुसार सृष्टि, प्रवेश, परिणामादि की समस्त श्रुतियाँ अर्थवाद हैं, जिनका तात्पर्य स्वार्थ में नहीं, ब्रह्म के साथ जगत् के तादात्म्य-भाव में है। सृष्टि-क्रम का निरूपण केवल कारणवाद के आधार पर हो सकता है और कारणवाद का अर्थ कारण द्रव्य की कार्य द्रव्य के रूप में वास्तविक परिणति है। किन्तु अविकार्य ब्रह्म का परिणाम संभव नहीं है [३८] क्योंकि वह एक अध्यात्म तत्व है, द्रव्य नहीं। [३९] फिर कारण-वाद एक अनुभव की सीमा के अन्तर्गत सिद्धान्त है और उस अध्यात्म तत्व के विषय में प्रयुक्त नहीं हो सकता जो अखिल अनुभव का आधार तथा उसकी सम्भावना का मूल है। अनुभव के अन्तर्गत भी कारणवाद का प्रयोग उन विरोध और व्याघातों से मुक्त नहीं है जिनमें जर्मन दार्शनिक 'कान्ट' ने चिन्तन के सिद्धान्तों की चरम पहेलियाँ देखी। कारणवाद के सिद्धान्त का अन्तर्भूत न्याय उसे अनवस्था

---

त्मकेन तत्त्वान्यत्वाभ्यमनिर्वचनीयेन ब्रह्मपरिणामादिसर्वव्यवहारास्पदत्वं प्रतिपद्यते। पारमार्थिकेन च स्वरूपेण सर्वव्यवहारातीतमपरिणतमवतिष्ठते। न चेयं परिणामश्रुतिः परिणामप्रतिपादनार्था तत्प्रतिपत्तौ फलानवगमात् सर्वव्यवहारहीनब्रह्मात्मभावप्रतिपादनार्था त्वेषा, तत्प्रतिपत्तौ फलावगमात्। ब्र० सू० भा० २-१-२७।

३८. पारमार्थिकेन रूपेण च सर्वव्यवहारातीतमपरिणतमवतिष्ठते। ब्र० सू० भा० २-१-२७।

३९. अद्रव्यत्वादनन्यत्वाच्च न कस्यचित्कार्यं कारणं वाऽऽत्मा। मां० का० भा० ४-५४।

अथवा एक अकृत कारण की कल्पना की ओर ले जाता है। [४०] पहिला पदार्थों की एक ऐसी व्याख्या की मृगमाया - मय खोज है जिसका हम कहीं भी अन्त नहीं पा सकते, दूसरा कारण-वाद के सिद्धान्त का परित्याग है। इन्हीं विरोध और व्याघातों के प्रति सतर्क होने के कारण श्री शंकराचार्य ने सृष्टि-श्रुतियों के प्रति परम्परागत मत से कुछ भिन्न दृष्टिकोण ग्रहण किया है। उनके मत को उपनिषदों के मत से भिन्न न कह कर उपनिषदों में अस्फुट रूप में प्राप्त होने वाले सिद्धान्त का विकास कहना अधिक उपयुक्त होगा। उपनिषदों में श्रीशंकराचार्य के सृष्टि-शास्त्र-विषयक सिद्धान्त के अन्तर्गत मूल सत्य की चेतना का अभाव नहीं है। वे जगत् को सत्य मान कर उसके सृजन-प्रलय की वास्तविक व्याख्या का प्रयास करती हैं, इससे यह तो असन्दिग्ध है कि चाहे सृष्टि वास्तविक सिद्धान्त हो अथवा अर्थवाद, जगत् माया नहीं, सत्य है। दूसरी ओर वे ब्रह्म के अविकार्य स्वरूप के विषय में असंदिग्ध भाव से एक मत हैं। [४१] अस्तु, एक अविकार्य कारण के आधार पर वास्तविक कारणवाद सम्भव नहीं। इस तात्विक कठिनाई के कारण ही वेदान्तिक परिणामवाद का विवर्त्तवाद की ओर विकास हुआ।

परिणामवाद कार्यद्रव्य के रूप में कारणद्रव्य की वास्तविक परिणति का सिद्धान्त है और यह व्यवहार जगत् के अन्तर्गत ही प्रयोज्य है। सिद्धांत में भेद किये बिना अविकार्य ब्रह्म के विषय में इसका प्रयोग नहीं हो सकता।[४२] यदि अविकार्य ब्रह्म से कारणवाद के आधार पर सृष्टि-क्रम की व्याख्या अभीष्ट हो तो वह अपरिणामी ब्रह्म का वास्तविक परिणाम नहीं हो सकता। अस्तु, परिणामवाद का स्वाभाविक विकास विवर्तवाद के रूप में हुआ। संक्षेपशारीरककार का कथन ठीक ही है कि 'वेदान्त दर्शन में परिणामवाद विवर्तवाद की पूर्वभूमि के रूप में है'। [४३] विवर्तवाद में कारण ब्रह्म की

---

४०. डा० गंगानाथ झाः शांकरवेदान्त पृष्ठ १०४

४१. बृह० उप० ३-८-८; ६-१०-११।
मुं० उप० २-२-२; १-२-१३।

४२. सर्वव्यवहारातीतमपरिणतमवतिष्ठते। ब्र० सू० भा० २-१-२७।

४३. विवर्तवादस्य हि पूर्व भूमिः
वेदांतवादे परिणामवादः। ---संक्षेप शारीरक

अविकार्यता के साथ परिणामवाद के सामंजस्य की चेष्टा की गई है। ब्रह्म की परिणामशीलता के साथ सृष्टि के सामंजस्य के प्रयास में ही इसका उदय हुआ होगा। आरम्भ में यह कारणवाद का एक विशिष्ट रूप रहा होगा जिसमें कारण (ब्रह्म) कार्यक्रम में भी अविकृत माना गया होगा। पहले इसका मुख्य प्रयोजन ब्रह्म की सत्यता तथा अविकार्यता के प्रतिपादन में रहा होगा। बादमें प्रयोजन-भ्रान्ति से कार्य-परक होकर कार्य (जगत्) की अपारमार्थिकता (मिथ्यात्व) के भाव का संन्निवेश हो गया होगा। उपनिषदों का यह मौलिक अभिप्राय नहीं रहा होगा, यह इस बात से स्पष्ट है कि सभी उपनिषदों में जगत् को सत्य मानकर सृष्टि की व्याख्या की चेष्टा की गई है। प्राचीन ऋषियों ने एक मिथ्या पदार्थ की व्याख्या इतने विस्तार और गाम्भीर्य के साथ की होगी यह मान्य नहीं। उनकी कठिनाई केवल यही थी कि वे न ब्रह्म की अविकार्यता का त्याग कर सकते थे और न जगत् की वास्तविकता का, फिर भी एक कालक्रम-गत घटना के रूप में सृष्टि की व्याख्या करना चाहते थे।

## ४—सृष्टि-शास्त्र की समस्या के विकास में श्रीशङ्कराचार्य का विशेष मत

श्री शङ्कराचार्य ने समस्या के मूल पर ही प्रकाश डाला। उनकी सम्मति में ब्रह्म की अविकार्यता को और जगत् की वास्तविकता को अक्षुण्ण-रखते हुये एक काल-क्रम गत घटना के रूप में सृष्टि की व्याख्या सम्भव नहीं। इस कठिनाई की एक अस्फुट चेतना उपनिषदों में भी विकसित होती हुई जान पड़ती है। उपनिषदों में जगत् को अनादि माना गया है। किसी भी ऐसी अवस्था का संकेत नहीं मिलता जब कि जगत् की 'सत्ता' का प्रथमवार उद्भव हुआ। सदा यह पूर्व से ही सत्तावान् माना गया है। [४४]सृष्टि इस सदा सत्तावान् जगत् का नाम-रूप-व्याकरण है।[४५] श्री शङ्कराचार्य ने इस नाम-रूप-व्याकरण की व्याख्या 'पदार्थों के विशिष्टीकरण' के रूप में की है—'यह इसका नाम है' और 'यह इसका रूप है' इस प्रकार पदार्थों के विशिष्ट भाव की अभिव्यक्ति ही सृष्टि है।[४६] श्री शङ्कराचार्य के कारणवाद से भी यही

---

४४. सदेव सोम्येदमग्र आसीत् छां० भा० ६ २-१-४

४५. अनेन जीवेनात्मनाऽनुप्रविश्य
नामरूपे व्याकरवाणि। छां० ६-३-२-३

४६. असौ नाम, इदं रूप इति। छां० भा० ६-३-२

भाव प्रकट होता है। उनका कारणवाद 'सत्कार्यवाद' कहलाता है जो व्यक्त रूप से व्याकरण के पूर्व भी कार्य की अव्यक्त सत्ता को स्वीकार करता है।[४७] यह 'सत्कारणवाद' से भिन्न है जो श्री शंकरोत्तर सिद्धान्त है और जिसका अभिप्राय यह है कि केवल कारण सत्य है, कार्य मिथ्या है। श्री शंकराचार्य के कारणवाद के आधार पर कार्य-जगत् को व्यक्त सृष्टि के पूर्व भी सत्तावान् मानना होगा। अस्तु, जब उपनिषद् और श्री शंकराचार्य दोनों के अनुसार जगत् की सत्ता सनातन है तो सृष्टि का अभिप्राय उसकी सत्ता का 'आरम्भ' नहीं हो सकता। सृष्टि का अर्थ केवल पदार्थों का विशिष्ट नाम रूपों के रूप में व्याकरण ही हो सकता है। ये नाम-रूप भी व्याकरण के पूर्व सर्व काल में एक अव्यक्त अवस्था में ब्रह्म में वर्तमान रहते हैं। उनके व्याकरण का अभिप्राय अभिधार्थ में 'सृजन' नहीं हो सकता। तैत्तिरीय उपनिषद् के भाष्य में श्री शंकराचार्य ने कहा कि 'भूत, वर्तमान और भविष्यत् में कोई भी ऐसा पदार्थ नहीं है जिसकी ब्रह्म से देश-काल-गत पृथक् सत्ता हो'।[४८] अतः जब नाम रूपों का व्याकरण होता है तो वे देश काल सम्बन्ध से सर्वावस्था में ब्रह्म से अविभक्त तथा ब्रह्म में संस्थित ही व्याकृत होते हैं।[४९] इस प्रकार अन्ततः सृष्टि का अर्थ नाम-रूपों की अभिव्यक्ति मात्र है, जो स्वयं अव्यक्त रूप से अभिव्यक्ति के पूर्व भी अविभक्त भाव से ब्रह्म में ही संस्थित रहते हैं। इस अभिव्यक्ति का अर्थ भी श्री शंकराचार्य ने 'साक्षात् विज्ञाना लम्बनत्व-प्राप्ति' किया है।[५०] इस प्रकार हम देखते हैं कि सृष्टिवाद क्रमशः तात्त्विक तथ्य (Metaphysical fact) से एक ज्ञान-शास्त्रीय प्रक्रिया (Epistemological phenomenon) के रूप में परिणत हो जाता है। सृष्टि-क्रम जगत् की सत्ता का आरम्भ नहीं वरन् साक्षाद्विज्ञानालम्बन रूप में पदार्थों की अभिव्यक्ति है। इस विषय का अधिक प्रपंच आवश्यक नहीं। फिर

---

४७. कार्यस्य च सद्भावः प्रागुत्पत्तेः सिद्धः।
बृह० भा० १-२-१।

४८. न हि आत्मनोऽन्यत् तत्प्रविभक्तदेशकालं भूतं भवद् भविष्यद्वा वस्तु विद्यते। तै० भा० २-६।

४९. यदा नामरूपे व्याक्रियेते तदा आत्मस्वरूपापरित्यागेनैव ब्रह्मणाप्रविभक्त देशकाले सर्वास्ववस्थासु व्याक्रियेते। तै० भा० २-६

५०. अभिव्यक्तिः साक्षाद्विज्ञानालम्बनत्वप्राप्तिः। बृह० भा० १-२-१।

भी यह विचारणीय है कि सत्ता के उद्भव के रूप में व्याख्या करने की मौलिक कठिनाई के कारण श्री शंकराचार्य के विचार में सृष्टि-शास्त्र की समस्या किस प्रकार बदल रही है। इसी प्रकार वेदान्तिक सृष्टिवाद में जगत् की सत्ता के उद्भव के सृष्टिशास्त्रीय (Cosmological) सिद्धान्त से लेकर उत्तर वेदांत के ज्ञानशास्त्रीय (Epistemological) तथा विज्ञानवादी (Subjective Idealism) सिद्धान्तों तक का विकास हुआ। श्री शंकराचार्य का अभिप्राय सत्ता (Existence)को बोध की प्रक्रिया (Phenomenon of experience) मात्र में परिणत कर देना नहीं है। जगत् की तथ्य रूप सत्ता के विषय में उन्होंने कभी सन्देह नहीं किया। सृष्टिवाद के सिद्धान्त जगत् की सत्ता अथवा असत्ता के प्रतिपादन से प्रयोजन नहीं रखते।[५१] सत्ता एक मौलिक तथा चरम कोटि है और अन्य किसी कोटि द्वारा इसकी व्याख्या नहीं की जा सकती। अस्तु, सभी सृष्टिशास्त्र सृष्टि के कारण की व्याख्या के स्थान पर सृष्टि के विकास-क्रम की व्याख्या का रूप ग्रहण करते हैं। किन्तु सृष्टि के विकास-क्रम की व्याख्या भौतिक विज्ञान भले ही हो दर्शन नहीं बन सकती।

किन्तु सृष्टिशास्त्र वेदान्त शास्त्र का एक बहुत बड़ा अंग है। अतः यह प्रश्न न्याय संगत होगा कि यदि सृष्टिशास्त्र का कोई दार्शनिक महत्व नहीं है तो ये सृष्टिवाद विषयक विस्तृत मीमांसायें बुद्धि का महान् अपव्यय नहीं है? इस शंका का बहुत सरल समाधान यह है कि सभी प्राचीन दर्शनों का आरम्भ सृष्टिशास्त्र के रूप में ही हुआ है। सृष्टिशास्त्र प्राचीनों के चिन्तन की स्वाभाविक प्रणाली है। मनुष्य की प्रकृति में ही इसका मूल है। प्रत्येक वस्तु के मूल की खोज मानव बुद्धि का स्वभाव है। 'जगत् को किसने बनाया'? यह एक ऐसा प्रश्न है जो पाठशाला के बालक पूछते हैं और जिसका उत्तर दार्शनिक नहीं दे सकते। जगत्-की सत्ता का आरम्भ कैसे हुआ यह प्रश्न ऋग्वेद के इतने प्राचीन काल में उठा था। तब से सदा ही यह प्रश्न बार-बार उठता चला आया है। किन्तु दर्शन के इस प्रथम प्रश्न का अन्तिम उत्तर हम आज भी नहीं पा सके हैं। श्री शंकराचार्य ने एक से अधिक बार यह स्वीकृत किया है कि सृष्टिवाद वेदान्तशास्त्र की एक रूढ़ि अथवा मर्यादा मात्र है।[५२] उनके लिये

---

५१. न हि सत्वमत्वं वेह जगतः प्रतिपिपादयिषितम्। छां० भा० ३-१-१६

५२. परस्माद्धि ब्रह्मणो भूतानामुत्पत्तिरिति वेदान्तेषु मर्यादा।
ब्र० सू० भा० १-१-२२।

समस्त सृष्टि-मीमांसा के प्रसंग अर्थवाद मात्र है,[५३] दार्शनिक सिद्धान्त नहीं। किन्तु अर्थवाद होने का अर्थ यह नहीं है कि वे सब निराधार ऊहा मात्र हैं, और दार्शनिक सिद्धान्त न होने का अभिप्राय यह नहीं है कि वे सब निरर्थक हैं श्री शंकराचार्य ने वेदान्तिक सृष्टिवाद में एक बड़े दार्शनिक महत्व का पुट दे दिया है। उन्होंने बार बार इस बात पर ज़ोर दिया है कि वेदान्तिक सृष्टिवाद के दो मुख्य प्रयोजन हैं : अन्य दर्शनों के सृष्टिवादों का खण्डन करके[५४] वेदान्तिक सृष्टिवाद आत्मा के स्वरूप तथा ब्रह्म के साथ जगत् के एकात्म्य के अवबोध में सहायक होता है। [५५] जब वेदान्त दर्शन का विरोध आरम्भ हुआ तो अन्य दर्शनों का खण्डन वेदान्त की प्रतिष्ठा के लिये आवश्यक हो गया। सांख्य आदि दर्शन एक विस्तृत सृष्टिशास्त्र के आधार पर निर्मित हुए थे, अतः उनका खण्डन सृष्टिवाद के आधार पर ही हो सकता था। सांख्य के प्रकृति-कारणवाद का खण्डन कर ब्रह्म-कारण वाद की स्थापना ब्रह्मसूत्रों की एक प्रधान विशेषता है। किन्तु यह वेदान्तिक सृष्टिवाद के महत्व का एक तथा विनाशात्मक पक्ष मात्र है। जिस प्रकार वेदान्त शास्त्र का मुख्य उद्देश्य अन्य दर्शनों का खण्डन नहीं है उसी प्रकार वेदान्तिक सृष्टि-वाद का मुख्य उद्देश्य भी अन्य दर्शनों के सृष्टिवाद का खण्डन नहीं है[५६]; इसका मुख्य प्रयोजन ब्रह्म के स्वरूप तथा जगत् की ब्रह्मात्मकता के अवबोध में सहायता देना है, जो वेदान्त के अनुसार परमार्थ और निःश्रेयस हैं।

---

परस्माद्धि ब्रह्मणः प्राणादिकं जगज्जायत इति वेदान्तमर्यादा।
ब्र० सू० भा० १-४-१८

५३. अत्रात्मावबोधमात्रस्य विवक्षितत्वात्सर्वोयमर्थवादः।
ऐत० भा० २-१-१।

५४. भेददर्शनापवादाच्च। बृह० भा० १-४-७।

५५. आत्मैकत्वदर्शनपरत्वोपपत्तिः।
बृह० भा० १-४-७।

५६. यद्यपीदं वेदान्तवाक्यानामैदम्पर्यं निरूपयितुं शास्त्रंप्रवृत्तं न तर्क शास्त्रवत् केवलाभिर्युक्तिभिः कञ्चित् सिद्धान्तं साधयितुं दूषयितुं वा प्रवृतम्।
ब्र० सू० भा० २-२-१।

### ५ जगत् का ब्रह्म के साथ सम्बन्ध : अपृथक् तादात्म्य

वेदान्त शास्त्रों में ब्रह्म को जगत् का कारण माना गया है।[५७] वेदान्त का मौलिक कारण सिद्धान्त सत्कार्यवाद है। सत्कार्यवाद के अन्तर्गत दो सिद्धान्त निहित हैं—एक अभिव्यक्ति के पूर्व कार्य की अव्यक्त सत्ता[५८] और दूसरा कार्य का कारण से अपृथक् भाव।[५९] सृष्टि के सम्बन्ध में सत्कार्यवाद का प्रयोग होने पर एक से जगत् की वास्तविक सत्ता सिद्ध होती है और दूसरे से ब्रह्म के साथ इसके सम्बन्ध की व्यंजना होती है। सत्कारणवाद जिसके अनुसार केवल कारण सत्य है और कार्य मिथ्या है उत्तर वेदान्त का एक सिद्धान्त है। उसके लिये प्राचीन वेदान्त में कोई आधार नहीं। कार्य और कारण के एकत्व के रूप में कारण-वाद के सिद्धान्त की भ्रान्त भावना का आधार 'तादात्म्य' आदि तत्सूचक पदों की असमीचीन व्याख्या है। वेदान्त के वास्तविक कारणवाद का अभि-प्राय इतना ही है कि कारण कार्य का मूल और आश्रय है तथा कारण के बिना कार्य की सत्ता सम्भव नहीं। इसका तात्पर्य कार्य और कारण का 'अपृथक् तादात्म्य' है, किन्तु 'एकत्व' नहीं। उनके पूर्ण एकत्व के बाधक भेद का निषेध श्री शङ्कराचार्य ने नहीं किया है। इस भेद के विशेष प्रतिपादन की अपेक्षा नहीं है क्योंकि यह सामान्य अनुभव का एक स्वाभाविक तथ्य है।[६०] श्रीशङ्कराचार्य ने जिस बात पर ज़ोर दिया है वह कार्य और कारण का अपृथक् तादात्म्य तथा उसी से अनुगत जगत् और ब्रह्म का अपृथक् तादात्म्य भाव है। कारण से पृथक् कार्य की सत्ता सम्भव नहीं है। उसी प्रकार ब्रह्म से पृथक् जगत् की सत्ता सम्भव नहीं। इसमें कार्य अथवा जगत् के मिथ्यात्व का तनिक भी संकेत नहीं है और न कार्य तथा कारण, जगत् तथा ब्रह्म के एकत्व का ही कोई संकेत है। अभिव्यक्ति के पूर्व कार्य की

---

५७. अस्य जगतो जन्मस्थितिभगः यतः सर्वज्ञात्सर्वशक्ति कारणात् भवति तद् ब्रह्म। बृह० भा० २-२-१।

५८. कार्यस्य सद्भावः प्रागुत्पत्तेः सिद्धम्। बृह० भा० १-२-१।

५९. कारणात् पृथक् सत्ताशून्यत्वं दृश्यते।

६०. श्री शङ्कर कृत ब्रह्मसूत्र भाष्य का आरम्भ विषय और विषयी के विवेकवचन से हुआ है, जिन्हें श्री शङ्कराचार्य ने तमः प्रकाश के समान विरुद्ध स्वभाव वाला और अत्यन्त विविक्त माना है।
स्वभाव प्राभस्तु भेदोऽनूद्यते। ब्र० सू० भा० २-३-४८।

सत्ता के रूप में जगत् की सत्ता स्वतः सिद्ध है और जगत् तथा ब्रह्म के एकत्व का "कार्य कारण से आत्मवान् है, कारण कार्य से नहीं" इस उक्ति में निषेध किया गया है,[६१] प्रपंच रूप जगत् ब्रह्मात्मक है, ब्रह्म प्रपंचात्मक नहीं,[६२] अतः जगत् का ब्रह्म से एकत्व नहीं, अपृथक् तादात्म्य है।

कार्य और कारण के सम्बन्ध की व्यंजना श्री शङ्कराचार्य ने 'अव्यतिरेक' पद से की है, जिसका अर्थ असंन्दिग्ध है और जो भाष्य ग्रन्थों में कार्य-कारण सिद्धान्त के प्रसंग में अनेक बार आया है। आधुनिक न्याय की भाषा में अव्यतिरेक पद का अर्थ अपृथक् भाव है,जिसका अभिप्राय यह है कि "एक पदार्थ की सत्ता दूसरे पदार्थ की सत्ता के ऊपर अनिवार्य रूप से निर्भर है जिसके अभाव में पूर्व पदार्थ की सत्ता सम्भव नहीं।"[६३] श्री शङ्कराचार्य ने इस पद का प्रयोग इसी अर्थ में किया है। समस्त पदार्थ और व्यवहार के आश्रयभूत आत्मा के साथ पदार्थों के अपृथक् तादात्म्य की व्याख्या करते समय उन्होंने प्रायः आधुनिक न्याय के तुल्य पदावली का प्रयोग किया है—"क्योंकि आत्मा होने पर ही उन पदार्थों की सत्ता सम्भव है और उसके अभाव में उनका भी अभाव आपन्न होगा।"[६४] कहीं कहीं उन्होंने एक अन्य पद 'अपृथक्' का प्रयोग किया है,[६५] जो 'अव्यतिरेक' पद की अपेक्षा कम पारिभाषिक है और जिसका आशय अधिक स्पष्ट है। कार्य-कारण तथा जगत्-ब्रह्म के सम्बन्ध की व्यंजना श्री शङ्कराचार्य ने दो अन्य पदों 'तादात्म्य' तथा 'अनन्यत्व' से की है जिनका अन्वय भी भ्रान्ति-वश 'एकत्व' के अर्थ में किया गया है। 'तादात्म्य' पद से श्री शङ्कराचार्य का अभिप्राय एक पदार्थ के उस पदार्थ के साथ सम्बन्ध से है जिसके बिना पूर्व पदार्थ की सत्ता सम्भव नहीं।[६६] इसी प्रकार अनन्यत्व पद की व्याख्या भी उसी सम्बन्ध के रूप में की गई है जिसमें एक पदार्थ की दूसरे

---

६१. अतो नाम रूपे सर्वावस्थे ब्रह्मणैवात्मवती न ब्रह्म तदात्मकम्।
तै० भा० २-६-१।

६२. ब्रह्म-स्वभावो हि प्रपञ्चो न प्रपञ्चस्वभावं ब्रह्म।
ब्र० सू० भा० ३-२-२१।

६३. तदभावे तदभावः व्यतिरेकः तद्भावे तद्भावोऽन्वयः।

६४. तद्भावे भावात् तदभावे चाऽभावात्। ब्र० सू० भा० २-२-२

६५. अपृथग्दर्शिणाऽऽचार्येण मां-का० भा० १-२-८।

६६. तौ तत्प्रत्याख्याने न स्त एवेति तदात्मके उच्येते। तै० भा० २-६।

पदार्थ के बिना सत्ता सम्भव नहीं।[६७] अस्तु, कार्य-कारण तथा जगत्-ब्रह्म के सम्बन्ध का मुख्य आशय कारण से पृथक कार्य की तथा ब्रह्म से पृथक् जगत् की सत्ता की असम्भावना है। भाव पक्ष में इसका आशय कार्य-कारण तथा जगत्-ब्रह्म का अपृथक् तादात्म्य सम्बन्ध है।

## ६—जगत् की सत्ता और ब्रह्म के साथ उसका सम्बन्ध : एकत्ववाद की असम्भावना

उक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो चुका है कि सृष्टिवाद तथा उसकी व्याख्या के लिये कारण-सिद्धान्त के प्रयोग का अभिप्राय जगत् की सत्ता की व्याख्या करना नहीं वरन् ब्रह्म के स्वरूप तथा ब्रह्म के साथ जगत् के सम्बन्ध का निरूपण करना है। ब्रह्म जगत् का कारण है और जगत् ब्रह्म का कार्य है, इसका यह अभिप्राय नहीं कि अविकार्य ब्रह्म का वास्तव में किसी काल विशेष में कार्य विशेष के रूप में परिणाम होता है, किन्तु इसका आशय यही है कि जिस प्रकार कारण के बिना कार्य की सत्ता सम्भव नहीं उसी प्रकार ब्रह्म के बिना जगत् की सत्ता सम्भव नहीं। जिस प्रकार कार्य-कारण के बीच एक अपृथक् तादात्म्य सम्बन्ध है उसी प्रकार जगत् और ब्रह्म के बीच अपृथक् तादात्म्य सम्बन्ध है। इसमें जगत् के मिथ्यात्व अथवा जगत् और ब्रह्म के एकत्व का कहीं भी संकेत नहीं है। यदि एक पदार्थ की सत्ता दूसरे पदार्थ की सत्ता पर आश्रित है और उसके बिना पूर्व पदार्थ की सत्ता सम्भव नहीं तो इसका अभिप्राय यह नहीं कि इस कारण पूर्व पदार्थ असत्तावान् होने के अर्थ में मिथ्या है। एक पदार्थ का दूसरे पदार्थ के साथ अपृथक् तादात्म्य सम्बन्ध है तो उसका अर्थ यह नहीं कि उनका अविविक्त-भाव के रूप में एकत्व है। अस्तु, जगत् सत्य है, यद्यपि ब्रह्म से पृथक् उसकी सत्ता की कल्पना नहीं की जा सकती, और यह नहीं कहा जा सकता कि केवल ब्रह्म सत्य है और इसके अतिरिक्त अन्य कोई 'सत्ता' नहीं है। अतः श्री शंकराभिमत वेदान्त को 'कठोर एकत्ववाद' कहने का कोई समीचीन आधार नहीं है। ब्रह्म से अपृथक् तादात्म्य भाव से जगत् की सत्ता है, अविविक्त एकत्व भाव से नहीं; अतः वेदान्त को एकत्ववाद सिद्ध करने का दूसरा कल्प भी असाध्य हो जाता है।

यहाँ पर प्रसंगवश यह विचारणीय है कि जगत् के ब्रह्म के साथ अपृथक् तादात्म्य भाव को 'सम्बन्ध' की संज्ञा भाषा और प्रयोग की सीमाओं के

६७. अनन्यत्वं व्यतिरेकेणाऽभावः। ब्र० सू० भा० २-१-१४।

कारण दी गई है। ब्रह्म के साथ अपृथक् तादात्म्य भाव से जगत् की सत्ता है। इस अपृथक् तादात्म्य भाव को साधारण अर्थ में "सम्बन्ध" नहीं समझना चाहिए। यह एक असाधारण "सम्बन्ध" भी नहीं है। वस्तुतः यह कोई भी सम्बन्ध नहीं है, क्योंकि 'सम्बन्ध' केवल एक मर्यादा सूचक पद (a limiting concept) है। एक पूर्व पक्ष वचन में किन्तु समर्थन के भाव में श्री शंकराचार्य ने मितों के साथ मितों के ही सम्बन्ध की कल्पना को संगत माना है।[६८] इससे यह स्वाभाविक निष्कर्ष निकलता है कि अमित और मित में अथवा दो अमितों में सम्बन्ध की कल्पना असंगत है। ब्रह्म निस्सन्देह अमित है, जगत् चाहे मित हो या अमित; ब्रह्म के साथ जगत् के सम्बन्ध की कल्पना असम्भव अथवा असंगत है। सम्बन्ध का भाव उन्हीं दो पद अथवा पदार्थों के बीच सम्भव है जो एक दूसरे से विभज्य हो और जिनके बीच द्वैत हो।[६९] मित अमित का न प्रतियोगी है न विरोधी, अतः न अमित से अपृथक् मित की कल्पना की जा सकती है और न उन दोनों के बीच सम्बन्ध सम्भव है। दो अमितों की कल्पना न्याय दृष्टि से असंगत है और उनका पृथक्भाव और भी अधिक अन्याय्य है। जगत् और ब्रह्म दो विभज्य पद ( Separable Terms ) नहीं है क्योंकि ये एक दूसरे से पृथक् नहीं है, अतः उनमें सम्बन्ध की कल्पना सम्भव नहीं। श्री शंकराचार्य ने जगत् और ब्रह्म के सम्बन्ध ( भाषा और प्रयोग की सीमाओं के कारण 'सम्बन्ध' पद अनिवार्य है ) की सूचना के लिये जितने पदों का प्रयोग किया है उन सब का तात्पर्य ब्रह्म से जगत् के अ-पृथक्भाव से है। सनातन रूप से ब्रह्म के साथ अ-पृथक् भाव से स्थित जगत् का साधारण अर्थ में ब्रह्म के साथ सम्बन्ध भाव अकल्पनीय है। वस्तुतः यह कोई सम्बन्ध नहीं है, फिर भी यदि भाषा और प्रयोग की सीमाओं के कारण सम्बन्ध पद का प्रयोग अनिवार्य ही हो तो हमें इस सम्बन्ध को अन्य साधारण सम्बन्धों से नितान्त भिन्न अर्थ में समझना होगा।[७०] इन तात्विक कठिनाईयों के प्रति सतर्क होने के कारण ही वेदान्त के प्रतिष्ठताओं ने उसे द्वैतवाद अथवा एकत्ववादकी संज्ञा

६८. मितानां मितेनैव सम्बन्धः। ब्र० सू० भा० ३-२-३१।

६९. सम्बद्धिभ्यां भिन्नत्वे सति द्विष्ठत्वे सति विशिष्टबुद्धिनियामकत्वम् ( सम्बन्धत्वम् )

७०. इतरसम्बन्धानवच्छिन्नमूलकसम्बन्ध।

नहीं दी। ब्रह्म के साथ जगत् के अपृथक् तादात्म्य भाव की अपूर्व कल्पना ही वेदान्त की विनम्र 'अद्वैत' संज्ञा का अभिप्राय है।

## ७—वेदान्त सर्वेश्वरवाद नहीं है—

वेदान्त को सर्वेश्वरवाद कहना और भी अधिक अनुचित है। डॉ० अर्कहार्ट ने जो सर्वेश्वरवाद के प्रेमी नहीं है, जगत् में ईश्वर की पूर्ण व्याप्ति (Immanence) के सिद्धान्त को सर्वेश्वरवाद बतलाया है और उनके मतानुसार सर्वेश्वरवाद में ईश्वर के लोकातीत (Transcendental) स्वरूप के लिये कोई स्थान नहीं है।[७१] डॉ० राधाकृष्णन् ने जो सर्वेश्वरवाद के समर्थक नहीं हैं इस मत का समर्थन किया है।[७२] अस्तु, सर्वेश्वरवाद जगत् के साथ ईश्वर के पूर्ण एकी-भाव का सिद्धान्त है। इस एकी भाव के दो प्रकार हो सकते हैं : एक दैवी सत्ता को भी लौकिक के समकक्ष बनाकर ईश्वर को प्रकृति की प्रक्रिया (Process of nature) के समानार्थक बना देना; दूसरा लौकिक सत्ता के दैवी-करण ( deification ) द्वारा प्रकृति की प्रक्रिया को ईश्वर के समानार्थक बना देना। एक की प्रगति एक निम्न-कोटि के प्रकृतिवाद (Lower Naturalism) की ओर रहती है और दूसरा एक प्रकार का भावुकतामय भौतिकवाद(Sentimental Materialism) ही है। दोनों ही प्रकारों के सर्वेश्वरवाद में ईश्वर के लोकातीत स्वरूप के लिये स्थान नहीं है। इस अर्थ में वेदान्त एक 'विशुद्ध सर्वेश्वरवाद' है यह कहना नितान्त अनर्गल है। न्याय के केवल लोकातीत ईश्वर की कल्पना के विरुद्ध श्री शंकराचार्य ने ईश्वर की जगत् में व्याप्ति की साधना की है, किन्तु साथ ही वेदान्त में ही नहीं समस्त भारतीय दर्शन में यदि कोई बात असन्दिग्ध रूप से स्पष्ट है तो वह ईश्वर का लोकातीत स्वरूप। अखिल लोक सत्ता को ईश्वर का एक चरण कहा गया है और शेष तीन चरण स्वर्ग लोक में बताये गये हैं।[७३] उपनिषदों की 'नेति नेति' की कल्पना का यदि कोई अभिप्राय है तो वह निस्सन्देह ब्रह्म का लोकातीत भाव। वह वाणी, मन, नाम, रूप सबसे परे माना गया है। वस्तुतः वह

---

71. Pantheism & C. P. 241.
72. Indian Philosophy Vol. . 1 P. 202.
७३. पादोस्य सर्वाभूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि। छा० ३-१२ ६।

सर्वव्यापक होते हुए भी सर्वातीत है।[७४] श्रीमद्भगवद्गीता में समस्त जगत् ईश्वर के एकांश रूप से संस्थित बतलाया गया है।[७५] श्री शंकराचार्य के ब्रह्म का लोकातीत स्वरूप उनके विरोधी समालोचकों ने भी स्वीकार किया है और उन पर ब्रह्म को सर्वातीत बनाकर अग्राह्य कल्पना तथा शून्य-कल्प बना देने का आक्षेप लगाया गया है। यह सब इतना स्पष्ट और असन्दिग्ध होते हुए भी समस्त भारतीय दर्शन को सामान्य रूप से और वेदान्त को विशेष रूप से 'विशुद्धतम सर्वेश्वरवाद' की संज्ञा दी गई है। हम नहीं जानते कि इसे एक प्रगाढ़ विद्वान् का महान् अज्ञान कहें या एक रूढ़िग्रस्त धर्माचार्य की अनावृत धृष्टता।

## ८—जीवत्व और व्यक्तित्व

यदि ब्रह्म के साथ अपृथक् तादात्म्य भाव से जगत् की सत्ता है तो जगत् की सत्ता के अन्तर्गत होने के कारण जीव अथवा व्यक्ति की सत्ता भी सहज अनुमेय है। व्यक्ति की सत्ता अनिवार्य रूप से ज्ञान के तथ्य का अन्तर्गत सत्य है। ज्ञान एक निरन्तर संक्रमण-शील प्रक्रिया है। उसे एक समन्वित बोध के रूप में सम्बद्ध करने के लिये एक मूलगत तथा अपरिणत चेतन-तत्व का आधार आवश्यक है। व्यक्तित्व का यह चेतन तत्व एक मित-तत्व प्रतीत होता है। किन्तु मित (Finite) की चेतना में एक अमित (Infinite) तत्व की सत्ता सन्निहित है। मितता एक मर्यादा है और मर्यादा की चेतना हमें मर्यादा के बाहर ले जाती है। अतः चेतना का मित-तत्व जिसे वेदान्त में 'जीव' की संज्ञा दी गई है हमारी सत्ता का चरम सत्य नहीं हो सकता। हमारी मित सत्ता के अन्तर्गत एक अमित अध्यात्म-तत्त्व निहित है जो इसका चरमाश्रय है। इस अमित और अखिल-व्यापक अध्यात्म तत्व में ही हमारे जीव-चैतन्य का मूल है। श्री शंकराचार्य की परिभाषानुकूल व्यक्तित्व हमारी मित सत्ता की एक 'वृत्ति' (mode) है।[७६] यथार्थ होते हुए भी इसका मित और व्यक्ति भाव व्यावहारिक है, इसके अन्तर्गत एक अमित और अखिल-व्यापक तत्व निहित है जो सत्य और चरम है। जगत् की भाँति जीवत्व और व्यक्तित्व हमारे

---

७४. इन्द्रियेभ्यः परा ह्यर्था अर्थेभ्यश्च परं मनः।
मनसस्तु परा बुद्धिः बुद्धेरात्मा महान्परः। कठ-१-३-१०

७५. विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत्। गीता० १०-४२.

७६. उपाधितन्त्रो हि जीव इत्युक्तम्। ब्र० सू० भा० २-३-४६

अनुभव का एक 'चरम तथ्य' ( ultimate fact ) है । जिस प्रकार जगत् की व्याख्या उसकी सत्ता के उद्भव के रूप में नहीं की जा सकती उसी प्रकार इसकी व्याख्या भी उद्भव के रूप में सम्भव नहीं है । श्री शंकराचार्य ने यह संकेत किया है कि वेदान्त शास्त्र में सृष्टि की किसी अवस्था में जीव की उत्पत्ति का प्रसंग नहीं आया है । उसे अनादि सत्तावान् माना गया है, जिसका अभिप्राय यही है कि जीव आगन्तुक नहीं है किन्तु एक सनातन सत्ता है जिसकी व्याख्या उद्भव के रूप में नहीं की जा सकती ।[७७] चिन्तन की इस सीमा के प्रति पूर्ण सतर्क होने के कारण ही श्री शंकराचार्य ने विनम्र भाव से यह स्वीकार किया है कि जीव के स्वरूप की इस मीमांसा का तात्पर्य जीव के स्वरूप का निरूपण करना नहीं है वरन् परमेश्वर के स्वरूप निरूपण में ही इसका पर्यवसान है ।[७८] वेदान्त का चरम प्रयोजन हमारी मित जीवसत्ता के अन्तर्भूत चरम सत्य के रूप में इस अमित और चिरन्तन अध्यात्म-तत्व की प्रतिष्ठा और इसके साक्षात्कार का जीवन के परम निःश्रेयस के रूप में प्रतिपादन है । यह मित जीव-तत्व, जिसका हमें अपरोक्ष ज्ञान है, इस अखिल-व्यापक अध्यात्म-तत्व से भिन्न नहीं है । यह उसका अन्तर्निहित सत्य है और एक तीव्र अनुभव की अवस्था में इसका साक्षात्कार सम्भव है । जीव के व्यावहारिक स्वरूप और अमित (अनन्त) ब्रह्म के स्वरूप का भेद व्यवहार और अनुभव का एक साधारण तथ्य है ।[७९] किन्तु यह भेद आत्यन्तिक भेद नहीं माना जा सकता ।[८०] श्री शंकराचार्य ने उनके चैतन्य स्वरूप की समानता पर ज़ोर दिया है ।[८१] दो चेतन तत्वों की सम्भावना का उन्होंने स्पष्ट निषेध किया है ।[८२] अन्त में केवल एक ही परम चैतन्य तत्व है जो अनन्त और व्यापक है तथा जो

---

७७. जीवस्य ह्यनुत्पत्तिराख्याता । ब्र० सू० भा० २-४-१ ।

७८. अयं जीवरामर्शो न जीवस्वरूपपर्यवसायी, किं तर्हि ? परमेश्वरस्वरूप पर्यवसायी । ब्र० सू० भा० १-३-२० ।

७९. स्वभावप्राप्तस्तु भेदोऽनूद्यते । ब्र० सू० भा० २-३-४८ ।

८०. न हि जीवो नाम अत्यन्तभिन्नो ब्रह्मणः । ब्र० सू० भा० १-१-३२

८१. आत्मानौ हि तावभावपि चेतनौ समानस्वभावौ

ब्र० सू० भा० १-१-३१ ।

८२. न हि नित्यमुक्तस्वरूपात् सर्वज्ञादीश्वरादन्यश्चेतनो धातुर्द्वितीयो वेदान्तार्थनिरूपणायामुपलभ्यते । ब्र० सू० भा० २-३-३० ।

व्यक्ति आबद्ध है) कोई असामंजस्य नहीं। यदि मोक्ष यहाँ और इस जीवन सत्ता और चेतना की समस्त मित व्यक्तिओं (वृत्तियों) का अन्तर्निहित आधार और आश्रय है तथा उनके 'व्यक्तित्व' का पोषक है। इसमें कोई विरोध नहीं है क्योंकि मित न अमित का प्रतियोगी है और न विरोधी। मित और अमित एक दूसरे के बहिर्गत पद या पदार्थ नहीं है जो वे एक दूसरे की मर्यादा बन सकें। हमारी भौतिक सत्ता की मितता का हमारी आध्यात्मिक सत्ता की अमितता से कोई असामंजस्य नहीं है। आत्मा का स्वरूप स्वतन्त्र है, और स्वतन्त्रता का अर्थ है अनन्तता। चेतना के अन्तर्गत एक ऐसा तत्व है जो समस्त चेतना के विषय से अतीत है। व्यक्तित्व और मितता की चेतना में एक अनन्त और व्यापक अध्यात्म-तत्व निहित है जो उनसे सीमित नहीं हो सकता।

श्री शंकराचार्य के मोक्ष के स्वरूप की कल्पना के विश्लेषण से उक्त कथन का समर्थन हो सकता है। उनके अनुकूल ब्रह्मात्मभाव का साक्षात्कार ही मोक्ष है। यह साक्षात्कार अद्वैतज्ञान स्वरूप है और एक मनोवृत्ति मात्र है।[८३] यह मोक्ष कोई अवस्था-विशेष नहीं है।[८४] यह यहीं इस जीवन और जगत् में ही साध्य है।[८५] यह आत्मा का साक्षात्कार है जिसका स्वरूप अशरीरी है; किन्तु शरीरसत्ता की भौतिक सत्ता का इसके साक्षात्कार से कोई विरोध नहीं है। वेदान्त की समस्त साधन प्रक्रिया से यह स्पष्ट लक्षित होता है कि मोक्ष व्यक्तिगत साध्य है। किसी ने अभी तक मोक्ष प्राप्त नहीं किया है यह मान्य नहीं।[८६] यदि अतीत काल में कुछ व्यक्तियों ने मोक्ष प्राप्त किया है तो यह स्पष्ट है कि आत्मा की अनन्तता का (जिसका

---

८३. ब्रह्मभावश्चमोक्षः। अद्वैतज्ञानं मनोवृत्तिमात्रम्।

छां० भा० १-१-१।

८४. नाऽयं व्यवहाराभावोऽवस्थाविशेषोपनिबद्धोऽभिधीयते।

ब्र० सू० भा० १-१-४

८५. इहैव अविद्याकृतकामकर्मबन्धनैर्विमुक्तो भवति।

कठ० भा० ३-२-१

तस्मादिहैव ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येति, न शरीरपातोत्तरकालम्।

बृह० भा० ४-४-६।

८६. न चैतावता कालेन कस्यापि ज्ञानं न जातमिति साम्प्रतम्।

वेदान्तसिद्धान्त मुक्तावली।

साक्षात्कार मोक्ष में अभिप्रेत है ) भौतिक सत्ता की मितता से (जिसमें शेप में प्राप्य है तो हमारी आध्यात्मिक सत्ता की अनन्तता का हमारी शारीरिक सत्ता की मितता से कोई विरोध नहीं। वेदान्त शास्त्रों में गुरु को प्रायः ब्रह्मिष्ठ अथवा ब्रह्मनिष्ठ कहा गया है।[८७] जिसका अभिप्राय उस व्यक्ति से है जो ब्रह्म में संस्थित है। उसकी 'अपृथक् दर्शी'[८८] संज्ञा से यह सिद्ध है कि मोक्ष जीवन और जगत् के प्रति एक आध्यात्मिक 'दृष्टि कोण' है जिसका शारीरिक सत्ता की मितता और जीवन की क्रियाओं से कोई असामंजस्य नहीं। लोकसंग्रह के लिये ( निष्काम) कर्म करना श्री शंकराचार्य ने चरम आध्यात्मिक सिद्धि से संगत ही नहीं वरन् मुक्तों के लिए वाञ्छनीय माना है।[८९] बहुत से मुक्तात्माओं के कुछ आध्यात्मिक अधिकार के साथ जगत् में पुनरवतार लेने और उस अधिकार को सम्पन्न करने के लिये पुनः शरीर धारण करने का प्रसंग भी आता है।[९०] इन सब से यह सिद्ध होता है कि न तो उस अनन्त आध्यात्मिक तत्व की परमार्थता का और न हमारी सत्ता के चरम सत्य के रूप में उसके साक्षात्कार का हमारी व्यक्तिमत्ता अथवा शरीर-मितता के साथ कोई असामंजस्य है। 'अहं ब्रह्मास्मि' के रूप में मोक्ष का निरूपण और यह समर्थित करता है कि मोक्ष अथवा आत्म साक्षात्कार का 'आत्म चैतन्य' से (जो व्यक्तिमत्ता का सार है ) कोई विरोध नहीं। उक्त महा वाक्य के 'अहम्' का अभिधार्थ नहीं लक्षणार्थ ही ग्रहण करना चाहिये, क्योंकि यह आत्म-चैतन्य की 'अहंकारता' का द्योतक नहीं वरन् चेतना की एक-केन्द्रीयता का व्यंजक है जो व्यक्तित्व का आधार है। यदि मोक्ष एक ऐसा अनुभव है जो यहाँ और इस जीवन में अपनी सीमित शरीर सत्ता का परित्याग किये बिना भी प्राप्त किया जा

---

८७. प्रश्न० उप० ३-२ । मुं० उप० १-२-१२
प्रश्न० उप० १-१ । मुं० उप० ३-२-१०

८८. केवलेऽद्वये ब्रह्मणि निष्ठा यस्य सोऽयं ब्रह्मनिष्ठः ।
मुं० भा० १-२-१२ ।
अपृथक् दर्शिना आचार्येण । कठ १-२-८ ।

८९. न आत्मविदः कर्त्तव्यमस्ति लोकसंग्रहंमुक्त्वा ।
गी० भा० ३-३६ ।

९०. यावदधिकारमवस्थितिरधिकारिणाम् ।
ब्र० सू० भा० ३-३-३२ ।

सकता है और आत्म-चैतन्य के रूप में जिसकी अभिव्यक्ति होती है, तो यह नहीं कहा जा सकता कि मोक्ष एक अतल शून्य गर्त में हमारी सत्ता का विलय है। मोक्ष हमारी व्यक्तिगत सत्ता का एक अवैयक्तिक सत्ता में विलय नहीं है वरन् एक आध्यात्मिक अनन्तता में इसका विकास है जो इसका अन्ततम सत्य है। हमारी सत्ता की अखण्डता का जो जीवत्व का सार है और चेतना की केन्द्रीयता का जो व्यक्तित्व का आधार है, उस अध्यात्मतत्व की अनन्तता और अखिल व्यापकता के साथ कोई असामंजस्य नहीं है जो हमारी सत्ता का चरम सत्य है और जिसकी प्राप्ति हमारे जीवन का परम पुरुषार्थ है।

## ९—अद्वैत का स्वरूप

इस प्रकार हम देखते हैं कि इस अर्थ में कि 'आत्मा के अतिरिक्त' अन्य किसी की सत्ता नहीं है, आत्मा ही एक मात्र सत्य नहीं है। किन्तु इस अर्थ में कि 'आत्मा से पृथक्' किसी वस्तु की सत्ता नहीं है आत्मा निस्सन्देह एकमात्र सत्य है। वह ऐकान्तिक और चरम है, इस अर्थ में वह परम सत्य भी है। यह नहीं कि जिस वस्तु की 'आत्मा से पृथक्' सत्ता की कल्पना की जायगी वह 'असत्' है, वरन् यह कि प्रत्येक वस्तु जिसकी सत्ता की कल्पना की जा सकती है वह आत्मा के साथ अपृथक्-तादात्म्य-भाव से ही स्थित है और आत्मा से पृथक् सत्ता रखने वाली प्रत्येक वस्तु 'असत्' है क्योंकि वह एक कल्पना मात्र है। वास्तव में प्रत्येक सत्तावान् वस्तु आत्मा से अपृथक्-तादात्म्य-भाव से ही वर्तमान है, आत्मा से पृथक् किसी वस्तु की सत्ता अकल्पनीय है। यदि 'आत्मा' और 'ब्रह्म' पदों के द्वारा इस भाव को समझने का प्रयत्न किया जाय तो यह स्पष्टतर हो सकेगा। यद्यपि इन दो पदों की भाव-भंगिमा के भेद का अनुसरण वेदान्त में सर्वत्र नहीं किया गया है, और प्रायः इनका प्रयोग समानार्थ में किया गया है, फिर भी यह भेद नितान्त निराधार नहीं है क्योंकि अपने मूल अर्थ में 'आत्मा' पद की लक्षणा एक आन्तरिक और 'ब्रह्म' की लक्षणा एक बाह्य प्रसंग में प्रतीत होती है। यद्यपि वे दोनों ही पद एक ही तत्व के दो पक्षों के प्रतीक हैं जो सम्पूर्ण सत्य है, फिर भी उन दोनों की अर्थ-लक्षणा में भंगिमा का भेद है। 'आत्मा' एक अन्तर्मुखी तत्व है और सत्य का आन्तरिक पक्ष है। वह स्वतः एक 'अखण्ड एकत्व' है और इसमें 'भेद-अंश' का किंचिन्मात्र भी समवाय नहीं है। ऐकान्तिक और चरम तत्व के अर्थ में यह परम सत्य है, जैसा कहा जा चुका है। 'ब्रह्म' सत्य के

बहिर्मुख पक्ष का द्योतक तत्व है। इसमें एक अपृथक्-तादात्म्य-भाव के रूप में अखिल अन्तर्बाह्य सत्ता का समन्वय हो जाता है। ब्रह्म की कल्पना में आत्मा का अखण्ड आन्तरिक एकत्व रूप अक्षुण्ण रहते हुए भी उसमें बाह्य प्रतीत होने वाले तत्व का भी अन्तर्भाव हो जाता है। यह ब्रह्म 'केवल सत्य है' जैसा कि उपर कहा गया है क्योंकि ब्रह्म से पृथक् किसी वस्तु की सत्ता नहीं हैं, और प्रत्येक सत्तावान् वस्तु की सत्ता ब्रह्म के साथ अपृथक्-तादात्म्य-भाव से है।

ब्रह्म के इस स्वरूप की कल्पना योरोपीय 'ऐकान्तिक वाद' ( Absolutism ) के 'कृत्स्न' (whole) की कल्पना से बहुत कुछ साम्य रखती है। उनमें कुछ समानता होते हुए भी बहुत प्रधान भेद है। वेदान्त का ब्रह्म एक आध्यात्मिक तत्व ( spiritual ) है और सत्य ( real ) है। 'ऐकान्तिकवाद' का 'कृतस्न' नैय्यायिक तत्व (logical) और सम्भव (possible) है। यद्यपि ब्रेडले ने यह सिद्ध करने की चेष्टा की है कि नैय्यायिक तत्व (logical) ही सत्य ( real ) है किन्तु ब्रेडले का यह तर्क कि नैय्यायिक तत्व संभव है और जो संभव है वह सत्य है, पूर्णतः माननीय नहीं। यह मान लेने पर भी एक भेद स्पष्ट शेष रह जाता है कि 'ऐकान्तिकवादी' का 'कृत्स्न' एक नैय्यायिक सम्भावना के माध्यम के द्वारा ही सत्य है, और वेदान्तिक ब्रह्म अपरोक्ष रूप से सत्य है। एक न्याय-प्रक्रिया द्वारा ऐकान्तिकवादी आत्मा को मिथ्या 'प्रतीत्य' (appearance) सिद्ध करता है; किन्तु प्रत्येक मित प्रतीत्य (finite-appearance ) का अन्तर्गत व्याघात एक ऐकान्तिक और अनन्त 'कृत्स्न' की सम्भावना की ओर संकेत करता है जिसमें समस्त व्याघातों का समाधान हो जाता है और इस सम्भावना के आधार पर उक्त न्याय द्वारा यह 'नैय्यायिक कृत्स्न' ( logical whole ) एक 'पारमार्थिक सत्य' ( metaphysical reality ) के रूप में प्रतिष्ठित किया गया है। वेदान्त की, विशेषकर श्री शंकर सम्मत वेदान्त की, प्रक्रिया इसके विपरीत है। श्री शंकराचार्य ने तर्क से नहीं अनुभव से, प्रतीत्यों के विश्लेषण से नहीं किन्तु उस सत्य के अपरोक्ष अनुभव से जो प्रतीत्यां के बोध के मूल में निहित है, आरंभ किया है। अतः मितों की अनेकरूपता के प्रपंच में न उलझ कर वे एक अखण्डैकरूप आत्मा तक पहुँच सके जो उस प्रपंच का आधार और आश्रय है। इस अखण्डैकरूप आत्मा की अभिव्यक्ति स्वाभाविक रूप से अखिल अन्तर्बाह्य सत्ता के समवाय रूप ब्रह्म में होती है क्योंकि प्रपं-

चात्मक बाह्य सत्ता इस अखण्डैकरूप आत्मा से पृथक् नहीं है जो उसका अन्तर्गत सत्य है। वेदान्त में यह अखण्डैकरूप आत्मा अखिलअन्तर्बाह्य सत्ता के समवाय रूप ब्रह्म के समानार्थक मानी जाती है इसका कारण यह है कि आत्मा ब्रह्म के अन्तर्भूत एक अंश ( element ) नहीं किन्तु उसका मूल स्वरूप तथा अन्तर्तम सत्य है। ब्रह्मसमवाय में अन्तर्हित हो जाने वाली प्रपंचात्मक सत्ता इस अर्थ में तो ब्रह्म के अन्तर्गत एक अंश मानी जा सकती है कि वह ब्रह्म के अन्तर्गत एक विवेच्य ( distinguishable ) तत्व है किन्तु उसके आधारभूत अखण्ड आत्मतत्व में भेद ( difference ) उत्पन्न करने वाले पृथक् तत्त्व के अर्थ में वह अंश नहीं मानी जा सकती।[९१] प्रपंच ज्ञान-गत बाह्याभिमुख अनुषंग ( objective reference ) का प्रतीक है किन्तु सत्तागत बाह्यांश ( external element ) नहीं। यह सत्य की अखण्डता में भेद उत्पन्न नहीं कर सकता,हाँ अखंड सत्य के अन्तर्गत विवेच्य है। यह एक विवेच्य तथ्य ( distinguishable existence ) है किन्तु एक 'विभक्त तत्व' (distinct reality) नहीं। यह स्वरूप से 'सत्तावान्' है किन्तु ब्रह्म के साथ अपृथक् तादात्म्य भाव से ही 'सत्य' है। तादात्म्य की यह विलक्षण कल्पना ही वेदान्त के प्रतिष्ठाताओं द्वारा सतर्कता पूर्वक दी गई उसकी अद्वैत संज्ञा का आधार है।

## १०—मायावाद: सामान्यत: स्वीकृत मत

यहाँ पर यह विचार कर लेना नितान्त न्याय संगत होगा कि यदि सृष्टिवाद वेदान्त की एक रूढ़ि अथवा मर्यादा मात्र है और यदि सृष्टि-श्रुतियाँ अर्थवाद मात्र हैं (तात्विक सिद्धान्त नहीं)तो मायावाद के सिद्धान्त का वेदान्त में क्या स्थान है और वेदान्त सम्प्रदाय में इसके इतने महत्व का क्या समाधान है ? "मायावाद अथवा जीवों और जगत्प्रपंच के मिथ्यात्व का सिद्धान्त प्राचीन भारतीय दर्शन का प्राण है।"[९२] वेदान्त दर्शन की तो मुख्य-विशेषता ही मायावाद है। सामान्यतः कहा जाता है कि श्री शंकराचार्य ने उपनिषदों के आधार पर इस सिद्धान्त का विकास किया। कुछ लोग श्री शंकराचार्य को मायावाद का प्रवर्तक भी मानते हैं। मैक्समूलर का कथन है कि

---

९१. यस्यविश्वात्मकत्वेऽपि खण्ड्यते नैकपिण्डता।
वेदान्तसिद्धान्तमुक्तावली।

92. Gough : Philosophy of Upanishads: p. 237.

मायावाद के सिद्धान्त सहित जिस कठोर एकत्ववाद का श्रीशंकराचार्य ने प्रतिपादन किया है वह उनका अपना ही मत है।[९३] कुछ अन्य लोगों का मत है कि मायावाद का सिद्धान्त श्री शंकराभिमत वेदान्त का भी मौलिक अंग नहीं है, वरन् वेदान्त के श्री शंकर के परवर्त्ती आचार्यों ने उसे शांकर-वेदान्त पर आरोपित कर दिया है। कोलब्रुक ( Colebrooke ) का कथन है कि 'यह सिद्धान्त कि अखिल प्रपंचात्मक-जगत् माया है, जाग्रत अवस्था में जीव को अवगत होने वाला समस्त प्रपंचजात कल्पना प्रतीति मात्र है, प्रत्येक प्रतीत्य पदार्थ मिथ्या और काल्पनिक है, वेदान्त के मूल शास्त्र का सिद्धान्त नहीं जान पड़ता। ब्रह्मसूत्रों और उनके शांकर भाष्य में इस सिद्धान्त के समर्थन के लिये मुझे कोई आधार नहीं मिला। हाँ परवर्ती प्रकीर्ण ग्रन्थों और टीकाओं में उसके लिये बहुत कुछ आधार है। मेरे मत में यह प्राचीन वेदान्त का मौलिक सिद्धान्त नहीं है, वरन् किसी अन्य शाखा का सिद्धान्त है जहाँ से परवर्ती लेखकों ने इसे ग्रहण कर दोनों सम्प्रदायों को मिश्रित कर भ्रान्त कर दिया। प्राचीन वेदान्त का सिद्धान्त इस परवर्ती आरोपण के बिना ही पूर्ण और संगत है।'[९४] गफ़ (Gough) ने कोलब्रुक के इस कथन को 'आदि से अन्त तक असत्य'[९५] माना है। वह कोलब्रुक के इस मत को निराधार और मिथ्या मानते हैं।[९६] 'श्री शंकराचार्य में भी मायावाद के लिये कोई आधार नहीं मिलता' कोलब्रुक के इस मत के खंडन के लिये गफ़ ने कॉवेल ( Cowell ) के मत की ओर संकेत किया है।[९७] गफ का कथन है कि 'यह समझना कठिन है कि शांकर भाष्य अथवा वेदान्त सूत्रों पर श्री शंकराचार्य के भाष्य के विषय में कोलब्रुक किस प्रकार ऐसी भूल कर सके।' उनका विश्वास है कि 'शांकर भाष्य पर एक सरसरी दृष्टि डालने से ही यह स्पष्ट हो जाता है कि मायावाद का सिद्धान्त प्रत्येक पृष्ठ पर प्रतिपादित अथवा अभिप्रेत है।'[९८] सूत्रों के विषय में उनका कथन है कि

93. Six Systems: p. 153.

९४. Gough द्वारा अपने Philosophy of Upanishads नामक ग्रन्थ में उद्धृत p. 237.

९५. वही p. 238.

९६. वही p. 238.

९७. वही p. 238.

९८. वही p. 239.

'चाहे माया शब्द का प्रयोग सूत्रों में न हुआ हो फिर भी यह सिद्ध किया जा सकता है कि मायावाद का सिद्धान्त सूत्रों में पाया जाता है।'[९९] उपनिषदों के सम्बन्ध में अनेक उपनिषदों से मायावाद के समर्थक 'प्रभूत उद्धरण' देकर वे इस परिणाम पर पहुँचते हैं कि 'मायावाद का सिद्धान्त कोई आधुनिक आविष्कार नहीं है। यदि शब्द नहीं तो विचार उपनिषदों में सर्वत्र वर्तमान है और वह उपनिषद् दर्शन का अविभाज्य अंग है। शब्द का प्रयोग भी प्रायः हुआ है। उपनिषदों में मायावाद अस्फुट रूप से अभिप्रेत होने से अधिक व्यक्त है, और उत्तर वेदान्त सम्प्रदाय में तो वह पूर्ण रूप से स्फुट तथा व्यक्त है। कोलब्रुक का यह कथन नितान्त निराधार है कि प्राचीन वेदान्त इस सिद्धान्त के बिना ही पूर्ण और संगत है। और यह मायावाद कोई परवर्ती आरोपण नहीं है, वरन् उपनिषदों के प्राचीन दर्शन का एक महत्वपूर्ण अंग है। श्री शंकराचार्य ने इस सिद्धान्त को उपनिषदों में पाया और हम भी खोजने पर उसे वहाँ अवश्य पायेंगे।[१००]

प्रोफेसर रानडे ने उपनिषदों में मायावाद के समर्थक पन्द्रह उद्धरण देकर यह मत प्रकट किया है कि 'यद्यपि माया शब्द का प्रयोग उपनिषदों में बहुत बार नहीं हुआ है फिर भी 'माया' शब्द का अन्तर्गत भाव उनमें वर्तमान है, और यद्यपि हम उपनिषदों में गौड़पाद तथा परवर्ती आचार्यों के इतने विकसित रूप में मायावाद का सिद्धान्त नहीं देखते फिर भी उनमें वह सब सामग्री मिल जाती है जिसके आधार पर श्री शंकराचार्य ने मायावाद का विकास किया होगा।'[१०१] और अन्त में वे इस परिणाम पर पहुँचे हैं कि श्री शंकराचार्य ने केवल उन भावों का विस्तार किया जो उन्हें उपनिषदों में मिले और उनको अपने अद्वैत वेदान्त के रूप में गुम्फित कर दिया।[१०२]

अस्तु, सामान्यतः स्वीकृत मत यही है कि उपनिषदों में अस्फुट रूप में मायावाद का सिद्धान्त वर्तमान है और श्री शंकराचार्य ने अपने अद्वैत वेदान्त

९९. वही p. 239.

१००. गफ़ द्वारा अपने Philosophy of Upanishads नामक ग्रन्थ में उद्धृत P. 258

१०१. रानडे Constructive Survey. p. 227.

१०२. वही P. 224.

में उसका पूर्ण विस्तार किया है। एक सीमा तक यह मत सत्य भी है। यदि इसका आशय यह है कि ईश्वर की सृजन-शक्ति के रूप में माया उपनिषदों और श्री शंकराचार्य में पाई जाती है तो यह सत्य है। यदि इसका यह आशय है कि अज्ञान अथवा अविद्या के अर्थ में माया उनमें पाई जाती है तो भी यह सत्य ही है। किन्तु यदि इसका अभिप्राय यह है कि जगत् के मिथ्यात्व के अर्थ में उनमें माया पाई जाती है तो इस मत की यथार्थता विवादास्पद है। वेदान्त में माया शब्द का प्रयोग कई अर्थों में हुआ है। वे भाव भी जो शब्द के अभाव में माया सिद्धान्त का संकेत करते है अनेक-विध है। सामान्य रूप से यह सिद्ध कर देना पर्याप्त नहीं है कि मायावाद का सिद्धान्त उपनिषदों और श्री शंकराचार्य दोनों में पाया जाता है। हमें शब्द का तथा शब्द के अभाव में सिद्धान्त को लक्षित करने वाले भावों का सभी पक्षों को लेकर विश्लेषण करना चाहिये। हम इस विषय में एक यथार्थ मत पर तभी पहुँच सकते हैं जब कि हम यह स्पष्ट कर सकें कि किस अर्थ में मायावाद उपनिषदों और श्री शंकराचार्य में पाया जाता है।

## ११—उपनिषदों में मायावाद

ऊपर यह संकेत किया जा चुका है कि उपनिषदों में सृष्टि को एक तात्विक तथ्य मान कर उसकी व्याख्या करने की चेष्टा की गई है। किन्तु सृष्टि का तात्पर्य जगत् की सत्ता का उद्भव नहीं है। ब्रह्म में अव्यक्त भाव से जगत् की सत्ता सनातन है और सृष्टि केवल नाम रूप के रूप में उसकी अभिव्यक्ति है। ईश्वर की सृजन-शक्ति जिसके द्वारा नाम-रूप-मय जगत् की अभिव्यक्ति होती है हमारी सीमित बुद्धि से परे होने के कारण रहस्यमय भले ही हो, किन्तु इसकी रहस्यमयता के कारण इसे माया अथवा मिथ्या सृष्टि का सिद्धान्त नहीं कहा जा सकता। जगत् की सत्ता का उद्भव किस प्रकार होता है अथवा यों कहना अधिक यथार्थ होगा, जगत् किस प्रकार हमारे ज्ञान का आलम्बन बनता है, यह समझना सम्भव न होने के कारण यह नहीं कहा जा सकता कि उसकी सत्ता मिथ्या है। हमारी ज्ञान-शक्ति की सीमा तात्विक तथ्यों की सीमा नहीं बन सकती। अव्यक्त सत्ता असत्ता की समानार्थक नहीं। अव्यक्त जगत् की अभिव्यक्ति एक मिथ्या सत्ता का सृजन नहीं है।

गफ़ और प्रो० रानडे ने जितने उदाहरण उपनिषदों में मायावाद की उपस्थिति सिद्ध करने के लिये दिये हैं वे सब केवल ईश्वर की सृजन-शक्ति

अथवा जीव की अविद्या के अर्थ में ही मायावाद के व्यंजक हैं। ईशोपनिषद् में अन्धत्व की, छान्दोग्य में अविद्या के आवरण की, प्रश्नोपनिषद् में जिह्म और अनृत की कल्पना[103] केवल अविद्या के मानसिक सिद्धान्त की द्योतक है, जगत् की मिथ्या सृष्टि के तात्विक सिद्धान्त की व्यंजक नहीं। यह सत्य है कि यह पिधान अथवा आवरण तत्व को हमारी दृष्टि से छिपाता है, किन्तु इसका मूल हमारी भौतिक और मित सत्ता में है और उसी पर उसकी छाया पड़ती है सत्य (तत्व) पर नहीं। 'असत्' शब्द का प्रयोग असत्ता के अर्थ में नहीं वरन् व्याकृत नाम-रूप विशेष से विपरीत अव्याकृत जगत के अर्थ में किया गया है।[104] बृहदारण्यक-उपनिषद् के 'द्वैतमिव'[105] का तात्पर्य यह नहीं कि विषय-विषयी का द्वैत एक अर्धसत्ता अथवा काल्पनिक प्रतीति है[106] किन्तु उसका तात्पर्य केवल ब्रह्म में द्वैत का निषेध मात्र[107] तथा प्रपंचात्मक जगत् की पृथक सत्ता का निराकरण मात्र है।[108] छान्दोग्य उपनिषद् के प्रसिद्ध मन्त्रपद का अर्थ जिससे 'गफ़' ने जगत् के मिथ्यात्व[109] का भाव ग्रहण किया है यह नहीं है कि केवल मृत्तिका ही सत्य है और उसके समस्त विकार मिथ्या हैं किन्तु उसका तात्पर्य यह है कि मृत्तिका ही सत्य तत्व है और उसके विकार उसके प्रतीत्य रूप हैं।[110] "मृतिका से बनी हुई प्रत्येक वस्तु मृत्पिण्ड से कैसे जान ली जाती है?" इस प्रश्न के उत्तर में श्रीशङ्कराचार्य ने कहा है कि "क्योंकि कार्य कारण से

---

१०३. रानडे Constructive Survey : P. 225-228
२२५-२२८।

१०४. असदिति व्याकृतनामरूपविशेषविपरीतरूपमव्याकृतं ब्रह्मोच्यते, न पुनरत्यन्तमसत्। तै० भा० २-१।

१०५. यत्र द्वैतमिव भवति तदितर इतरं पश्यति। बृह० उप० २-४-१४।

१०६. गफ़ Philosophy of Upanishads: p. 245.

१०७. परमार्थतोऽद्वैते ब्रह्मणि द्वैतमिव भिन्नमिव वस्त्वन्तरमात्मनः उपलक्ष्यते। बृह० भा० २-४-१४।

१०८. नात्मव्यतिरेकेण कारकं क्रियाफलं वास्ति। बृह० भा० २-४-१४

१०९. गफ़ Philosophy of Upanishads p. 245.

११०. वागालम्बनमात्रं नामैव केवलं न विकारो नाम वस्त्विति, परमार्थ तो मृत्तिकेत्येव मृत्तिकैव तु वस्त्वस्ति। छां० भा० ६-१-४

अनन्य है।"[१११] यह जगत् के मिथ्यात्व का उदाहरण नहीं वरन् कारण से कार्य के तथा ब्रह्म से जगत् के अनन्यत्व का सूचक है। उपनिषदों के उदाहरण जो आत्मा की 'केवल' सत्ता का प्रतिपादन करते हैं तथा प्रपञ्च और भेद का निषेध करतें हैं, उनका अभिप्राय भी जगत् का मिथ्यात्व प्रतिपादन नहीं है, जैसा कि गफ़ का विचार है।[११२] आत्मा को 'केवल' सत्ता इस अर्थ में माना गया है कि आत्मा से पृथक् किसी वस्तु की सत्ता नहीं है और प्रत्येक वस्तु आत्मा के साथ अपृथक-भाव से स्थित है। यह नहीं कि जिस वस्तु की आत्मा से पृथक सत्ता की कल्पना की जाय वह मिथ्या है, वरन् यह कि आत्मा से पृथक् किसी वस्तु की सत्ता की कल्पना ही नहीं की जा सकती। प्रपंच और भेद के निषेध का तात्पर्य भी जगत की सत्ता का निषेध नहीं किन्तु आत्मा के अखण्ड स्वरूप का संकेत मात्र है। श्री शङ्कराचार्य ने 'इह' पद का अर्थ सदा 'इह ब्रह्मणि' अर्थात् 'यहाँ ब्रह्म में' किया है। अस्तु इसका अर्थ यह नहीं कि 'यहाँ कहीं भी कोई भेद नहीं है' वरन् यह कि 'यहाँ ब्रह्म में कोई भेद नहीं है।'[११३] उन उदाहरणों से जिनमें ईश्वर की सृजन शक्ति के रूप में माया का प्रसंग आता है केवल सृष्टि के व्याकरण की साधिका शक्ति की सत्ता सिद्ध होती है, माया या मिथ्यात्व के सिद्धान्त की सत्ता नहीं। उपनिषदों के ऋषि जगत् को सत्य मान कर उसके उद्भव की व्याख्या कर रहे थे, अतः अनन्त आश्चर्यों के विश्व की उद्भाविका एक अनन्त और रहस्यमय शक्ति की कल्पना उनके लिये स्वाभाविक थी। किन्तु इस सब में जगत् के मिथ्यात्व का तनिक भी संकेत नहीं है। 'यथोर्णनाभिः" वाले मंत्र में 'ऊर्णनाभिः" से जहाँ सृष्टिकर्त्ता की उपमा दी गई है वहाँ श्री शङ्कराचार्य ने उसकी व्याख्या इस प्रकार की है, "जिस प्रकार ऊर्णनाभि आत्म-व्यतिरिक्त किसी कारणान्तर की अपेक्षा न करके स्वशरीराऽव्यतिरिक्त तन्तुओं से ही जाले का निर्माण करता है उसी प्रकार ईश्वर भी आत्माऽव्यतिरिक्त कारण से ही नामरूपमय जगत का व्याकरण करता है।[११४]

---

१११. कारणादनन्यात्वात्कार्यस्य। छां० भा० ६-१-४

११२. गफ़ Philosophy of Upanishads p. 247.

११३. इह ब्रह्मणि अनाना भूते। कठ० भा० २-१-१०
इह ब्रह्मणि नाना नास्ति। कठ० भा० २-१-११

११४. ऊर्णनाभिः लूताकीटः किञ्चित्कारणान्तरमनपेक्ष्य स्वयमेव सृजते स्वशरीराव्यतिरिक्तानिव तन्तून्बहि प्रसारयति। मुं० भा० १-१-७

वे नाम रूप भी जिनके रूप में जगत् का व्याकरण होता है किसी भी काल में ईश्वर से पृथक् सत्ता नहीं रखते,[११५] और जब उनका व्याकरण होता है तो ईश्वर के साथ अपृथक्-भाव से स्थित ही वे व्याकृत होते हैं। बृहदारण्यक का वह उदाहरण जो ऋग्वेद का अनुवाद सा प्रतीत होता है और जिसमें इन्द्र के माया द्वारा विचित्र रूप धारण करने का वर्णन है, उसमें भी उन रूपों का मिथ्यात्व इतना अभिप्रेत नहीं है जितना कि उस शक्ति की रहस्यमयता जिसके द्वारा वह उन रूपों को धारण करता है।[११६] प्रश्नोपनिषद् के उद्धरण में[११७] जो प्राचीन उपनिषदों में 'माया' शब्द के प्रयोग का एक मात्र उदाहरण है, 'माया' पद का प्रयोग नैतिक प्रसंग (Ethicai context) में किया गया है। वहाँ उसका अर्थ न ईश्वर की रहस्यमयी सृजन-शक्ति है और न हमारी अविद्या किन्तु आचार की कुटिलता (crookedness of conduct) अथवा मिथ्याचार रूपा छलना।[११८] कठोपनिषद् भाष्य में श्री शङ्कराचार्य ने प्रश्नोपनिषद् के इस मन्त्र भाग को समान प्रसंग में उद्धृत किया है और मिथ्याचार रूपा माया के विपरीत सत्य को वाक्, मन और शरीर द्वारा आचार की ऋजुता (straightness) बतलाया है।[११९] प्रश्नोपनिषद् के उस मन्त्रभाग में 'अनृत' शब्द का प्रयोग नैतिक पाप के अर्थ में हुआ है।[१२०] ऋत की कल्पना एक वैदिक कल्पना है। प्राकृतिक व्यवस्था (natural order) से आरम्भ होकर नैतिक व्यवस्था (moral order) के अर्थ में इसका भाव विकसित हुआ है।[१२१] प्रश्नोपनिषद् में एक ही प्रसंग में प्रयुक्त होने

---

११५. न हि आत्मनोऽन्यत् तत्प्रविभक्तदेशकालं भूतं भवद् भविष्यद्वा वस्तु विद्यते। तै० भा० २-६।

११६. रानडेः Costructive Survey p. 227.

११७. न येषु जिह्ममनृतं न माया चेति। प्र० उ० १-१६।

११८. मायानाम बहिरन्यथात्मानं प्रकाश्यान्यथैव कार्यं करोति सा मिथ्याचाररूपा। प्रश्न० भा० १-१६।

११९. सत्यमिति अमायिता अकौटिल्यं वाङ्मनःकायानाम्। के० प० भा० ४८।

१२०. विरुद्धसंव्यवहारप्रयोजनवत्वात्। प्रश्न० भा० १ १६।

१२१. Hopkins: Ethics of India p. 2

वाले अनृत और माया पदों का तात्पर्य जगत् का मिथ्यात्व नहीं वरन् नैतिक आचार की कुटिलता अथवा मिथ्याचार है। इस प्रकार हम देखते हैं कि प्राचीन उपनिषदों में जगन्मिथ्यात्व के अर्थ में मायावाद का सिद्धान्त नहीं पाया जाता वरन् ईश्वर की सृजन शक्ति अथवा अविद्या अथवा मिथ्याचार के अर्थ में ही वह मान्य है।

## १२--श्री शंकराचार्य में मायावाद

श्री शंकराचार्य की रचनाओं में माया पद का प्रयोग विविध प्रसंगों और अर्थों में हुआ है। उनके सम्बन्ध में हमें इसका स्मरण रखना चाहिये कि उनके समय तक उत्तर उपनिषदों और माण्डूक्य कारिकाओं में मायावाद का विकास एक भिन्न रूप में हो चुका था। उनके उत्तर उपनिषदों के संस्मरणों के संस्कार और माण्डूक्य कारिका पर उनका विवाद ग्रस्त भाष्य इस मत के आधार हैं कि श्री शंकराचार्य ने जगन्मिथ्यात्व के अर्थ में मायावाद का विकास किया। श्वेताश्वतर उपनिषद् में, जो उत्तर उपनिषदों में सब से प्राचीन है, मायावाद के प्राचीन मत का कुछ विकसित रूप दिखाई देता है। इसमें ईश्वर की सृजन शक्ति को एक माया-मय रूप देने की चेष्टा की गई है। जगत् के सृष्टा परमेश्वर को 'मायिन्' कहा गया है।[१२२] यद्यपि 'मायिन्' शब्द का अभिधार्थ मायावान् अथवा सृजन-शक्तिमान् परमेश्वर है, किन्तु इसमें ईश्वर के मायामय (छलनामय) स्वरूप की व्यंजना-भी प्रतीत होती है। ईश्वर के लिए 'मायावी' के उपमान जो श्री शंकराचार्य की रचनाओं में बहुधा मिलते हैं[१२३] श्वेताश्वतर अथवा अन्य उत्तर उपनिषदों के आधार पर ही अवलम्बित हो सकते हैं। किन्तु विचारपूर्ण विश्लेषण करने पर हम देखेंगे कि श्री शंकराचार्य का मुख्य अभिमत सृष्टि का मिथ्यात्व नहीं वरन् ईश्वर का अविकार्यत्त्व है। 'मायावी' के उपमान का प्रयोग श्री शंकराचार्य ने अपनी सृष्टि द्वारा अस्पृष्ट रहने वाले ब्रह्म के अविकार्य स्वरूप के समर्थन के लिये किया है।[१२४] ऊपर हम देख चुके हैं कि वेदान्तिक सृष्टिवाद का सबसे महत्त्वपूर्ण अभिप्राय ब्रह्म के अविकार्य भाव का प्रतिपादन है। जब सृष्टि को एक तथ्य के रूप में

---

१२२. मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम्। श्वे० उ०।

१२३. ब्रह्म सूत्र भाष्य १-१-१७; २-१-६; २-१-२१, २-१-२८।

१२४. यथा स्वयं प्रसारितया मायया मायावी त्रिष्वपि कालेषु न संस्पृश्यते। ब्र० सू० भा० २-१-१६-२६।

स्वीकार कर लिया गया तो फिर यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि ब्रह्म का सनातन स्वरूप उससे अस्पृष्ट और अविकृत रहता है। मांडूक्य कारिका पर बौद्ध विज्ञान-वाद का स्पष्ट प्रभाव है और उसमें 'माया' पद का प्रयोग बहुत हुआ है। माण्डूक्य कारिका भाष्य में 'माया' शब्द का अधिक प्रयोग और उसके विचारों की विज्ञानवादी प्रवृत्ति श्री शंकराचार्य के मूल मत की द्योतक नहीं मानी जा सकती। भाष्यकार के रूप में उनकी मूलवश स्थिति को दृष्टि में रख कर उन्हें अनिच्छित संयोग समझना अच्छा होगा। यदि हम श्री शंकराचार्य कृत अन्य उपनिषदों के भाष्यों में, जो एक प्राचीनतर तथा सत्यतर परम्परा के प्रतीक हैं, उनके मूलमत को खोजें तो हम सत्य के अधिक निकट होंगे।

हम देख चुके हैं कि प्राचीन उपनिषदों में 'माया' पद का प्रयोग केवल एक बार प्रश्न उपनिषद् में हुआ है (यदि हम बृहदारण्यक के उस मन्त्र को छोड़ दें जो ऋग्वेद का अनुवाद सा प्रतीत होता है) और वहाँ भी उसका प्रयोग आचार की कुटिलता अथवा मिथ्याचार के अर्थ में हुआ है, जगन्मिथ्यात्व के अर्थ में नहीं। गौड़पाद कारिका के भाष्य के अतिरिक्त अन्य भाष्यों में 'माया' पद का प्रयोग बहुत कम हुआ है। प्रो० रानडे का यह कथन यथार्थ है कि उपनिषदों में मायावाद के स्वरूप और स्थान का निर्णय करने का प्रयास 'माया' पद के प्रयोग के आधार पर करना उपहासास्पद है क्योंकि वह माया वाद के सिद्धान्त को भावों में न खोज कर शब्दों में खोजने की चेष्टा करता है।[१२५] प्रो० रानडे के कथन का अभिप्राय यह प्रतीत होता है कि सत्य उन पदों का पूर्वगामी होता है जो उसके प्रतीक बनते हैं। प्रो० रानडे का कथन उपनिषदों के विषय में उपयुक्त है जो एक आध्यात्मिक क्रान्ति के युग में सत्य के लिए प्राचीनों की अनिर्दिष्ट खोज के इतिहास हैं। उस समय तक विचारों का स्वरूप निर्दिष्ट नहीं हुआ था और उन्होंने शब्दों का स्पष्ट कलेवर धारण नहीं कर पाया था। किन्तु श्री शंकराचार्य के समय तक 'माया' पद एक बहुल और साकूत ( significant ), यद्यपि विविधार्थक, प्रयोग का प्रतीक बन गया था। अतः उपनिषदों की भाँति श्री शंकराचार्य की रचनाओं में 'माया' पद के प्रयोग का एक लेखा लेना और उसके आधार पर मायावाद के विषय में उनका मत ज्ञात करने का

---

१२५. रानडे : Constructive Survey. p, 224.

प्रयास इतना उपहासास्पद न होगा। उपनिषदों में 'माया' शब्द का अभाव मायावाद के अभाव का निश्चित प्रमाण नहीं माना जा सकता। किन्तु श्री शंकराचार्य के विषय में 'माया' पद का भाव अथवा अभाव एक निरर्थक संयोग मात्र नहीं हो सकता। उनकी रचनाओं में 'माया' पद के प्रयोग की तत्तत्प्रसंग में बहुलता अथवा विरलता एक महत्त्वपूर्ण बात है और उसके सूक्ष्म विश्लेषण के बाद ही मायावाद के विषय में उनका यथार्थ मत निश्चित किया जा सकता है।

हम देख चुके हैं कि उपनिषदों में 'माया' पद का प्रयोग केवल एक बार हुआ है। श्री शंकराचार्य के उपनिषद् भाष्यों में भी इस पद का प्रयोग बहुत कम हुआ है। ईशोपनिषद् भाष्य में 'माया' पद एक बार भी प्रयुक्त नहीं हुआ है; केनोपनिषद् भाष्य में तीन बार, कठोपनिषद् भाष्य में चार-बार, मुण्डकोपनिषद् भाष्य में चार बार, प्रश्नोपनिषद् भाष्य में चार बार, ऐतरेयोपनिषद् भाष्य में तीन बार, तैत्तिरीयोपनिषद् भाष्य में दो बार, छान्दोग्योपनिषद् भाष्य में दो बार, तथा बृहदारण्यकोपनिषद् भाष्य में तीन बार प्रयुक्त हुआ है। अस्तु श्रीशंकराचार्य कृत दश उपनिषदों के भाष्यों में 'माया' पद का प्रयोग लगभग पचीस बार हुआ है। माण्डूक्य-कारिका के मूल में 'माया' पद लगभग पचीस बार आता है और भाष्य में लगभग साठ बार। श्रीमद्भगवद्गीता भाष्य में लगभग चालीस बार और ब्रह्म सूत्र भाष्य में लगभग तीस बार इस पद का प्रयोग हुआ है।

उक्त गणना का सबसे महत्वपूर्ण निष्कर्ष उपनिषद् भाष्यों में 'माया' पद के प्रयोग की विरलता और कारिका तथा कारिका भाष्य में उसकी बहुलता है। जब हम उपनिषद् भाष्यों और कारिका भाष्य के आकार की तुलना करते हैं तो यह निष्कर्ष और भी महत्वपूर्ण दिखाई देता है। कारिकाभाष्य और गीता भाष्य की तुलना में ब्रह्मसूत्र भाष्य के आकार को देखते हुए 'माया' पद का प्रयोग उसमें अधिक नहीं कहा जा सकता। यदि हम कारिका-भाष्य और गीता भाष्य के उपर विचार करें तो हम देखेंगे कि भाष्य में पद प्रयोग की बहुलता मूलपाठ के पद प्रयोग से आधार ग्रहण करती है। इससे हम केवल यही निष्कर्ष निकालना चाहते हैं कि श्री शंकराचार्य को 'माया' पद से कोई विशेष अनुराग नहीं है ( आगे चलकर हम यह भी सिद्ध करेंगे कि 'माया' पद के भाव से भी उन्हें विशेष प्रेम नहीं है )। ऊपर की गणना से उनके विचार की प्रवृत्ति स्पष्ट लक्षित हो जाती है। 'माया' पद कारिकाकार

तथा गीताकार का प्रिय है। गौड़पाद पर बौद्ध विज्ञानवाद के प्रभाव के कारण कदाचित् कारिका में 'माया' पद का बहुल प्रयोग और 'माया' के भाव का इतना महत्व हुआ हो। भगवद्गीता ने पद और भाव को कदाचित् उत्तर उपनिषदों से ग्रहण किया हो जिनमें पद-प्रयोग बहुलता से हुआ है और माया का भाव भी पूर्ण विकसित हो चुका है। कारिका भाष्य और गीता भाष्य श्री शंकराचार्य के मत के प्रतिनिधि ग्रन्थ नहीं माने जा सकते। उनके मत का यथार्थ स्वरूप उपनिषद् भाष्यों और ब्रह्मसूत्र भाष्य के आधार पर ही निश्चित किया जा सकता है। उनमें 'माया' पद के प्रयोग की विरलता अकारण नहीं है।

किन्तु यदि हम इस गणना को उचित से अधिक महत्व देने की चेष्टा करेंगे तो हम पद को ही सत्य समझ लेने के उसी उपहासास्पद दृष्टिकोण को अपनाने के दोषी होंगे जिसके प्रति प्रो० रानडे ने हमें सतर्क किया है। इस गणना से श्री शंकराचार्य की विचार धारा की प्रवृत्ति का संकेत मिलता है जो निस्सन्देह विचारणीय है। किन्तु वह निर्णायक नहीं हो सकता। मायावाद के विषय में उनके मत के निर्णय के लिये हमें उनके विचार का विश्लेषण करना चाहिये।

हम देख चुके हैं कि ईश्वर की सृजनशक्ति, जीव की अविद्या तथा आचार की कुटिलता के अर्थ में 'माया' का प्रयोग उपनिषदों में हुआ है। उक्त अर्थों में 'माया' का भाव श्री शंकराचार्य में प्रायः पाया जाता है। किन्तु यहाँ तक उनका मत सिद्धान्त पक्ष में उपनिषदों के मत से कुछ भिन्न अथवा विकसित नहीं है। अपनी सृष्टि से अस्पृष्ट और अविकृत ऐन्द्रजालिक के रूप में ईश्वर की कल्पना श्री शंकराचार्य में पाई जाती है।[१२६] किन्तु उपमा को एक दार्शनिक सिद्धान्त का पूर्ण निर्वचन मान लेना उचित नहीं। श्री शंकराचार्य ने स्वयं कहा है कि उपमा का प्रयोजन सत्य के एक पक्ष का संकेत करना मात्र है।[१२७] मायावी की उपमा केवल ब्रह्म के अविकार्य स्वरूप का निर्देश करने के लिये है। जगन्मिथ्यात्व के पक्ष पर

१२६. यथास्वयं प्रसारितया मायया मायावी त्रिष्वपि कालेषु न संस्पृश्यते। अ० सू० भा० २-१-९।

१२७. न हि दृष्टान्त-दार्ष्टान्तिकयोऽत्यन्तसाम्येन भवितव्यमिति। ब्र० सू० भा० १-२-२१।

जोर देना श्री शंकराचार्य के मत को भ्रान्त करना है जो जगत् को सत्ता रूप से सनातन मानते है। जगत् ब्रह्म की भाँति ऐकान्तिक सत्य नहीं; [१२८] किन्तु वह नितान्त मिथ्या भी नहीं हैं। ब्रह्म के साथ अपृथक्-तादात्म्य-भाव से वह सत्य है। एक चाक्षुष भ्रान्ति ( Visual illusion ) का उदाहरण भी श्री शंकराचार्य में प्रायः मिलता है। उस उपमा के दोनों अर्थ हो सकते हैं: एक भ्रान्ति के आधार की अविकार्यता,दूसरा उसकी प्रतीति का मिथ्यात्व। श्री शंकराचार्य ने यह स्पष्ट कर दिया है कि मृगतृष्णिकादि भ्रान्तियाँ भी निरास्पद नहीं हो सकती।[१२९] कई स्थलों पर उन्होंने प्रतीत्य जगत् के मिथ्यात्व का भी संकेत किया है, किन्तु उन स्थलों का विचार पूर्वक विश्लेषण करने पर ज्ञात होगा कि उनका अभिप्राय संसार ( जन्म मरण चक्र ) के मिथ्यात्व से है, जगत् की भौतिक सत्ता के मिथ्यात्व से नहीं। संसार कोई पदार्थ नहीं है, किन्तु अपने सत्य स्वरूप के अज्ञान से उत्पन्न एक मिथ्या भावना अथवा कल्पना है। [१३०] श्री शंकराचार्य की परिभाषा-नुकूल मृत्यु नश्वर शरीर के साथ अविनश्वर आत्मा के एकत्व की भ्रान्त भावना-जन्य प्रक्रिया है।[१३१] श्री शंकराचार्य ने 'अध्यास' का अर्थ 'अविद्या' किया है, जो अहंकार और कर्तृत्व भावना का रूप ग्रहण कर जीव को संसार चक्र में आबद्ध करती है।[१३२] अस्तु चाक्षुष भ्रान्ति के उदाहरणों का मुख्य प्रयोजन भी अध्यास-जन्य अविद्या अथवा वस्तु के स्वरूप की मिथ्या कल्पना है।[१३३]

अस्तु, हम देखते हैं कि श्री शंकराचार्य ने भी 'माया' पद का प्रयोग ईश्वर की सृजन शक्ति अथवा अविद्या के उपनिषद् सम्मत अर्थ में ही किया

---

१२८. न वियदादि सर्गस्याऽपि आत्यन्तिकं सत्यत्वमस्ति। ब्र० सू० भा० ३-२-५।

१२९. न हि निरास्पदाः रज्जुसर्पमृगतृष्णिकादयः क्वचिदुपलभ्यन्ते केनचित्। मा० का० भा० १-६।

१३०. अविद्याकामकर्मसंसारबीजम्। के० प० भा० ४-६।

१३१. स्वाभाविकाऽज्ञानप्रयुक्तेन्द्रियविषयसंसर्गासंगजनितेन हि पाप्मना सर्वो म्रियते सः मृत्युः। बृह० भा० १-३-१०।

१३२. तमेतमेवं लक्षणमध्यासं पण्डिता अविद्येति मन्यन्ते। अध्यास भाष्य.

१३३. अध्यासो नाम अतास्मिंस्तद्बुद्धिः। अध्यास भाष्य।

है। मायावी अथवा चाक्षुप-भ्रान्ति के उदाहरणों का अभिप्राय भी मूल सिद्धान्त से भिन्न नहीं। अस्तु, ईश्वर और उसकी सृजन-शक्ति की कल्पना एक सेश्वरवादी धार्मिक कल्पना है। उपनिषदों में इसके मिलने का कारण यह है कि वे सृजन को यथार्थ मान कर उसकी व्याख्या की चेष्टा करती हैं। श्री शंकराचार्य ने उपनिषदों के सृष्टि-प्रसंगात्मक पाठों का भाष्य बिना उनकी समालोचना किये हुये किया है, अतः उनमें भी इसका पाया जाना स्वाभाविक है। किन्तु वेदान्त में सृष्टिवाद के स्थान और महत्व के विषय में श्री शंकराचार्य के मत के अनुकूल न तो सृष्टा ईश्वर और न उसकी सृजन-शक्ति चरम तात्विक सिद्धान्त माने जा सकते हैं। जैसा हम कह चुके हैं सृष्टिवाद वेदान्त की एक रुढ़ि अथवा मर्यादा मात्र है और सृजन ब्रह्म के साथ जगत् के अपृथक् तादात्म्य का सूचक एक रूपक मात्र है। अतः ईश्वर की सृजन-शक्ति के रूप में माया की कल्पना का मूल्य बहुत कुछ कम हो जाता है और श्री शंकराचार्य के मत में माया का मुख्य महत्व अविद्या के रूप में ही शेष रह जाता है। श्री शंकराचार्य कृत उपनिषद् भाष्यों में जिनमें 'माया' शब्द का बहुत विरल प्रयोग है। 'अविद्या' शब्द के निरन्तर प्रयोग से इस निष्कर्ष की पुष्टि की जा सकती है। अध्यास भाष्य में जो श्री शंकराचार्य के मौलिक विचार का प्रतिनिधि है अज्ञान के अतिरिक्त अन्य किसी भाव के सूचक पद का अभाव अकारण नहीं है। इस सब का तात्पर्य यही है कि एक मानसिक अज्ञान के अर्थ में अविद्या, जो अहंकार और कर्तृत्व भावना तथा संसार बन्धन के रूप में फलित होती है, श्री शंकराचार्य के विचार का अन्तर्तम सिद्धान्त है। सृजनात्मक विक्षेप-शक्ति के रूप में माया की कल्पना श्री शंकराचार्य के मौलिक अविद्या सिद्धान्त के ऊपर कदाचित् गौड़पाद के प्रभाव से उत्तर वेदान्त के आचार्यों द्वारा आरोपित की गई है।

अस्तु, हम इस परिणाम पर पहुँचते हैं कि 'माया' उपनिषदों और श्री शंकराचार्य दोनों में ईश्वर की सृजन शक्ति और अविद्या तथा उसके परिणाम भूत मिथ्याचार के अर्थ में ही पाई जाती है। ईश्वर की सृजनशक्ति की कल्पना सेश्वर-धर्म (Theism) की एक सृष्टिवादी रूढ़ि (cosmological convention) है जिसका श्री शंकराभिमत वेदान्त में तात्विक मूल्य तो नहीं वरन् आलंकारिक महत्व है। यह उत्तर उपनिषदों तथा श्रीमद्भगवद् गीता की देन है जिसका मूल्य श्री शंकराभिमत वेदान्त में बहुत कम हो जाता है। जगन्मिथ्यात्व के रूप में मायावाद की कल्पना उपनिषदों के

मौलिक वेदान्त पर गौड़पाद ने आरोपित की हैं और श्रीशंकराचार्य में, जिन्होंने गौड़पाद द्वारा समर्थित जगन्मिथ्यात्व के प्रतिपादक स्वप्नों के उपमान का खण्डन किया है[१३४] और बौद्धों के विरुद्ध जगत् की सत्ता का दृढ़ता के साथ प्रतिपादन किया है, वह अपने परम गुरु के एक विलीयमान संस्कारों के रूप में ही दिखाई देती है। [१३५] मायावाद के विषय में उनका अपना मौलिक मत केवल यही है कि माया अविद्या अथवा अज्ञान है जो हमारी प्रकृति में ही निहित और सत्य को हमसे छिपा देती है तथा हमें अहंकार और कर्तृत्व के बन्धन द्वारा संसार चक्र में आबद्ध कर देती है; जिससे मुक्त होकर हम आत्म-ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं जो हमारी सत्ता का चरम सत्य और हमारे जीवन का परम निःश्रेयस है।

## १३—श्रीशंकराचार्य और श्री रामानुजाचार्य

हम कह चुके हैं कि श्री शंकराचार्य के मतानुसार जगत् मिथ्या नहीं है वरन् ब्रह्म के साथ अपृथक्-तादात्म्य भाव से वह सदा सत्तावान् है और मोक्षावस्था की आध्यात्मिक-अनन्तता (Spiritual infinitude) से हमारी शारीरिक सत्ता की मितता (finitude of physical existence) का कोई असामंजस्य नहीं है। यहाँ यह प्रश्न करना नितान्त संगत होगा कि यदि जगत् सत्य है और व्यक्तित्व के लिये शांकर वेदान्त में स्थान है तो रामानुज वेदान्त से इसमें अन्तर ही क्या है? शांकर वेदान्त की यथार्थ वादी व्याख्या में एक यह बड़ी आशंका रहती है कि वह रामानुज वेदान्त के अत्यन्त सन्निकट आ जाता है। पं० कोकिलेश्वर शास्त्री का 'अद्वैत दर्शन' शांकर वेदान्त के यथार्थवादी व्याख्या का एक मात्र महत्व पूर्ण प्रयास है। प्रो० राधाकृष्णन् ने पं० शास्त्री के विचार-स्वातन्त्रय की यथेष्ट सराहना की है, किन्तु उनका यह कथन कि यद्यपि आपकी शांकर वेदान्त की व्याख्या उसे रामानुज वेदान्त के अत्यन्त सन्निकट ले आती है, आपने अपने मत का पोषण भली भाँति किया है, [१३६] उस आशंका का संकेत करता है जो डॉ० अर्कहार्ट के इस कथन में स्फुटित हैं कि कुछ स्थलों पर मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि आपने श्री शंकरको छोड़ कर श्री रामानुज का मत ग्रहण कर लिया है, या उन दोनों में

१३४. ब्र० सू० भा० २-२-२१

१३५. ब्र० सू० भा० २-२-२८.।

१३६. पं० कोकिलेश्वर शास्त्री : अद्वैत वेदान्त : opinion p.3.

कोई मौलिक भेद नहीं है ?[१३७] इन दोनों कथनों से स्पष्ट हो जाता है कि वेदान्त की यथार्थवादी व्याख्या कितनी आशंका पूर्ण है । इस प्रकार की भ्रान्ति और समालोचना से अपनी रक्षा करने के लिये श्री शंकर और रामानुज के सिद्धान्तों के अन्तर का स्पष्टीकरण आवश्यक है ।

श्री शंकर और श्री रामानुज के वेदान्तों में परम्परागत यह अन्तर माना जाता है कि श्री शंकराचार्य केवल ब्रह्म को ही सत्य मानते हैं और श्री रामानुजाचार्य ब्रह्म को परम सत्य मानते हुए भी जगत् तथा जीव को भी सत्य मानते हैं । श्री शंकराचार्य के लिये केवल ब्रह्म सत्य है, अन्य सब मिथ्या है । जगत् माया का मिथ्या-विक्षेप मात्र है, जीव अविद्या कृत मिथ्या भावना है । श्री रामानुज के लिये जगत् सत्य है क्योंकि यह मिथ्या प्रतीति नहीं किन्तु वास्तविक ईश्वर की वास्तविक रचना है । जीव ईश्वर का वास्तविक अंश है जो सत्ता और चैतन्य में परिच्छिन्न हैं । उसका व्यक्तित्व और विशेष स्वरूप अन्त तक अक्षुण्ण रहता है । वे मोक्ष की अवस्था में भी ब्रह्म में विलीन नहीं होते । श्री शंकर का ब्रह्म एक निर्विशेष और निर्गुण सत्ता है जो हमारी समस्त कल्पना शक्तियों से परे है; मोक्ष इस निर्विशेष ब्रह्म के साथ आत्मा के एकत्व का साक्षात्कार है । श्री रामानुज का ब्रह्म एक सगुण पुरुष है और मोक्ष ईश्वर का सामीप्य है जिसमें जीव का व्यक्तित्व अक्षुण्ण रहता है, विलीन नहीं होता ।

यही सामान्य रूप से श्री शंकर और श्री रामानुज के सिद्धान्तों का भेद माना जाता है;[१३८] शांकर वेदान्त की श्री रामानुज कृत आलोचना से इस मत का और भी प्रचार हुआ । श्री रामानुज की आलोचना का मुख्य लक्ष्य श्री शंकर का मायावाद है । जगत् के मिथ्यात्व और ब्रह्म में जीव के व्यक्तित्व-विलय की तीव्र आलोचना इस भेद को और भी महत्वपूर्ण बना देती है । किन्तु हमें यहाँ यह स्मरण रखना चाहिये कि श्री रामानुज का प्रादुर्भाव श्री शंकर के तीन सौ वर्ष बाद हुआ था । तब तक श्री शंकराचार्य के अनुयायियों के हाथों अद्वैत वेदान्त का बहुत विकास

१३७. वही . पृष्ठ-५ ।

१३८. श्री शंकराचार्य तथा श्री रामानुजाचार्य के सिद्धान्तों का उत्तम विवेचन डॉ० थीबो ( Dr. Thibeaut ) ने अपने वेदान्त सूत्र के अनुवाद की भूमिका में किया है ।

हो चुका था। उत्तर वेदान्त में मायावाद को बहुत महत्व दिया गया है। श्री शंकराचार्य के अनुयायियों ने मायावाद को अविद्या के मनोवैज्ञानिक सिद्धान्त से बढ़ाकर मिथ्या-विक्षेप के तात्विक सिद्धान्त का स्थान दे दिया। विवर्त्तवाद का सिद्धान्त जिसका मौलिक उद्देश्य ब्रह्म की अविकार्यता को अक्षुण्ण रखते हुए सृष्टि की व्याख्या करना था, मिथ्या-विक्षेप का सिद्धान्त बन गया था और चाक्षुष भ्रान्ति के उदाहरण जिनका उद्देश्य समस्त प्रतीतियों में मूलगत आधार का प्रतिपादन करना था अब जगत् के मिथ्यात्व के साधक बन रहे थे। महत्व का क्षेत्र सत्य से मिथ्या की कल्पना में परिणत हो गया था और मूल वेदान्त का वास्तविक तत्व जगत् की मिथ्या प्रतीति की सूक्ष्म व्याख्याओं की भ्रान्ति से आच्छन्न हो गया था। श्री शंकर के अनुयायी माया से मुग्ध होकर तार्किक जटिलताओं के कान्तार में पथ भ्रष्ट होगये और 'अज्ञान' के निशाचर के हाथों 'सत्य' की हत्या होगई।

यह सब वेदान्त के दुर्भाग्य से हुआ और इसका कारण यही था कि सृष्टिवाद और सृजन तथा माया के वेदान्त गत मूल्य और स्थान को श्री शांकर के अनुयायी भूल गये। श्री रामानुज के लिये शांकर-वेदान्त के इस पक्ष को अपनी आलोचना का लक्ष्य बनाना और अन्त में इसी को दोनों वेदान्तों का मुख्य भेद समझा जाना स्वाभाविक था। किन्तु वस्तुतः श्री रामानुज की अधिकांश समालोचना श्री शंकर के अनुयायियों के प्रति ही लागू होती है, श्री शंकर के प्रति नहीं। श्री शंकर के अनुयायियों ने शंकर वेदान्त की भ्रान्त व्याख्या कर इस समालोचना का अवसर उपस्थित किया इसका उत्तरदायित्व श्री शंकर के ऊपर नहीं। अनुयायियों के अपराधों का उत्तरदायित्व एक आचार्य के ऊपर नहीं हो सकता। यदि हम सृष्टिवाद और मायावाद के वेदान्त-गत स्थान और मूल्य को ध्यान में रक्खें तो हमें ज्ञात होगा कि श्री शंकर और श्री रामानुज का मुख्य भेद यह नहीं है एक जगत् को मिथ्या मानता है और दूसरा सत्य। इस विषय में उनका वास्तविक भेद यह है कि श्री शंकर के लिये सृष्टि ब्रह्म और जगत् के सम्बन्ध का साधक एक रूपक मात्र है और श्री रामानुज के लिये यह एक तात्विक तथ्य है। जगत् की सत्ता की वास्तविकता के विषय में दोनों में कोई मतभेद नहीं है। दोनों के लिये जगत् की सत्ता एक अनिषेध्य सत्य है, श्री शंकर के लिये ब्रह्म के साथ अपृथक् तादात्म्य भाव से जगत् की सत्ता है, श्री रामानुज के लिये वह वास्तविक ईश्वर की वास्तविक सृष्टि है।

जीव और ब्रह्म के विषय में श्री शंकर और श्री रामानुज के मत में यह अन्तर है कि श्री रामानुज के लिये जीव और ब्रह्म दो पृथक् आध्यात्मिक सत्तायें हैं श्री शंकर के लिये एक ही आध्यात्मिक तत्व है क्योंकि दो आध्यात्मिक तत्व अकल्पनीय तथा अन्याय्य हैं। श्री रामानुज के लिये जीव अणु और परिच्छिन्न है, वह ईश्वर का अंश है और उसका व्यक्तित्वरूप (Individuality) और परिच्छेद (Identity) सदा अक्षुण्ण रहेगा। मोक्ष भक्ति और उपासना द्वारा ईश्वर के लोक की प्राप्ति है। श्री शंकर के लिये जीव वास्तव में विभु है। ब्रह्म ईश्वर से भिन्न है, उसके साथ भक्ति और उपासना का सम्बन्ध सम्भव नहीं। वह एक अनन्त आध्यात्मिक तत्व है जो हमारी आत्मा है। परिच्छिन्नता हमारी भौतिक सत्ता का एक प्रकार है, हमारी वास्तविक सत्ता का सत्य नहीं। मोक्ष इस अनन्त आत्म स्वरूप का साक्षात्कार है, जिसमें हमारे व्यक्तित्व का विनाश नहीं वरन् एक अनन्त आत्मा के रूप में उसका विकास होता है।

# चौथा अध्याय

# श्री शङ्कराचार्य का आचार दर्शन

## १---वेदान्त में आचार-दर्शन की सम्भावना

जीव और जगत् की सत्ता सिद्ध हो जाने पर यह नहीं कहा जा सकता कि वेदान्त में आचार दर्शन के लिये स्थान नहीं है। जीव और जगत् दोनों अत्यन्त विविक्त सत्तायें हैं चाहे वे ब्रह्म से पृथक् कल्पनीय न हों। बोध के अनिवार्य वैषयिक अनुषंग में जगत् की सत्ता समवेत है। समस्त सृष्टिवाद या तो सृष्टि के व्याकरण की प्रक्रिया के वर्णन का अथवा विषय-जगत् के हमारे ज्ञानालम्बन बननेकी प्रक्रिया का रूप ग्रहण कर लेता है। किन्तु सृष्टिवाद के ये दोनों ही कल्प जगत् की सत्ता के प्रसंग में असंगत है। सृष्टि की व्याख्या जगत् की सत्ता के उद्भव के रूप में नहीं की जा सकती। मायावाद का प्रसिद्ध सिद्धान्त, जिसका उत्तर वेदान्त के आचार्यों ने इतना उपयोग किया है तथा वेदान्त के समालोचकों ने इतना दुरुपयोग किया है, जगत् की सत्ता के प्रसंग में नितान्त असंगत है। जीव की सत्ता वेदान्त का मूल आधार है। वेदान्त-ज्ञान का उपदेश एक व्यक्ति को ही दिया जाता है। समस्त वेदान्तिक साधना का लक्ष्य एक साधक व्यक्ति है। साधना का क्रमिक विकास एक साधक व्यक्ति की उत्तरोत्तर साध्याभिमुख प्रगति है। सिद्धि के पश्चात् भी इसे व्यक्तिगत सिद्धि कहा जायगा, क्योंकि अतीत काल में कुछ व्यक्तियों की मुक्ति वेदान्त में स्वीकृत की गई है, जब कि अन्य अनेक जीव बद्ध ही रहे। यह ध्यान में रखते हुये कि वेदान्तिक मोक्ष यहाँ इस जीवन में ही प्राप्य है और 'अहं ब्रह्मास्मि' की आत्म-चेतना के रूप में इसका अनुभव सम्भव है तथा मुक्त के लिये लोक संग्रह के लिये कर्म सम्भव है यह कहना उचित न होगा कि जीव के व्यक्तित्व का मोक्षावस्था में विनाश हो जाता है। पृथक् सत्ता और अहंकार का नाश वास्तव में जीवत्व और व्यक्तित्व के श्रेष्ठतम अर्थ में उनका नाश नहीं है। सत्ता की अखंडता जो जीवत्व का

सार है तथा चेतना की केन्द्रीयता जो व्यक्तित्व का सार है, मोक्ष की परमावस्था में भी अक्षुण्ण रहते हैं। मोक्ष की आध्यात्मिक अनन्तता का इस अर्थ में जीवत्व और व्यक्तित्व से कोई असामंजस्य नहीं है, और मोक्षावस्था में जीवत्व और व्यक्तित्व के अक्षुण्ण रहने की संभावना के साथ वेदान्त में आचार दर्शन की सम्भावना भी अवगम्य हो जाती है।

किन्तु आचार दर्शन एक व्यवहार-शास्त्र है, व्यवहार-विज्ञान नहीं। मनुष्य किस प्रकार व्यवहार करता है इससे आचारदर्शन का उतना सम्बन्ध नहीं जितना कि इससे है कि मनुष्य का आचार क्या और कैसा होना चाहिये। मनुष्य के सभी कर्मों का एक लक्ष्य होता है और उसके कर्मों का मूल्य उसके लक्ष्य के प्रसंग से मापा जाता है। लक्ष्य (End) कर्म को मूल्य प्रदान करता है; किन्तु मूल्यांकन एक तुलनात्मक अंकन है जिसमें अंकन का एक आदर्श निहित है। बिना एक परम लक्ष्य (परमार्थ) के प्रसंग के हम एक लक्ष्य (अर्थ) को दूसरे से श्रेष्ठतर नहीं ठहरा सकते। परम-अर्थ के प्रसंग से ही एक तुलनात्मक अंकन सम्भव है। यहाँ यह प्रश्न उपस्थित होता है कि मनुष्य का परम-अर्थ क्या है? आचार-दर्शन का उद्देश्य मनुष्य के इस परम-अर्थ का स्वरूप निर्धारण करना है। आचार-दर्शन का यह अभिप्राय रहता है कि मनुष्य का आचरण इस परम अर्थ के अनुकूल हो। वेदान्त के अनुसार आत्मा के स्वरूप का साक्षात्कार मनुष्य का परम-अर्थ है। वेदान्त के अनुसार आत्मा हमारी तथा सभी भूतों की सत्ता का चरम सत्य है। अपनी तथा अन्य सभी की सत्ता के चरम सत्य के रूप में आत्मा का साक्षात्कार तथा इसके द्वारा परम आध्यात्मिक एकत्व और समन्वय की प्राप्ति मनुष्य का परम अर्थ है और वही जीवन का परम निःश्रेयस है। किन्तु यह साक्षात्कार इतना सुगम नहीं: प्रत्येक मनुष्य को इसकी प्राप्ति के लिये कठिन प्रयत्न करना चाहिये।[1] किन्तु 'चाहिये' में मनुष्य की स्वतन्त्रता की सम्भावना सन्निहित है। स्वतन्त्रता का निषेध करके किसी मनुष्य को यह प्रेरणा नहीं की जा सकती कि उसे यह करना चाहिये। नियतिवादी आचार-दर्शन वास्तव में आचार दर्शन नहीं है क्योंकि उसमें एक विचार-व्याघात है। अतः यह कहा गया है कि कर्म सिद्धान्त की कठोर नियतिवादिता से प्रभावित वेदान्त में वास्तविक आचार-दर्शन के लिये स्थान नहीं है।

---

१. तस्मात्तल्लाभेमहान् यत्न आस्थेयः। बृह० भा० १-४-८

## २—कर्म-सिद्धान्त

यह तर्क न्याय-दृष्टि से पूर्ण संगत है किन्तु वास्तव में गलत है क्योंकि यह वेदान्त में कर्म-सिद्धान्त के स्थान के विषय में भ्रान्ति के ऊपर आश्रित है। कर्मसिद्धांत पुनर्जन्म के सिद्धान्त का एक प्रतियोगी अंग है, जो समस्त भारतीय दर्शन का सामान्य आधार है। इन दोनों सिद्धान्तों के उद्भव का इतिहास जो भी हो और इन दोनों में जो कोई पूर्ववर्ती हो, उत्तर काल की विचार-धारा में वे अन्योन्याश्रित तथा परस्पर सम्बन्धी हैं। पाश्चमी विद्वान् पुनर्जन्म के सिद्धान्त को स्वीकार नहीं करते क्योंकि इसका कोई वैज्ञानिक प्रमाण नहीं है। वे इसे जीवन की संतोषप्रद व्याख्या नहीं मानते क्योंकि यह सिद्धान्त एक अनादि जन्म-परम्परा की कल्पना पर अवलम्बित है और जीवन के आदि की व्याख्या नहीं करता। जिन बालकों में पूर्व जन्म के स्मृति-संस्कार बताये गये हैं उनका कभी कोई मनो-वैज्ञानिक परीक्षण गम्भीरता से नहीं हुआ। विचार-दृष्टि से भी प्रत्येक आत्मा के एक जन्म के सिद्धान्त की अपेक्षा पुनर्जन्म का सिद्धान्त अधिक न्याय संगत है। प्रो० राधाकृष्णन् का कथन है कि "कर्म सिद्धांत के बराबर उपयोगी (मूल्यवान्) सिद्धांत जीवन में दूसरा नहीं है।"[२] और हम कह सकते हैं कि अन्य कोई सिद्धांत इतना न्याय-संगत भी नहीं है। जन्म परम्परा के आदि की खोज अन्याय्य है क्योंकि वह चिरन्तन आत्मा के उद्भव की खोज है। जो चिरन्तन है उसका उद्भव नहीं होता। पुनर्जन्म का मन्तव्य जीवन के आदि की व्याख्या के रूप में एक वैज्ञानिक सिद्धांत उपस्थित करना नहीं है। यह केवल एक व्याख्यानक सिद्धांत है। यह चिरन्तन आत्मा और नश्वर शरीर के सम्बन्ध की व्याख्या नहीं करता क्योंकि इसके अनुसार किसी भी काल में दोनों में किसी का भी उद्भव नहीं होता। फिर भी एक जन्म के सिद्धांत की अन्याय्यता से यह बच जाता है। एक जन्म के सिद्धान्त के अनुसार चिरंतन आत्मा और नश्वर शरीर का सम्बंध एक काल विशेष में आरम्भ होकर एक काल विशेष में ही अंत हो जाता है। किंतु चिरंतन का कालिक सम्बंध अन्याय्य है और इस सिद्धांत में उसका कोई समाधान नहीं है। किंतु पुनर्जन्म का सिद्धांत जीवन की एक न्यायसंगत तथा नैतिक व्याख्या देना चाहता है। एक जन्म के सिद्धांत के अनुसार हमें जन्म काल में अपने भागधेयों का भेद एक अकारण संयोग

२. Indian Philosophy, vol. I P. 249

मानना होगा। पूर्वजन्म के कर्मफलानुसार उसकी व्याख्या का भारतीय प्रयास उसकी कोई व्याख्या न देने से तो अच्छा है। जीवन की सामान्य प्रवृत्तियाँ जीव-शास्त्रीय ( Biological ) मानी जा सकती है। किंतु इसके अतिरिक्त अन्य विशिष्ट भेदों की जीव शास्त्रीय व्याख्या संभव नहीं। पूर्व जन्म के कर्म-संस्कार के रूप में उनकी व्याख्या वैज्ञानिक प्रक्रियाओं द्वारा प्रमाणित न की जा सके किंतु उन्हें अकारण और निरर्थक संयोग मानने की अपेक्षा पूर्व जन्म के संस्कारों का प्रभाव मानना नैतिक दृष्टि से जीवन में अधिक महत्वपूर्ण होगा।

कर्म-सिद्धांत पुनर्जन्म के सिद्धांत का प्रतियोगी अंग है। यह जीवन की कर्म के रूप में और कर्म की शाश्वत नैतिक मूल्यों के रूप में व्याख्या करता है। पूर्व जन्म की स्मृति की अपेक्षा नैतिक मूल्यों का पक्ष अधिक महत्वपूर्ण है। प्रो० राधाकृष्णन् का कथन है कि चेतना के नैरन्तर्य की अपेक्षा नैतिक मूल्यों के संरक्षण से इस सिद्धांत का अधिक प्रयोजन है।[3] यह कहा गया है कि कर्म-सिद्धांत आचार-शास्त्र अथवा जीवन के क्षेत्र में प्रयुक्त कारणवाद ही है। इस तुलना में कुछ अर्थ है किंतु इस पर अधिक जोर देने में एक भूल है। कारण-वाद के सिद्धांत का अभिप्राय यह है कि प्रत्येक कार्य का एक कारण होता है। इसका विलोम कि प्रत्येक कारण का एक कार्य होता है, इसका स्वाभाविक प्रतियोगी है। कारणवाद समता के सिद्धांत पर (Principle of Uniformity) आश्रित है, और प्रकृति में एक यांत्रिक अनिवार्यता ( mechanical necessity ) व्याप्त होने के कारण इसका अभिप्राय यह होता है कि एक निश्चित कार्य का एक निश्चित कारण होता है तथा एक कारण विशेष का एक विशेष फल होता है। प्रकृति के क्षेत्र में समानता ऐकान्तिक रूप से तथा अनिवार्यता चरम होने के कारण कारणवाद के उभय रूपों के विलोम में कोई न्यायगत त्रुटि नहीं है। किंतु कर्म-सिद्धांत इसका विपरीत है। इसका मूल अभिप्राय इतना ही है कि हमारे कर्मों का फल होता है—मनुष्य जो कुछ बोता है वही काटता है।[4] हमारे आचरण का जीवन में नैतिक परिणाम होता है। यहाँ तक यह ठीक है, किंतु यह कहना कि 'इसका विलोम भी यथार्थ है'[5] ठीक नहीं। 'मनुष्य

3. Indian Philosophy Vol- I- P. 251.
4. Mckenzie: Hindu Ethics P. 217
5. Mckenzie· Hindu Ethics P. 217

जो कुछ बोता है वही काटता है' यह ठीक है किंतु यह कहना ठीक नहीं कि 'मनुष्य इस जीवन में जो कुछ दुःख सुख भोगता है वह सब उसके पूर्व कर्मों के फल है।'[६] इस में अन्याय्य विलोम ( Illicit conversion ) का दोष ( fallacy ) है तथा उससे सम्बद्ध और भी तार्किक भ्रांतियाँ हैं। यदि हमारे वर्तमान जीवन के समस्त कर्म पूर्व जन्म के कर्मों का फल हैं तो इस जन्म परम्परा का आगामी जन्म में स्वतः अवसान हो जाना चाहिये इस परम्परा की निरन्तरता में ही यह अभिप्रेत है कि प्रत्येक जीवन में स्वतंत्रता के लिए अवकाश है। इसके अतिरिक्त जीवन तर्क-शास्त्र नहीं है तथा आचार-शास्त्र विज्ञान नहीं है। जीवन के आचरण का अंकन हम प्रकृति की प्रक्रिया की भाँति नहीं कर सकते। नैतिक जीवन में नियम और व्यवस्था भले ही हो, किंतु वह प्रकृति में व्याप्त समानता और अनिवार्यता के तुल्य नहीं हो सकती। हमारे कर्मों का फल होता है और नैतिक मूल्यों के शाश्वत होने के कारण हमारे आचरण के नैतिक परिणाम में एक प्रकार की अनिवार्यता भी हो सकती है। यदि हम अपने किसी सरलतम कर्म को भी लें तो देखेंगे कि उसमें एक प्रकार की अनिवार्यता है। एक कर्म जो हो चुका है, किसी प्रकार बदला नहीं जा सकता। वह सदा के लिये और अनिवार्य रूप से 'कृत' हो चुका।[७] किंतु यह अनिवार्यता प्रकृति की अनिवार्यता से भिन्न है। तात्विक अर्थ में प्रत्येक कर्म में एक प्रकार की अनिवार्यता है कि वह किसी प्रकार भी 'अकृत' नहीं बनाया जा सकता। प्रत्येक कर्म का नैतिक परिणाम होता हैं, इस अर्थ में प्रत्येक कर्म का फल होता है। प्रत्येक कर्म की पुनरावृत्ति की प्रवृत्ति से हमारे नैतिक चरित्र का निर्माण होता है। किंतु प्रवृत्ति को अनिवार्यता नहीं कहा जा सकता। प्रवृत्ति में नियामकता होती है किंतु वह पूर्ण नियतिवाद तक नहीं ले जा सकती। चरित्र के रूप में वह हमारे आचरण को प्रभावित करती है, किंतु संकल्प द्वारा सदैव इन प्रभावों का अतिक्रमण किया जा सकता है और इस अतिक्रमण की सम्भावना में ही मानव जीवन के उद्धार की आशा सन्निहित है।

### ३ कर्म-सिद्धान्त और संकल्प-स्वातन्त्र्य

भारतीय दर्शन तथा वेदान्त में कर्म-सिद्धान्त का अभिप्राय इतना ही है कि हमारे कर्मों का फल होता है तथा हम जो कुछ करते हैं उसका नैतिक

6. Mckenzie: Hindu Ethics P. 217

7. Pantheism & C. P. 696.

परिणाम होता है। वर्तमान जन्म का समस्त कर्मजात पूर्वजन्म के संस्कारों से नियमित है यह इसके आशय के अन्तर्गत नहीं है। यह हमारे जीवन के आरम्भिक भागधेय की नैतिक व्याख्या मात्र है। वेदान्त में कर्म सिद्धान्त का प्रयोजन इतना ही है कि भावीजन्म का प्रकार पूर्वजन्म में कर्मों से नियत होता है, भावी जन्म के समस्त कर्म नहीं है।[८] हमारे वर्तमान जीवन का आरम्भिक भागधेय एक निरर्थक संयोग माना जा सकता है। पूर्व जन्म के कर्म-फल के रूप में इसकी व्याख्या इसे जीवन में एक नैतिक महत्व प्रदान कर देती है। जीवन में एक 'प्राप्त भागधेय' (Given lot) का निषेध कोई भी विचारवान् मनुष्य नहीं कर सकता, तथा इसकी स्वीकृति में ही हमारे वर्तमान जीवन-कर्म को प्रभावित करने की इसकी प्रवृत्ति का स्वीकरण भी अन्तर्निहित है। जन्म काल में ही नहीं, जीवन के प्रत्येक क्षण में हमारे पीछे एक अतीत संस्कार है जो हमारे जीवन की भावी गति-विधि को प्रभावित करता है। प्रो० राधाकृष्णन्-का कथन है कि 'समस्त कर्मों के फल होते हैं जो हमारी प्रकृति और वातावरण में अंकित होते हैं। उनके भौतिक प्रभाव चाहे क्षणिक हों किन्तु उनके संस्कार हमारे चरित्र के रूप में निर्मित होते जाते हैं। प्रत्येक विचार, वचन और कर्म कारण-परम्परा की शृंखला की कड़ी बनता जाता है जिससे हमारे जीवन और व्यक्तित्व का निर्माण होता है।'[९] प्रो० हिरियन्ना के अनुसार 'कर्म सिद्धान्त का आशय यही है कि नैतिक जगत् में भी भौतिक जगत् की भाँति पर्याप्त कारण (sufficient reason) के बिना कुछ घटित नहीं हो सकता। यह समस्त दुःख का आदि स्रोत हमारे व्यक्तित्व में ही खोज कर ईश्वर और प्रतिवेशी के प्रति कटुता का निवारण करता है। हमारा अतीत जीवन हमारे वर्तमान व्यक्तित्व का विधायक है।'[१०] किन्तु यदि हम अतीत का निराकरण नहीं कर सकते तो यह कोई कारण नहीं कि हम अपने भविष्य का भी निर्माण नहीं कर सकते। हमारा अतीत हमारे वर्तमान की व्याख्या है और वह हमारे भविष्य को प्रभावित करने की प्रवृत्ति रखता है, किन्तु वह उसे नियत नहीं

८. रमणीयचरणा रमणीयां योनिमापद्येरन् कपूयचरणाकपूयां योनिमापद्येरन् छां० उप० ५-१०-१।

९. An Idealist view of life. P. 275-

१०. Outlines of Indian Philosophy p. 79-

करता । प्रो० राधाकृष्णन् के मतानुसार 'कर्म सिद्धान्त नियतिवाद के सिद्धान्त का समर्थन नहीं करता'[११] 'सृजनात्मक स्वतन्त्रता के साथ कर्म अथवा अतीत-सम्बन्धका कोई विरोध नहीं है । इसके विपरीत वह इसके अन्तर्गत अभिप्रेत है । जो नियम हमें अतीत से सम्बंधित करता है उसीके अनुसार यह भी सिद्ध है कि वह हमारे स्वतन्त्र कर्म से पराभूत भी हो सकता है ।'[१२] जैसा प्रो० हिरियन्ना का कथन है, "कर्म सिद्धान्त के अनुसार भविष्य पूर्णतः हमारे हाथ में है, यदि ऐसा प्रतीत होता है कि यह प्राचीनों के देवताओं के स्थान पर भाग्य ( विधि ) को प्रतिष्ठित कर देता है, तो यह वह भाग्य है जिसका मनुष्य स्वयं विधाता है ।"[१३]

मनुष्य एक आध्यात्मिक प्राणी है और आत्मा और जीवन का सार स्वातन्त्र्य है ।[१४] किन्तु जैसा कि प्रो० राधाकृष्णन् का कथन है 'स्वतन्त्रता का अर्थ स्वच्छन्दता नहीं और न कर्म का अर्थ नियति है । मनुष्य का कर्म अकारण अथवा अप्रेरित नहीं होता । यदि हमारे कर्म अतीत से असम्बद्ध होते तो नैतिक उत्तरदायित्व के लिये कोई स्थान न रहता और न विकास के लिए कोई अवकाश रहता । अनिर्दिष्ट आरम्भ, आकस्मिक घटनाएँ प्राकृतिक और मानवीय जगत् में समान रूप से असम्भव हैं । स्वतन्त्र कर्म जीवन के नैरन्तर्य का निषेध नहीं कर सकते । वे प्रकृति की व्यवस्था के अन्तर्गत नहीं घटित होते हैं । स्वतन्त्रता स्वच्छन्दता नहीं, क्योंकि हमारा अतीत हमारे साथ है । प्रत्येक अवस्था में हमारा चरित्र हमारे अतीत इतिहास की समष्टि है । हम जो कुछ रहे हैं वह हमारा अतीत व्यक्तित्व है और हमारे वर्तमान व्यक्तित्व में समाविष्ट हो जाता है । मनुष्य के स्वाभाविक स्वातन्त्र्य का क्षेत्र सीमित है । किसी के समस्त सम्भावनाओं का असीम क्षेत्र नहीं है । हमारी प्रकृति की समस्त सम्भावनाओं को अवसर नहीं मिलता क्योंकि विश्व व्यवस्था के प्रभाव से कुछ ही सम्भावनाओं को अवकाश मिलता है और शेष अवरुद्ध रहती हैं । फिर स्वतः प्रवृत्त कर्म से स्वतन्त्रता सीमित हो जाती है । जब हम एक कर्म करने का संकल्प कर लेते हैं तो हमारी मनःस्थिति पूर्व से भिन्न

११. An Idealist View of life p. 280.
१२. An Idealist view of life p. 276.
१३. Outlines of Indian philosophy p. 79.
१४. Indian philosophy Vol. I. 246.

हो जाती है। जब एक सम्भावना यथार्थता का रूप धारण कर लेती है तो वह अनिवार्यता बन जाती है। अतीत का निराकरण नहीं किया जा सकता यद्यपि उसका उपयोग सम्भव है। 'प्राप्त' का विरोधमात्र विनाश सिद्ध हो सकता है, यद्यपि हम अतीत में से एक नवीन जीवन की उद्भावना कर सकते हैं। केवल 'सम्भव' ही स्वतन्त्रता का क्षेत्र है। मानव जीवन में वर्तमान दबाव और अतीत नियमन का भाग बहुत कुछ है। किन्तु नियमन को एक ऐसी नियति समझ लेना भ्रान्ति है, जिसका हम न विरोध कर सकते हैं और न जिसे हम छल सकते हैं। यद्यपि आत्मा अतीत नियमन से मुक्त नहीं है फिर भी किसी सीमा तक यह अतीत को पराभूत कर उसे नवीन पथ पर प्रवर्तित कर सकती है। दो विरोधी कर्म-प्रवृत्तियों में एक का चुनना नियमन पर स्वातन्त्र्य की विजय है जिसके द्वारा आत्मा नियमन को अपने उपयोगाभिमुख बना कर अपने को उससे मुक्त करता है। कर्त्ता स्वतन्त्र है,[१५] वह नियति के हाथ का खिलौना नहीं, और न असंयत घटनाओं की तरंगों पर तिरते हुए तिनके के तुल्य है। वह निरपेक्ष भाव से अतीत का संवहन करने के स्थान पर सक्रिय रूप से भविष्य का निर्माण कर सकता है। अतीत एक अवसर भी बन सकता है और एक बाधा भी। अतीत हमको क्या बनाता है इस पर नहीं, वरन् हम अतीत का क्या उपयोग करते हैं, इस पर सब कुछ निर्भर है। जीवन एक निर्दिष्ट दिशा में चलने के लिये बाध्य नहीं। जीवन विकास है और विकास किसी परिमाण में अनिर्दिष्ट तथा अनियत है। यद्यपि भविष्य अतीत से सम्बद्ध है फिर भी हम उसके स्वरूप का पूर्व-निर्देश नहीं कर सकते। यदि जीवन में स्वातन्त्र्य नहीं है तो मानवी चेतना एक अनावश्यक अलंकार है।'[१६] प्रो० राधाकृष्णन् द्वारा प्रयुक्त रूपक को लेकर 'हम जीवन को ताश का खेल कह सकते हैं। खेल के पत्ते हमें 'प्राप्त' होते हैं, हम अपनी रुचि के अनुसार उन्हें प्राप्त नहीं कर सकते। वे अतीत कर्म-संस्कार से सम्बद्ध हैं। किन्तु हम कोई भी बोल बोल सकते हैं और कोई चाल चल सकते हैं जो हमें उचित जान पड़े। हाँ, हम खेल के नियमों से अवश्य सीमित हैं। आरम्भ में हम अधिक स्वतन्त्र होते हैं जैसे जैसे खेल बढ़ता जाता है हमारी स्वतन्त्रता सीमित होती जाती है। किन्तु अन्त तक स्वतन्त्र

१५. पाणिनि-१-४-५४, स्वतन्त्रः कर्त्ता।

16. An Idealist View of Life. p- 278--279.

निर्णय के लिये स्थान रहता है।'[17] यह स्वतन्त्रता ही हमारे जीवन का सार है। चाहे ताश हमारी इच्छानुकूल न मिल सकें किन्तु खेल तो हमारे हाथ में हैं। हम जैसा चाहें खेल सकते हैं। यदि हम खेल बिगाड़ देते हैं तो यह हमारी मूर्खता है, दुर्भाग्य नहीं। जैसा खेल में है वैसा ही जीवन में भी है। जन्मकाल में प्राप्त भागधेय हमारे अतीत कर्मों का फल हो तथा प्रत्येक काल में चरित्र के रूप में केन्द्रीभूत अतीत हमारे भविष्य को प्रभावित करने की प्रवृत्ति रखता हो, किन्तु भविष्य का निर्माण हमारे हाथ में है। 'कृत' को 'अकृत' करना हमारे हाथ में न हो किन्तु 'भव्य' का निर्धारण हमारे अधिकार में है। हम अतीत से अपने को विच्छिन्न करने में भले ही समर्थ न हों किन्तु हम अपनी नियति का स्वरूप निर्धारण कर सकते हैं।

## ४—वेदान्त में संकल्प-स्वातन्त्र्य

उक्त अर्थ में संकल्प-स्वातन्त्र्य समस्त भारतीय चिन्तन में अभिप्रेत है। श्री शंकराचार्य के अनुसार 'कर्म' शास्त्र द्वारा पुरुष के लिये विहित कृत्य है। शास्त्र का विधान विधि-निषेध के रूप में प्राप्त होता है। 'मनुष्य को यह करना चाहिये, यह न करना चाहिये' यह उसका स्वरूप होता है। विधि-निषेध की कल्पना में ही पुरुष के कर्म-स्वातन्त्र्य का भाव निहित है। श्री-शंकराचार्य का मत है कि कर्तव्य (कर्म) पुरुषाधीन है। पुरुष उसे करने, न करने अथवा अन्यथा करने में समर्थ है।[18] भावी जन्म में अच्छी योनि प्राप्त करने के लिये अच्छा कर्म करना चाहिये, किन्तु इसमें किसी प्रकार की अनिवार्यता नहीं है। यदि पुरुष अच्छा कर्म करेगा तो अपनी स्वतन्त्र इच्छा से करेगा। शास्त्र पुरुष के लिये शुभाऽशुभ का विधान कर सकता है और पुरुष उस विधान का पालन करेगा ऐसी कामना कर सकता है, किन्तु वह पुरुष का भृत्य के समान बलात् निवर्त्तन अथवा नियोजन नहीं कर सकता।[19] मनुष्य में शुभाऽशुभ विवेक की शक्ति है और वह दोनों में किसी को भी ग्रहण करने के लिये स्वतन्त्र है। उसको वह

17- An Idealist View of Life : p. 279.

१८. पुरुषाधीनात्मलाभत्वात्कर्तव्यस्यकर्तुमकर्तुमन्यथा वा कर्तुं शक्यं लौकिकं वैदिकं च कर्म। ब्र० सू० भा० १-१ २।

१९. न तु शास्त्रं भृत्यानिव बलान्निवर्त्तयति नियोजयति वा।
बृह० भा० २-१-२०।

संकल्प-शक्ति प्राप्त है जिसके द्वारा वह कर्त्तव्य और अकर्तव्य में विवेक कर सकता है और दोनों में से जिसे चाहे कर सकता है।[२०] श्री शंकराचार्य के शब्दों में 'मनुष्य तभी तक मनुष्य है जब तक उसका अन्तःकरण कर्तव्य तथा अकर्तव्य के विवेक-योग्य है। जब उसमें वह योग्यता नहीं रहती तो उसे मनुष्य रूप से नष्ट ही समझना चाहिये, क्योंकि वह पुरुषार्थ के अयोग्य हो जाता है।'[२१]

अस्तु, वेदान्त में संकल्प-स्वातन्त्र्य पुरुषत्व का सार है और उसका मूल भाव वेदान्त में कभी लुप्त नहीं हुआ। कौषीतकी उपनिषद् का एक मात्र उदाहरण कि 'जिनका वह इस लोक से उद्धार करना चाहता है उनसे वह साधु कर्म करवाता है और जिनको वह पतित करना चाहता है उनसे वह असाधु कर्म करवाता है,'[२२] जिसके आधार पर वेदान्त के आलोचकों ने वेदान्त में नियति-वाद सिद्ध करने की चेष्टा की है संकल्प-स्वातन्त्र्य के स्वीकरण के प्रति वेदांत की सामान्य प्रवृत्ति का अतिक्रमण कर वेदांत में नियति-वाद की प्रधानता सिद्ध करने के लिये पर्य्याप्त नहीं। ईश्वर का अस्तित्व स्वीकार कर लेने पर उसकी इच्छा को सर्वोपरि मानना आवश्यक हो जाता है। मनुष्य की इच्छा ईश्वर की इच्छा के शासन से स्वतन्त्र नहीं हो सकती। समस्त ईश्वरवादी दर्शन मनुष्य की इच्छा को ईश्वर की इच्छा के आधीन बना कर अथवा दोनों में एक प्रकार के सामञ्जस्य की कल्पना करके मानव संकल्प (Freedom of will) और दैव (Providence) के विरोध का समाधान करते हैं। ईश्वरवाद श्री शंकराचार्य के वेदांत का आवश्यक अंग नहीं है, अतः उन्होंने इस विरोध को किसी प्रकार की भी कल्पना से समाहित करने का प्रयत्न नहीं किया। किन्तु उन्होंने मनुष्य के स्वातन्त्र्य और कर्म के प्रति उसके उत्तरदायित्व को स्पष्ट रूप से स्वीकार किया है। मान

२०. संकल्पं कर्त्तव्याऽकर्त्तव्यविषयविभागेन समर्थनम्।

छां० भा० ६ ४१।

२१. तावदेव पुरुषार्थो यावदन्तः करणं तदीयं कार्य्याऽकार्यविवेकयोग्यं तदयोग्यत्वे नष्ट एव पुरुषो भवति पुरुषार्थाऽयोग्यो भवति।

गी० भा० १२--६७।

२२. एष ह्येव साधुकर्म कारयति तं यमेभ्यो लोकेभ्यः उन्निनीषत एष उ एवाऽसाधु कर्म कारयति तं यमधो निनस्ति।।कौ० उप० ३-६।

वीय कर्मों में ईश्वरीय निर्देश का निराकरण न करते हुए भी उन्होंने व्यक्ति के कर्तृत्व का समर्थन किया है[२३] हमारे कर्म-फल के अधिष्ठाता के रूप में ईश्वर की कल्पना में मानव-स्वातन्त्र्य का भाव निहित है। पुरुष के कर्म को ध्यान में न रख कर फल-योजना निराधार तथा स्वैर होगी और कर्म स्वातंत्र्य के बिना फल-विधान निरर्थक होगा। सृष्टि काल में भी जीवों के कर्म-संस्कारों के अनुसार ही उनके जीवन का भागधेय नियत होता है। ईश्वर उन्हीं के अनुसार सृष्टि करता है। सृष्टि की अनादि परम्परा का अभिप्राय यही है कि हम उसके आदि तथा उद्भव की व्याख्या नहीं कर सकते, तथा जीवों के पूर्व-कर्म-संस्कारों के अनुसार सृष्टि-विधान का तात्पर्य यही है कि संकल्प-स्वातन्त्र्य तथा नैतिक उत्तरदायित्व का सिद्धान्त एक शाश्वत सिद्धान्त है जिसे मनुष्य को ही नहीं ईश्वर को भी स्वीकार करना पड़ता है। कठ और मुण्डक उपनिषदों में आने वाले उस मन्त्रपद[२४] की श्री शंकराचार्य कृत व्याख्या से जिसमें मनुष्य की मुक्ति में ईश्वरानुग्रह के स्थान का निर्देश किया गया है संकल्प-स्वातन्त्र्य में उनकी निष्ठा स्पष्ट सिद्ध होती है। उन्होंने मन्त्र के स्वाभाविक अन्वय को उलट कर 'ईश्वर' के स्थान पर 'साधक' को 'वृणुते' का कर्त्ता बना दिया है।[२५] मूल की व्याख्या की दृष्टि से यह अर्थ आरोपित तथा असन्तोषप्रद जान पड़ता है; किन्तु श्री शंकराचार्य ने दोनों स्थानों पर इसी प्रकार इसकी व्याख्या की है[२६] इससे संकल्प-स्वातन्त्र्य में उनकी निष्ठा असन्दिग्ध रूप से सिद्ध होती है।

## ५—शुभ और अशुभ कर्म

स्वातन्त्र्य में दो विकल्पों में से एक को ग्रहण करने का भाव अभिप्रेत है। यदि विकल्प न हो और उनमें से किसी को भी ग्रहण करने की सम्भावना न हो तो कर्म-स्वातन्त्र्य की कल्पना निरर्थक हो जाती है। इस सम्भावना में एक मूल्यों का माप तथा अंकन का आदर्श निहित है। साधु कर्म अशुभ

२३. कर्त्ता चायं जीवः स्यात्। ब्र० सू० भा० २-३-३२।
२४. यमेवैष वृणुते तेन लभ्यास्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनुस्वाम्।
कठ १-२-२३। मुण्डक० ३-२-३।
२५. यमेव स्वात्मानमेष साधको वृणुते कठ० भा० १-२-३।
यमेव परमात्मानमेवैष विद्वान् वृणुते मु० भा० ३-२-३।
२६. क० भा० १-२-२३। मुं० भा० ३-२-३।

की तुलना में शुभ का ग्रहण है। अस्तु, शुभ-अशुभ का भेद आचार-दर्शन का आधार बन जाता है। आचार शास्त्र में यह भेद चरम माना जाता है और यह कहा जाता है कि क्योंकि वेदान्त इस भेद को चरम नहीं मानता वह आचार-दर्शन के मूल पर ही आघात करता है। वेदान्ताभिमत तत्व (ब्रह्म) एक निर्विशेष एकत्व है जिसमें किसी प्रकार के भेद के लिये स्थान नहीं है, अतः उसमें शुभाऽशुभ के भेद के लिये भी स्थान नहीं है। जिस आत्मा का साक्षात्कार परमार्थ समझा जाता है वह 'न शुभ कर्मों से बढ़ती है और न अशुभ कर्मों से घटती है'।[२७] मुक्तात्माओं को शुभाऽशुभ के पालन की अपेक्षा नहीं रह जाती क्योंकि वे शुभाऽशुभ से अतीत आत्मा की प्राप्ति कर लेते हैं। नैतिक भेदों के लिये वेदांत के परमार्थ में स्थान नहीं है। नैतिकता पीछे छूट जाती है। अस्तु, शुभाऽशुभ-भेद वेदान्त में चरम नहीं है, अतः आचार-शास्त्र का भी उसमें कोई चरम मूल्य नहीं है।

उक्त मत आचार-दर्शन में शुभाऽशुभ भेद के स्थान और मूल्य के विषय में एक भ्रान्ति के ऊपर आश्रित है। हमारे कर्मों के विशेषण के रूप में शुभा-ऽशुभ का निषेध वेदान्त में नहीं किया गया है। क्योंकि यह स्वीकार किया गया है कि 'शुभ आचरण वाले शुभ योनियों को प्राप्त होते हैं और अशुभ आचरण वाले अशुभ योनि को प्राप्त होते हैं।'[२८] फल-विधान की समस्त योजना हमारे आचरण के शुभाऽशुभ भेद पर ही आश्रित है; किन्तु हमारे समस्त कर्मों की आश्रय आत्मा उनसे ऊपर तथा परे है। वह शुभाऽशुभ से अस्पृष्ट है। वह पूर्ण है; उसमें किसी प्रकार का वृद्धिक्षय सम्भव नहीं है, अतः सचमुच ही वह न शुभ कर्मों से बढ़ सकती है और न अशुभ कर्मों से घट सकती है। ज्ञान-गत विषय-विषयी के भेद का आश्रय होने के कारण यह शुभाऽशुभ भेद का भी आश्रय है। यदि शुभाऽशुभ आत्मा के लक्षण होते तो उनमें विवेक करने वाला कौन होता? एक ऐसे तत्व को स्वीकार किये बिना जो शुभाऽशुभ में विवेक करता है तथा विवेचक होने के कारण स्वयं दोनों से विविक्त है, शुभाऽशुभ का भेद निरर्थक हो जाता है। श्री शंकराचार्य[२९] का अनुसरण करते हुए सुरेश्वराचार्य ने जो दुःख के विषय में कहा है कि यदि आत्मा दुःख से अनुषक्त होता तो दुःख

२७. नो वर्द्धते कर्मणा नो कनीयान्। बृह०उप० ४-४-२३।

२८. रमणीयचरणा रमणीयां योनिमापद्येरन् कपूयचरणा कपूयां योनिमापद्येरन्। छा० ५-१०-७।

२९. त्रासोर्दुःखस्य चोपलभ्यमानत्वान्नोपलब्धृधर्मत्वम्। तै० भा० ३-१०-४

का साक्षी कौन होता ? दुःखी स्वयं साक्षी नहीं हो सकता और साक्षी दुःखी नहीं हो सकता[30], वही हम शुभाऽशुभ के विषय में भी कह सकते हैं कि शुभाऽशुभ की साक्षी होने के कारण आत्मा उनसे परे है। इसका अभिप्राय शुभाऽशुभ की यथातथ्यता अथवा उनके विवेक का निषेध करना नहीं है, किन्तु इसका आशय केवल इस आत्म-तत्व के विषय में, जो उनमें विवेक करता है तथा उसी विवेक के कारण उनसे विविक्त है, उनकी प्रयोजनीयता का निराकरण करना है।

शुभ और अशुभ का भेद एक सापेक्ष भावना के ऊपर निर्भर है। एक के विरोध में ही हम दूसरे को जानते हैं। यदि शुभाऽशुभ का भेद चरम है तो दोनों की सापेक्षता और विरोध का क्रम भी आचार-शास्त्र के अंत तक निरन्तर रहेगा। उनके भेद की चरमता उनके चरम-नैरन्तर्य ( ultimate commensurability ) की साधिका है। शुभ के साथ निरन्तर बन कर अशुभ शुभ का शाश्वत प्रतियोगी ( Eternal counterpart ) बन जाता है। अस्तु, जैसा कि ब्रैडले ( Bradley ) ने कहा है, 'जो आचार शास्त्र शुभाऽशुभ के भेद की चरमता पर आश्रित है वह शुभ के साथ उसके भेदक प्रतियोगी के रूप में अशुभ को भी शाश्वत रूप में सुरक्षित रखना चाहता है।'[31] अन्त तक अशुभ की अक्षुण्णता के बिना यह चरम भेद सम्भव नहीं है। दूसरी ओर आचार शास्त्र का आदर्श अशुभ पर शुभ की विजय है, जो शुभ के शाश्वत प्रतियोगी के रूप में अशुभ की चरमता के साथ संगत नहीं। अस्तु, आचार शास्त्र के सिद्धान्त और आदर्श में एक स्पष्ट विरोध है। ब्रैडले का कथन है कि 'आचार-शास्त्र अशुभ की विजय द्वारा अज्ञात रूप से नैतिक कोटि के परे जाना चाहता है।'[32] इस भ्रांति से बाहर निकलने का एक ही मार्ग है, वह है आचार-शास्त्र के आदर्श का शुभाऽशुभाऽतीत स्वरूप स्वीकरण करना। ब्रैडले के अनुसार 'नैतिकता की विविध अवस्थाएँ और प्रतीतियों को समाहित कर एक तदतीत सत्ता में अध्यस्त कर देने पर ही इस समस्या का समाधान हो सकता है। दूसरे शब्दों में नैतिकता का आदर्श नैतिकता से परे तथा शुभाऽशुभाऽतीत ( अथवा अति-नैतिक ) है।[33] प्रो० राधाकृष्णन् का

३०. नैष्कर्म्य सिद्धि २-७६।

३१. Appearance and Reality P. 202

३२. Idib P. 202.

३३. Idib P. 437.

कथन है कि 'नैतिकता सदा एक आत्माऽतीत ( self-transcending ) सत्ता की ओर संकेत करती है।[34] 'नैतिकता विकासशील है तथा उस तत्व की प्राप्ति का साधन नहीं बन सकती जो स्वतः सत्तावान् है। उस तत्व के साक्षात्कार के लिये हमें नैतिक जीवन से परे जाना होगा तथा एक आध्यात्मिक अनुभव की कोटि पर पहुँचना होगा जिसमें मित-क्षेत्र के संघर्ष और अध्यवसाय का अतिक्रमण हो जाता है।'[35] यदि नैतिकता का अंत तक अनुचरण किया जाय जहाँ पहुँच कर शुभ द्वारा अशुभ की पूर्ण विजय सम्पन्न हो जाती है तथा केवल शुभ ही शेष रह जाता है, तो वह अंतिम अवस्था अशुभ के प्रतियोगी के रूप में शुभ से एक अत्यन्त भिन्न अर्थ में शुभ कही जा सकती है। वह शुभ अवश्य होगी किन्तु वह सापेक्ष शुभ से भिन्न शुभ होगा। जैसा ब्रैडले ने कहा है 'शुभ पूर्ण नहीं है किन्तु पूर्णता का एक पक्ष मात्र है। इसकी प्रकृति अपना ही अतिक्रमण करने की ओर है और यदि वह पूर्ण हो जाता है तो उस समय वह शुभ नहीं रह जाता।'[36] उस अवस्था में शुभ 'पूर्ण' में अपना आदर्श प्राप्त कर लेगा और नैतिकता आध्यात्मिकता में अपनी परिपूर्णता का लाभ कर लेगी।

अस्तु, वेदान्त का आदर्श शुभाऽशुभ से परे है यह मत आचार-शास्त्र के स्वरूप के विषय में एक मौलिक भ्रान्ति पर आश्रित है। यह भ्रान्ति नैतिक भेदों की चरमता तथा नैतिकता के चरम मूल्य के बीच है। शुभाऽशुभ के भेद की चरमता शुभ के साथ अशुभ को भी शाश्वत बना कर आचार शास्त्र के उद्देश्य को ही भ्रष्ट कर देती है। नैतिकता का मूल्य जीवन में मूल्यांकन के एक आदर्श ( माप ) तथा आध्यात्मिक पूर्णता की प्राप्ति के साधन के रूप में उसके व्यावहारिक प्रयोजन में है। शुभाऽशुभ के विवेककर्त्ता के रूप में आत्मा उनसे विविक्त है, अतः उनसे परे है। आत्मा के साक्षात्कार की अवस्था स्वभावतः ही शुभाऽशुभ से परे होगी। किन्तु आत्म-सिद्धि की अवस्था में उनके अतिक्रमण का अभिप्राय जीवन में उनके यथा-प्राप्त भेद का निषेध नहीं है। अशुभ असत् नहीं है चाहे वह चरम सत्य न हो। यह एक व्यावहारिक तथ्य है, केवल कल्पना प्रतीति नहीं। और न योरोपीय ऐकान्तिकवाद की भाँति वेदान्त में अशुभ को शुभ का ही एक हीनतर रूप

३४. Indian Philosophy vol. II, P. 627.

३५. Ibid Vol. II, P.626.

३६. Appearance and Reality, P. 409.

माना गया है। अशुभ शुभ से च्युति है, शुभ का अंगमात्र नहीं। अशुभ की सत्ता का निषेध लोक जीवन के तथ्य की उपेक्षा है, किन्तु आत्मा अपने स्वरूप में शुद्ध है अतः अंत में इस पर विजय सम्भव है।[३७] आत्मा के इस सर्वातीत स्वरूप में ही आचार-शास्त्र के आदर्श की प्राप्ति की सम्भावना निहित है। आत्म-साक्षात्कार होने पर मुक्त पुरुष सापेक्ष नैतिकता से परे हो जाता है। मुक्त पुरुष इस अर्थ में कि शुभाऽशुभ भेद उनके लिये निरर्थक है शुभाऽशुभ से परे नहीं है वरन् इस अर्थ में है कि उस भेद को विजित कर लेने के कारण वह उनके विषय में लागू नहीं हो सकता। वे नैतिकता से ऊपर उठ चुके हैं क्योंकि वे एक ऐसी आध्यात्मिकता के एक उच्चतर स्तर को प्राप्त कर चुके जिसमें नैतिकता की सापेक्षता का पर्यवसान हो जाता है। वे आत्मा का साक्षात्कार प्राप्त कर चुके हैं, अतः वे अशुभ के परिशेष और सम्भावना से रहित शुभ की प्राप्ति कर चुके हैं। नैतिक-धर्म ( नियम ) उनके स्वभाव में समाविष्ट हो जाता है और शुभ उनकी सत्ता से समवेत हो जाता है। प्रो० हिरियन्ना के शब्दों में वे 'सहज रूप से श्रेयःशील हो जाते हैं।'[३८] जैसा सुरेश्वराचार्य का कथन है, 'जो आत्मज्ञान को प्राप्त कर लेते हैं उनके लिये दया आदि गुण किसी प्रयास की अपेक्षा नहीं रखते। वे उनके स्वभाव बन जाते हैं।'[३९] प्रो० राधाकृष्णन् के कवित्वपूर्ण शब्दों में मुक्त पुरुष 'उसी प्रकार गुणों का प्रसार करते हैं जैसे नक्षत्र-प्रकाश विकीर्ण करते हैं और पुष्प सौरभ'[४०] श्रेयः शीलता जो नैतिकता का आदर्श है, आध्यात्मिकता का अधिकार बन जाती है। आध्यात्मिकता में नैतिकता का निषेध नहीं पर्यवसान हो जाता है। नैतिकता द्वारा उसकी सम्पूर्ण व्याख्या नहीं होती फिर भी नैतिकता से आध्यात्मिकता का विरोध नहीं है। नैतिकता संपूर्ण सत्य नहीं है, किन्तु वह मिथ्या नहीं है। वह सत्य के चरम स्वरूप का प्रतीक नहीं बन सकती, किन्तु वह उसमें विलीन नहीं हो जाती। सत्य को वेदान्त में 'सत्' भी कहा गया है—जिसका अर्थ सत्य और शिव दोनों ही है।[४१] जो सत्य है वह शिव भी है, यद्यपि अशुभ का प्रतियोगी शिव नहीं। अस्तु, वेदान्तिक परमार्थ की

३७ आत्मापहतपाप्मा। छां० ८-७-१।

३८ Outlines of Indian philosophy P. 381

३९ नैष्कर्म्य सिद्धि—४-६९

40· Indian Philosophy Vol. I. P. 629.

४१. सद्भावे साधुभावे च सदित्येतत्प्रयुज्यते। गीता-१७-२६।

प्राप्ति जो आत्मा के सत्य स्वरूप का साक्षात्कार है चरम-सत्य के साथ साथ परम-शिव की भी प्राप्ति है। अन्त में नैतिकता का निषेध नहीं होता वरन् हमारी व्यावहारिक सत्ता के आध्यात्मिक सत्ता में परिणत होने पर नैतिकता का भी आध्यात्मिकता में पर्यवसान हो जाता है।

## ६—आचार-शास्त्र तथा तत्व-दर्शन

अस्तु, हम देखते हैं कि जीव और जगत् की वास्तविकता, व्यक्तित्व और संकल्प-स्वातन्त्र्य आदि आचार-शास्त्र के सभी आधार वेदान्त में पाये जाते हैं। अन्य आचार-शास्त्रों की भाँति वेदान्त में भी एक निः श्रेयस (Highest Good) की कल्पना पाई जाती है जो मनुष्य का परम साध्य (Highest End) है। किन्तु यह साध्य वेदान्त मत में कोई ऐसा साध्य नहीं माना गया है जो हमारी नैतिक विकास-प्रक्रिया का पर्यवसान हो। यह साध्य एक शाश्वत सत्य है जो कालावच्छिन्न नहीं है,अतः वह किसी काल-क्रम-गत कर्म-प्रक्रिया द्वारा प्राप्त नहीं; केवल अनुभव द्वारा उसका साक्षात्कार हो सकता है। वेदान्त का आचार-शास्त्र उसके तत्व-दर्शन पर आश्रित है। चरम सत्य हमारा परम निःश्रेयस भी है। प्रो० राधाकृष्णन् ने वेदान्तिक आचार-दर्शन की बड़ी सुंदर व्याख्या की है: "कोई भी आचार-शास्त्र तत्व दर्शन पर अर्थात् मानवीय आचार तथा चरम सत्य के एक दार्शनिक सिद्धान्त पर आश्रित अवश्य होगा। चरम सत्य के विषय में हमारी भावना के अनुरूप ही हमारा आचरण होगा। दर्शन और आचरण साथ साथ चलते हैं।"[४२] निःश्रेयस हमारी साधना का चरम लक्ष्य ही नहीं, किन्तु हमारे दैनिक जीवन का परम सिद्धान्त भी है। पूर्णता हमारी यात्रा का अवसान ही नहीं वरन् एक ऐसा सिद्धान्त है जो हमारी यात्रा के पग पग पर क्रियाशील है और उसके कष्ट तथा कोलाहल को शान्ति और समन्वय में परिणत कर देता है। पश्चिमी आचार-शास्त्र के विपरीत जो अधिकांश में मनुष्य के बाह्य आचरण की मीमांसा तथा उसके लिये एक बाह्य आदर्श के निर्धारण में संलग्न है, वेदान्तिक आचार-दर्शन जीवन के प्रति एक साधु दृष्टि कोण में सनातन समस्याओं का समाधान प्राप्त करता है। प्रो० राधाकृष्णन् के मत में 'साधु भावना ( Right spirit ) ही उच्चतम नैतिकता है'[४३] प्रो० हिरियन्ना ने जो संन्यास के विषय में कहा है

42- Eastern Religion & C, p 80

43- Indian Philosophy Vol. II. P. 629-

वही वेदान्तिक आचार दर्शन के विषय में भी कहा जा सकता है: 'बाह्य आचरण की अपेक्षा भावना ( spirit ) अथवा आन्तरिक अनुभव जिसमें इसका उद्गम है अधिक महत्वपूर्ण है। आचरण तो भावना की अभिव्यक्ति है, अतः गौण है। दार्शनिक शिक्षा का महत्व न तो एक मनुष्य को वह कर्म करने के लिये प्रेरित करने में है जो वह अन्यथा न करता और न उसे वह ज्ञान देने में जिसे वह अन्यथा प्राप्त न करता, किन्तु उसका महत्व उसे वह बना देने में है जो वह पहिले न था।,[४४] बाह्याचरण (External conduct)की अपेक्षा वह आन्तरिक भावना (Internal spirit) पर अधिक जोर देता है, बाह्य 'करण' ( Doing ) की अपेक्षा आन्तरिक 'भाव' ( Being ) पर अधिक जोर देता है। प्रो० राधाकृष्णन् के शब्दों में 'प्रश्न यह नहीं है कि मैं क्या करूँगा ? किन्तु किस भावना से करूँगा'[४५] समस्या यह नहीं है कि हमें क्या 'करना चाहिये' (To do) किन्तु यह कि हमें क्या 'होना चाहिये' ( To be )।

यह बात नहीं है कि वेदान्त दर्शन तथा जीवन में बाह्याचरण के महत्व की उपेक्षा करता है, वस्तुतः वेदान्त आचरण के महत्व में और भी अधिक विश्वास करता है और उसके लिये सत्य के स्वरूप में चरमाधार खोजता है जो समस्त आचरण की साधुता की प्रतिश्रुति बन सके। वेदान्त में निःश्रेयस जिसमें हमारी साधना का पर्यवसान होता है चरम सत्य भी है; वही सत्य हमारी सत्ता का सार है। प्रसिद्ध जर्मन दार्शनिक 'कान्ट' ने आचार शास्त्र के आधार स्वरूप मनुष्य की साधु कर्म की क्षमता में मानवता के चरमोद्धार का रहस्य पाया था। इसके विपरीत श्री शङ्कराचार्य ने हमारी सत्ता के सार के रूप में सत्य की कल्पना में मानवता के मोक्ष का रहस्य पाया। कान्ट का कथन था कि 'हम कर सकते हैं क्योंकि हमें करना चाहिये।' श्री शङ्कराचार्य का कथन था कि 'हमें यह बनना चाहिये क्योंकि हम यह हैं।' हमारा चरम साध्य हमारी चरम सत्ता भी है। हमारे जीवन का पूर्ण आदर्श शाश्वत सत्य है।[४६] साध्य कोई ऐसी वस्तु नहीं जिसका कभी उद्भव होता है वरन् वह एक शाश्वत सत्य है जो सदा वर्तमान है और जिसका हमें केवल अनुभव करना है। इसका अभिप्राय यह नहीं है कि क्योंकि साध्य शाश्वत सत्य

44- Out lines of Indian Philosophy, P- 25-

45. Eastern Religion & C. p. 201.

46- Eastern Religion & C. p- 208-

है समस्त आचार-शास्त्र अनावश्यक है और नैतिक विकास निरर्थक है। वेदान्त का यह मत नहीं है कि उस शाश्वत सत्य की सिद्धि के लिये कोई कर्म अपेक्षित नहीं है और केवल एक बौद्धिक प्रत्यभिज्ञान से वह प्राप्त हो सकता है। अनुभव और ज्ञान का अ-विवेक इस भ्रान्ति का मूल है। प्रो० राधाकृष्णन् के मतानुसार 'अनुभव का भाव ज्ञान से अधिक व्यापक है। अनुभव सम्यक्ज्ञान है, एक तीव्र संवेदनामय जीवन है, सजीव साक्षात्कार है।'[४७] 'अनुभव बौद्धिक योग्यता नहीं है, यह आत्म-सवेदन है।'[४८] अन्यत्र उन्होंने इसे 'अखण्ड अनुभूति'[४९], 'सजीव अनुभूति',[५०] तथा 'आत्मिक अन्तर्दृष्टि'[५१] बताया है।' प्रो० राधाकृष्णन् की इन विविध व्याख्याओं से यह स्पष्ट है कि अनुभव अथवा आत्मज्ञान न तो नितान्त बौद्धिक ही है और इतना अबौद्धिक कि उसमें बुद्धि और तर्क के लिये कोई स्थान न हो। वस्तुतः वेदान्त एक न्यायानुगत अध्यात्मवाद है, न्याय विरोधी रहस्य-वाद नहीं।[५२] वेदान्त-शिक्षा में तर्क को उचित स्थान दिया गया है। हमारे सत्य-पथ का यह आश्यक अवस्थान है चाहे वह उसका अवसान न हो। वह आत्म-ज्ञान जिसमें हमारी साधना का पर्यवसान होता है केवल बौद्धिक ज्ञान नहीं है, किन्तु प्रो० हिरियन्ना के मार्मिक शब्दों में 'वह बौद्धिक ज्ञान है जो परिपक्व होकर अपरोक्ष अनुभूति में पर्यवसित होता है।'[५३] यह किसी भौतिक तथ्य ( Physical fact ) का जड़ प्रत्यभिज्ञान ( static recognition ) नहीं है; किन्तु जीवन के एक आध्यात्मिक सत्य ( spiritual truth ) का सक्रिय अनुभव ( dynamic realization ) सत्य हमारी सत्ता का सार है, यह एक तात्विक सत्य ( Metaphysical Truth ) का निर्देश है, व्यावहारिक तथ्य ( Empirical fact ) का निर्वचन नहीं। इस तात्विक सत्य को एक व्यावहारिक तथ्य में परिणत करने के लिये नैतिक साधना की

---

47—Indian Philosophy Vol. II. P. 628.
48—ibid, P. 224.
49—ibid P. 510.
50—ibid P. 628.
51—ibid P. 618.
52—Nature of self p. 367-
53—Outlines of Indian Phisophy p. 24.

अपेक्षा है। साध्य की तात्विक सत्यता हमें निष्क्रियता का अधिकार नहीं देती वरन् वह हमारी अन्ततः सिद्धि की प्रतिश्रुति है। क्योंकि साध्य एक तात्विक सत्य है हम साधना द्वारा उसे एक व्यावहारिक तथ्य में परिणत कर सकते हैं। क्योंकि हम ब्रह्म है, हम ब्रह्म को प्राप्त कर सकते हैं।

## ७—वेदान्तिक आचार-दर्शन का स्वरूप

अस्तु, जब जीवन, जगत् और संकल्प-स्वातन्त्र्य के लिये वेदान्त में स्थान है तथा नैतिकता की चरम-मूल्यवत्ता आध्यात्मिक साध्य (मोक्ष) में विलीन या विनष्ट नहीं हो जाती, तो यह नहीं कहा जा सकता कि वेदान्त में आचार-दर्शन के लिये स्थान नहीं है अथवा नैतिकता का इसमें कोई चरम मूल्य नहीं है। वेदान्त में न आचार-दर्शन की सम्भावना का और न नैतिकता के मूल्य का निषेध किया गया है, वरन् उसमें दोनों को यथोचित स्थान और महत्व दिया गया है। किन्तु न वेदान्त में और न किसी अन्य भारतीय दर्शन में आचार-शास्त्र को दर्शन से पृथक किया गया है। दर्शन मनुष्य के जीवन और ज्ञान के चरम-सत्य की खोज का प्रतीक है। सत्य एक और अखण्ड है अतः दर्शन के किसी पक्ष की मीमांसा उसे पृथक् करके समुचित रीति से नहीं की जा सकती। अस्तु, वेदान्त तथा अन्य भारतीय दर्शनों में आचार-दर्शन सम्बन्धी चिन्तन सामान्य दार्शनिक-चिन्तन के ही अन्तर्गत है, उससे पृथक नहीं। किन्तु दर्शन से पृथक न होने के कारण आचार-शास्त्र सम्बन्धी चिन्तन में हम केवल आचार-शास्त्र के मूल सिद्धान्त ही पाते हैं, समाज में उनके प्रयोजन की विस्तृत मीमांसा नहीं पाते। यह आलोचना कि 'भारतीयों ने समाज की मीमांसा नहीं की' भारतीय चिन्तन और साहित्य के विषय में एक घोर अज्ञान के ऊपर आश्रित है। आचार-शास्त्र के सामान्य दर्शन के अन्तर्गत होने के कारण सामाजिक व्यवस्था में नैतिक सिद्धान्तों के प्रयोजन की मीमांसा के लिये अवकाश न था। किन्तु नैतिक चिन्तन का आरम्भ मनुष्य और उसकी प्रकृति को ही लेकर हुआ था तथा उसका अन्त मनुष्य के लिये एक परम-साध्य की कल्पना में हुआ। आखिर, समाज का निर्माण व्यक्तियों से ही हुआ है, और वह आचार-दर्शन जो मनुष्य की प्रकृति तथा उसके आदर्श को ध्यान में रखता है और तद्विषयक सिद्धान्तों की स्थापना करता है, न्यायपूर्वक 'समाजविरोधी' नहीं कहा जा सकता। वेदान्त प्रत्येक व्यक्ति को अपने में साध्य मानता है।

प्रत्येक मनुष्य को पूर्णता का अधिकार है जो उसका परमार्थ (निःश्रेयस) है। वह आचार-शास्त्र जो सामाजिक होने का दावा रखता है समाज की पूर्ण व्यवस्था के रूप में निःश्रेयस की कल्पना करता है। वह साध्य की कल्पना पूर्ण रूप से सन्तोषजनक परिस्थितिओं की अवस्था के रूप में करता है। किन्तु इस प्रकार के काल्पनिक आचार-शास्त्र के बाह्याभिमुख दृष्टिकोण से ऐसा साध्य केवल एक स्वप्न और आशा है। वह या तो 'स्पेन्सर' के 'न्यू जेरूसलम' ( New Jerusalem ) की भाँति काल्पनिक रहेगा या 'कान्ट' के 'आदर्श-लोक' ( Kingdom of Ends ) की भाँति अप्राप्य रहेगा। वेदान्त साध्य को एक चरम सत्य के रूप में देखता है। इसमें सामाजिक परिस्थितियों की एक काल्पनिक व्यवस्था के रूप में नहीं, किन्तु एक ऐसी आध्यात्मिक सत्ता के रूप में साध्य की कल्पना की गई है जिसमें मनुष्य अपनी चरम पूर्णता प्राप्त कर लेता है। यह आध्यात्मिक सत्ता प्रत्येक व्यक्ति की सत्ता है। पूर्णता प्रत्येक मनुष्य का अधिकार है और प्रत्येक मनुष्य अपने में साध्य है। अतः वेदान्तिक साध्य स्वतः ही एक 'आदर्श-लोक'(Kingdom of Ends) हो जाता है, जो पूर्ण व्यक्तियों से निर्मित है। पूर्ण व्यक्तियों का समाज स्वाभाविक रूप से समाज की पूर्ण व्यवस्था से सम्पन्न होगा। जब मनुष्य का व्यक्तित्व पूर्ण है, उसका आचरण स्वभाव से ही शुद्ध होगा और वह समाज जिसका वह निर्माण करेगा स्वतः पूर्ण होगा।

मनुष्य की प्रकृति की आध्यात्मिकता उसे उच्चतम आध्यात्मिक गौरव प्रदान करती है। अपनी आध्यात्मिक सत्ता के साक्षात्कार तथा समाज को संघातक विरोधों में विच्छिन्न करने वाले भय और घृणा पर विजय के रूप साध्य तथा उसके परिणाम स्वरूप अखिल प्राणि-जात के एकत्व (समन्वय) से अधिक और किस सामाजिक आदर्श की कल्पना की जा सकती है तथा किस निःश्रेयस की कामना की जा सकती है? मुक्त पुरुषों के लिये भी लोक-संग्रह के लिये कर्म करना परम कर्तव्य माना गया है। यदि यह सब समाज को अमीमांसित छोड़ देना है तो हम नहीं जानते कि समाज की मीमांसा क्या है। कदाचित् इसका अभिप्राय यह हो कि नैतिक सिद्धांतों के समाज में प्रयोजन की विस्तृत व्याख्या नहीं की गई है। यह यथार्थ है किन्तु यदि यह वेदान्त की समालोचना है तो यह मिथ्या है। नैतिक सिद्धांतों के सामाजिक व्यवस्था में प्रयोजन की भारतीय चिन्तन में उपेक्षा नहीं की गई है, किन्तु वह साहित्य की एक अन्य शाखा के लिये छोड़ दिया गया है।

स्मृति और नीति के असंख्य ग्रन्थ सामाजिक व्यवस्था में नैतिक सिद्धांतों के प्रयोजन के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। वे आचार-दर्शन के व्यावहारिक पक्ष हैं।

पश्चिमीय आचार-शास्त्र के विपरीत जो कि भौतिक तथा सैद्धान्तिक है, वेदान्तिक आचार-शास्त्र आध्यात्मिक तथा व्यावहारिक है। पश्चिमीय आचार-शास्त्र मनुष्य को बाह्य रूप में देखता है तथा उसे समाज के सदस्य के रूप में ग्रहण करता है। अतः उसका मुख्य उद्देश्य मनुष्य के व्यक्तिगत और सामाजिक स्वार्थों का समाधान बन जाता है। समस्त पश्चिमीय आचार-शास्त्र बाह्य दृष्टि से एक सन्तोषप्रद सामाजिक व्यवस्था के रूप में स्वार्थ और परार्थ के सामंजस्य का प्रयास है। सुख अथवा आनन्द जो जीवन का साध्य माना गया है मनुष्य की शारीरिक और भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति के रूप में ग्रहण किये गये हैं तथा एक पूर्ण सामाजिक व्यवस्था में उनकी पूर्ति की कल्पना की गई है। किन्तु मानव-प्रकृति के इस बाह्य पक्ष की मीमांसा कभी एक सन्तोषप्रद परिणाम पर न पहुँच सकी। मनुष्य एक भौतिक तथा सामाजिक प्राणी है; और उसके शारीरिक सुख और भौतिक आनन्द की पूर्ति एक पूर्ण सामाजिक व्यवस्था में अवश्य होनी चाहिये। किन्तु यह पूर्ण सत्य नहीं है। यदि इसे अधिक महत्व दिया जाय तो आचार-दर्शन मनोविज्ञान अथवा अर्थशास्त्र अथवा राजशास्त्र का रूप ग्रहण कर लेगा। मनुष्य की आध्यात्मिक प्रकृति उसके व्यक्तित्व का गम्भीरतर तथा सत्यतर पक्ष है। वेदान्तिक आचार-दर्शन ने मनुष्य की आध्यात्मिक प्रकृति पर जोर देकर जीवन की समस्या के मर्म का स्पर्श किया है। आध्यात्मिक सत्ता के साक्षात्कार में जीवन और जगत् की समस्त समस्याओं का समाधान है। आत्मा के एकत्व तथा उसके परिणाम-भूत स्वार्थों के समन्वय में ही स्वार्थों के विरोध का समाधान और आचरण का चरम आदर्श है।

स्वार्थ और परार्थ के बाह्य रूप से समाधान द्वारा मनुष्य के विविध स्वार्थों के विरोध का परिहार नहीं हो सकता। वेदान्त ने आध्यात्मिक मूल्यों के समन्वय में इस समस्या का उत्तर पाया है अथवा जैसा प्रो० हिरियन्ना का कथन है 'व्यक्ति और जगत् के स्वार्थों के एकत्व द्वारा दोनों के स्वार्थ के विरोध का परिहार किया है।' मनुष्य की मानवीय तथा पाशविक प्रवृत्तियों का आध्यात्मिकीकरण ही एक मात्र साधन है जिसके द्वारा मनुष्य की शारीरिक तथा

भौतिक आवश्यकताओं का जीवन के उच्चतम आदर्श से सामंजस्य हो सकता है। अपने तथा समस्त प्राणिजात के व्यक्तित्व के तत्व के रूप में आत्मा का दर्शन तथा इसके फलस्वरूप समस्त प्राणिजात के एकत्व का अनुभव ही एक ऐसा सिद्धान्त है जिसके आधार पर एक स्थायी और सन्तोषकर सामाजिक व्यवस्था का विधान अथवा स्थापन हो सकता है। सर्वात्मभाव ही मनुष्य की सब से बड़ी साधना और मानव जाति की मुक्ति का सर्वोत्तम उपाय है। एक बौद्धिक सिद्धान्त के रूप में नहीं वरन् जीवन के एक साक्षात् सत्य के रूप में एक आध्यात्मिक दृष्टिकोण प्रदान करके वेदान्त ने हमारे जीवन के समस्त प्रश्नों का अन्तिम उत्तर दे दिया है और उसकी प्राप्ति के लिये एक साधन-पद्धति का निर्देश कर सत्य का श्रेयस्तम मार्ग प्रशस्त किया है।

वेदान्तिक आचार-दर्शन का तात्विक आधार और आध्यात्मिक दृष्टि-कोण उसे एक सनातन तथा सार्वभौम सत्य का स्वरूप प्रदान करता है। वह किसी विशेष परिस्थिति में व्यवहार्य कोई पुण्य-पाप का सिद्धान्त नहीं है, वरन् जीवन की समस्याओं का चरम समाधान है, जिसे वेदान्त ने परम निश्रेःयस तथा हमारी चरम सत्ता के सार-रूप में चरम सत्य की कल्पना में पाया है। चिन्तन पद्धति में मनुष्य की प्रकृति का ध्यान रखना आवश्यक है, किन्तु श्री शंकराचार्य के मत से प्रामाण्य चिन्ता में पुरुष-प्रवृत्ति दृष्टान्त रूप से ग्रहण नहीं की जा सकती।[५४] भिन्न-भिन्न युगों और देशों में पुण्य-पाप, श्रेय-अश्रेय की कल्पना विचारणीय है, किन्तु सापेक्ष ऐतिहासिक दृष्टिकोण से यह विश्लेषण कर हम निःश्रेयस के स्वरूप का निर्धारण नहीं कर सकते। व्यक्तिगत कर्मों का मनोवैज्ञानिक पक्ष मनुष्य के आचरण की प्रेरणाओं को समझने में सहायक हो सकता है, किन्तु हम बाह्य कर्मों के रूप में एक चरम आचार-दर्शन का निर्माण नहीं कर सकते। आचार-दर्शन का मूल आधार हमें अपनी मूल भावना तथा अन्तरात्मा में खोजना चाहिये। पुण्य-पाप, धर्माऽधर्म की ऐतिहासिक कल्पनायें कालानुकूल परिणामशील परिस्थितिओं में स्वीकृत सामाजिक रूढ़ियाँ मात्र हैं। निःश्रेयस की कल्पना का आधार काल देश और परिस्थिति की सापेक्षता से ऊपर होना चाहिये। बाह्य कर्म अनन्त हैं, तथा उनके सम्भावनीय घटना की परिस्थितियाँ अनन्त-परिणाम-शील है, समस्त आचरण के लिये एक चरम आधार की खोज ही

---

५४—प्रामाण्यचिन्तायां पुरुषप्रवृत्तेरदृष्टान्तत्वात् छा-भा० २-२३-१

नैतिक समस्या का समाधान हो सकता है। प्रो० राधाकृष्णन् के शब्दों का 'साधु भावना (Right spirit) ही उच्चतम नैतिकता है।'[५५] जब जीवन के प्रति एक साधु दृष्टिकोण प्राप्त हो गया तो समस्त आचरण स्वाभाविक रूप से साधु होगा। जब नैतिक नियम हमारे व्यक्तित्व में अन्तर्भूत हो गया तो नैतिकता हमारे व्यक्तित्व की प्रकृति बन जाती है।[५६] जब हम अपने मूल स्वरूप के रूप में चरम सत्य का साक्षात्कार कर चुके तो श्रेय हमारा स्वभाव बन जाता है। कोई भी कर्म हम करेंगे वह स्वभावतः साधु होगा। जब अपनी आत्मा के साथ समस्त प्राणिजात की आत्मा के एकत्व का अनुभव कर हम सर्वात्मभाव की प्राप्ति कर चुके तो हमारा समस्त आचरण विश्व के निःश्रेयस के लिये होगा।

## ९—समालोचना और उसका उत्तर

आचरण की प्रेरणा के इस साधारणीकरण में कुछ लोग प्रेरणामात्र का निषेध देखते हैं। प्रो० पॉल्सन (Prof Paulson) का कथन है कि 'लोक-कल्याण की सामान्य भावना कभी हमारे आचरण की प्रेरणा नहीं बन सकती; इसका कारण यह है कि लोक-कल्याण के इतने व्यापक आदर्श की कोई मूर्त कल्पना कर सकना सम्भव नहीं है। इसके अतिरिक्त ऐसे चरम साध्य के साथ विशेष कर्मों के सम्बन्ध का कोई अनुमान नहीं लगाया जा सकता'[५७] किन्तु प्रो० पॉल्सन का यह आक्षेप पश्चिमी आचार-शास्त्र पर ही लागू होता है जो प्रायः साध्य का एक सिद्धान्त (Theory of the end) है। इसका प्रयास साध्यों की एक बाहरी व्यवस्था का आयोजन करना है जिसमें लोक का निःश्रेयस निहित हो। प्रो० पॉल्सन का विश्वास है कि 'कान्ट के उस कथन में कुछ सत्य अवश्य है कि साधु-संकल्प ही एक मात्र ऐसी वस्तु है जो स्वतः साधु है, इसका बिना इस प्रसंग के कि इससे लोक में क्या सिद्ध होता है और कैसी सफलता मिलती है, आत्यन्तिक नैतिक मूल्य है।'[५८] किन्तु उनका अनुरोध है कि 'हम यहाँ नहीं ठहर सकते। किसी सीमा तक यह सत्य है कि न्याय युक्त (Just) कर्म साधु (Right) है, तथा अन्याय युक्त

55. Indian Philosophy Vol- II P- 629
56- ibid p. 228-
57. Introduction Philosophy p. 427.
58. Ibid. p. 425.

( unjust ) कर्म असाधु ( wrong ) है। बिना इसका विचार किये हुए कि कर्म का परिणाम क्या है, भावना निर्णायक है, फल नहीं जो सदा अनिश्चित है।'[५९] प्रो० पॉल्सन का वचन है कि 'यह सत्य है कि किसी कर्म विशेष की प्रेरक भावना ही उसके नैतिक मूल्य की निर्णायक है।' किन्तु वे पूछते हैं कि 'यदि मनुष्य के कृत्यों का दूसरों के कल्याण पर कुछ भी प्रभाव न होता तो क्या हम न्याय और अन्याय की बात भी कर सकते।'[६०] इसके अतिरिक्त 'कर्त्ता की भावना का मूल्यांकन भी अन्त में प्रयोजन के सम्बन्ध से ही हो सकता है; अन्त में विश्लेषण से यही सिद्ध होता है कि साधु भावना इसीलिये साधु है कि वह किसी फल के कारण ही साधु है, क्योंकि वह ऐसे कर्मों की ओर आचरण की ओर प्रवृत्त करती है जिनका बाह्य मूल्य है अर्थात् जो मानव-जीवन की पूर्णता की ओर ले जाते हैं।'[६१]

प्रो० पॉल्सन के कथन का सारांश यह है कि नैतिक कर्म का फल अथवा साध्य से आवश्यक सम्बन्ध है, जिसके अनुषंग से ही कर्म अथवा भावना की नैतिक सार्थकता हो सकती है। वेदान्त इस साधारण सत्य की उपेक्षा नहीं करता कि फल अथवा साध्य के ही रूप में कर्म के अर्थ की व्यंजना होती है ( और उसी में कर्म के नैतिक मूल्य की सार्थकता है )। किन्तु इससे यह निर्णय नहीं होता कि बाह्य फल में ही कर्म का चरम नैतिक मूल्य निहित है। बाह्य फल कर्म का अनिवार्य अनुषंग है किन्तु उसके नैतिक मूल्य का एकान्त निर्णायक नहीं।' यदि केवल भावना के स्वरूप का निर्धारण सम्भव नहीं है, तो केवल बाह्य फल के रूप में कर्म का नैतिक मूल्यांकन भी सम्भव नहीं। यदि 'साधु भावना अंत में किसी फल के लिये साधु होने के कारण ही साधु है' तो और अधिक विश्लेषण करने पर यह 'कोई फल' इसलिये साधु है कि वह 'किसी व्यक्ति' के लिये साधु है। अस्तु, अंत में हम नैतिक कर्म के कर्त्ता पर आ जाते हैं जिससे हम सदा ही नैतिक चिन्तन में प्रारम्भ करते हैं। हम मनुष्य के संकल्प और भावना के आधार पर नैतिक मूल्य के अंकन पर फिर लौट कर आ जाते हैं और यह सारा तर्क एक भ्रान्ति-चक्र सा प्रतीत होता

---

59. Introduction to Philosophy p. 425.
60. ibid. p. 425.
61. ibid. p. 427.

है। साधु भावना का बाह्य फल से अनिवार्य अनुषंग है और उसी में उसकी साधुता की सार्थकता है तथा बाह्य फल का प्रसंग कर्त्ता की भावना से है जिसके लिये ही वह मूल्यवान् और सार्थक हो सकता है। यदि साधु भावना इसलिये साधु है कि वह किसी फल के लिये साधु है, वह 'कोई फल' स्वतः ही साधु नहीं हो सकता, उसकी साधुता भी किसी 'व्यक्ति' के प्रसंग से ही सार्थक होगी जिसके लिये वह साधु है। वस्तुतः नैतिक मूल्य का निर्धारण न केवल भावना के आधार पर सम्भव है जैसा कान्ट का अभिप्राय था और न केवल बाह्य फल के आधार पर जैसा प्रो० पॉल्सन का प्रयास है। दोनों की अन्योन्याश्रयता से एक सापेक्ष आचार शास्त्र की सृष्टि होगी, नैतिक श्रेय के स्वरूप निर्धारण का कोई आधार प्राप्त न होगा। व्यक्तिगत भावना अथवा व्यक्तिगत कर्म-फल से, जिसमें उसकी अभिव्यक्ति होती है, श्रेय के सामान्य स्वरूप के निर्धारण की चेष्टा ही इस कठिनाई का मूल है। व्यक्ति को व्यक्ति के रूप में ग्रहण कर हम सामान्य की कल्पना नहीं कर सकते। सामान्य व्यक्तियों की एक अनन्त परम्परा का न संकलन है न पर्यवसान। व्यक्ति कोई गणित का अंक नहीं है, यदि ऐसा होता तो केवल अनन्त विशेष व्यक्तियाँ ही होती और सामान्य अकल्पनीय होता। व्यक्ति एक साकूत-प्रत्यय(signifi-cant-Concept) है जो सत्ता की दृष्टि से व्यक्तिगत होते हुए भी व्यंजना की दृष्टि से व्यापक है। व्यक्ति की सामान्य-लक्षणा में हम सत्य का वस्तुतःसामान्य स्वरूप पा सकते हैं। कर्त्ताओं की व्यक्तिगत भावनाऐं हमें अनन्त व्यक्तिगत मूल्यांकनों की ओर ले जायेंगी जिनसे हम श्रेय ( Good ) अथवा श्रेयः-संकल्प ( Good will ) के चरम स्वरूप की कभी कल्पना नहीं कर सकते; और व्यक्ति-गत कर्म फल अथवा पदार्थों का प्रसंग जिनमें उस भावना की अभिव्यक्ति होती है अनन्त व्यक्ति-विशेषों की ओर ले जायगा जिनके आधार पर कभी परम-श्रेय ( Highest Good ) की कल्पना नहीं की जा सकती। कर्त्ता और फल दोनों सापेक्ष शब्द हैं, अतः उनके आधार पर हम निरपेक्ष सत्य तक नहीं पहुँच सकते। दोनों में से किसी एक पर अधिक जोर देना एकपक्षीय काल्पनिकता की ओर ले जाता है, और दोनों की सापेक्षता हमें एक लक्ष्यहीन पथ पर ले जाती है। उस आध्यात्मिक तत्व में ही जो उन दोनों का आधार है हम अपने नैतिक प्रश्नों का अन्तिम उत्तर पा सकते हैं। यह सत्य है कि आचार-शास्त्र हमारे आचरण का दर्शन है और आचरण का फलों से सम्बन्ध है, किन्तु कर्म अथवा फल की मीमांसा

मात्र से हम परम श्रेय के स्वरूप की कल्पना नहीं कर सकते। भावना अथवा संकल्प तथा फल सब व्यक्तियाँ हैं जो सामान्य की सृष्टि नहीं कर सकतीं। एक आध्यात्मिक तत्व उन दोनों का मूल है, उसी में हम अपनी जिज्ञासा का अन्त पा सकते हैं।

अस्तु, वेदान्त ने आचार-शास्त्र का चरम सत्य न आन्तरिक भावना (संकल्प) में पाया है और न बाह्य फल में किन्तु एक आध्यात्मिक तत्व में जिसमें दोनों का आधार और समन्वय है। जैसा प्रो० हिरियन्ना का कथन है, 'वेदान्त प्रयोजन (Purpose) का एक दम निराकरण नहीं करता, किन्तु यह हमारे समस्त कर्मों के लिये एक ही प्रयोजन निर्धारित करता है।'[६२] लोक संग्रह समस्त व्यवहार का परम प्रयोजन है। आन्तरिक भावना बाह्यफल के अनुषंग के बिना श्रेय नहीं कही जा सकती, और न बाह्य कर्म स्वतः श्रेय कहा जा सकता है। दोनों अन्योन्याश्रित तथा व्यक्तिगत हैं। आत्मा हमारे अनुभव का अपरोक्ष और सामान्य सत्य है। परम श्रेय चरम तभी हो सकता है जब वह सत्य भी हो। वह एक ऐसा साध्य भले ही हो जिसका साक्षात्कार करना शेष है, किन्तु वह एक ऐसा साध्य नहीं है जिसका अभी उद्भव अपेक्षित है। सत्य के बिना पूर्णता अकल्पनीय है। आत्मा हमारी सत्ता का चरम सत्य है और वेदान्त की आध्यात्मिक भावना ऐकान्तिक सत्य है क्योंकि वह सत्य पर आश्रित है। वह सार्वभौम सत्य है क्योंकि आत्मा का स्वरूप सार्वभौम तथा अनन्त है। यह केवल कल्पना नहीं क्योंकि वह हमारे अनुभव गत अपरोक्ष सत्य है। आध्यात्मिक तत्व हमारी सत्ता का चरम सत्य है। हम इस रूप में उसका साक्षात्कार कर सकते हैं क्योंकि वह वस्तुतः ऐसा है। जब हम उसका साक्षात्कार कर लेते हैं सत्य हमारा स्वभाव, पूर्णता हमारा अधिकार तथा श्रेय हमारा स्वाभाविक व्यवहार बन जाता है। जब तक श्रेय एक व्यक्तिगत भावना अथवा फल मात्र रहेगा तब तक आचार-दर्शन सदा सापेक्षता की सन्दिग्ध और अनिश्चित अवस्था में रहेगा। उस आध्यात्मिकता में ही वह अपनी अंतिम सफलता प्राप्त कर सकता है, जिसमें श्रेय साक्षात्कृत आत्मा की स्वाभाविक अभिव्यक्ति का स्वरूप तथा श्रेयःकर्म उसकी स्वाभाविक प्रक्रिया बन जाता है। यह ऐसा अनिर्दिष्ट सामान्य नहीं है, जिसमें विशेष कर्मों की विशिष्टता अलक्षणीय हो जायगी। यह

62. Outlines of Indian Philosophy p. 126-

ऐसा सामान्य है जो अनन्त व्यक्तियों की सम्भावना से सम्पन्न है। व्यक्ति-गत कर्ता अथवा फल का अनुषंग आवश्यक नहीं क्योंकि यह एक ऐसा सत्य है जो दोनों का आधार है और साक्षात्कार के बाद उसकी अभिव्यक्ति सर्वदा अनिवार्य रूप से उनसे सामंजस्य पूर्ण होगी। जब हम सर्वात्मभाव का अनुभव कर लेते हैं तो स्वार्थों का समस्त संघर्ष समाप्त हो जाता है और हमारा समस्त आचरण परार्थ होता है। जब आत्मैकत्व का चरम सत्य के रूप में अनुभव हो चुका तो साध्यों का समन्वय स्वाभाविक परिणाम होगा। यह आध्यात्मिक दृष्टि कोण शून्य में एक काल्पनिक मुद्रा नहीं, क्योंकि आत्मा कल्पना नहीं सत्य है तथा अनंत व्यक्तिगत साध्यों से सम्पन्न है। श्रेय सत्य का सार है, अतः लोक जीवन में अनंत किंतु समन्वित श्रेयस्-व्यक्तियों के रूप में परम श्रेय का अनुभव और उसकी अभिव्यक्ति स्वाभाविक है।

# पाँचवाँ अध्याय

## साध्य और साधन

### १—आचरण का विश्लेषण

वेदांत के अनुसार आत्मा चरम सत्य है। वह मनुष्य और विश्व में एकत्व का एक आध्यात्मिक सिद्धांत है। मनुष्य में यह आत्मा पूर्ण विकसित हो गई है।[१] इसी कारण मानव सृष्टि का मुकुट है और सब प्राणियों में श्रेष्ठ है। मनुष्य ही को नैतिक कर्म और आध्यात्मिक ज्ञान का अधिकार है।[२]बाह्य दृष्टि से मनुष्य पशु से अधिक नहीं जान पड़ता। ब्रह्मसूत्र भाष्य की भूमिका में श्री शंकराचार्य ने कहा है कि मनुष्य का बहुत कुछ व्यवहार पशु के समान है।[३] उसके बहुत कुछ क्रिया-कलाप उसकी भौतिक तथा शारीरिक प्रवृत्तियों से संचालित होते हैं। इन्द्रियाँ मनुष्य के करण हैं। उनका सुख से स्वाभाविक राग तथा दुःख से स्वाभाविक द्वेष है। रागद्वेषानुकूल ही उनकी स्वाभाविक प्रवृत्ति होती है।[४] काम (इच्छा) समस्त कर्मों की मूल प्रेरणा शक्ति है।[५] संकल्प रूप में परिणत होकर काम ही कर्म का प्रयोजक बन जाता है, अतः यह कर्म फल का संसार संकल्प-मूलक है।[६] आत्मा से भिन्न वस्तु की कल्पना तथा उसे आत्मसात करने की अभि-

---

१. पुरुषे त्वाविस्तरदात्मा। तै० आ० २-१-१।

२. पुरुष एव शक्तत्वादर्थित त्वादपर्युदस्तत्वाच्च कर्मज्ञानयोरधिक्रियते। तै० भा० २-१-१।

३. पश्वादिभिश्चाविशेषात्। अध्यासभाष्य।

४. रागद्वेषौ हि तत्पुरःसरा हि इन्द्रियाणां प्रवृत्तिः स्वाभाविकी। गी० भा० २-६४।

५. कामयमानश्य करोति कर्माणि तै० भा० १-११।

६. एदद्धीदं सर्वं जगत्, यत्फलावसानं तत्सर्वं संकल्पमूलम्। छां० भा० ७-४-२।

लाषा काम का कारण है ।[७] काम मनुष्य के हृदय में आशा जाग्रत करता है जो उसे स्मराकाशादि तथा नाम-पर्य्यन्त जगत् के बन्धन में बांधती है ।[८] आशा से अभिभूत मनुष्य भविष्य की कल्पना कर भावी फल को भी वर्त-मान के समान कल्पित कर उसकी प्राप्ति का आनन्द लेता है ।[९] यह कल्पित आनन्द मनुष्य को कर्म के लिये प्रेरित करता है तथा समस्त आचार का मूल है ।[१०]

## २—. नुष्य में निहित आत्मा

यह मनुष्य के आचरण की बड़ी यथार्थ मीमांसा प्रतीत होती है; किंतु वह वास्तव में यथार्थ नहीं है । इन्द्रियों को ही कर्ता मान लेना इसकी त्रुटि है । नैतिक आचार के मूल में जो मानसिक तथा आध्यात्मिक तत्व है उसकी यह उपेक्षा करती है । यदि मनुष्य का आचार शारीरिक प्रवृत्तियों की एक धारा मात्र होता तो आचार शास्त्र असम्भव तथा अनावश्यक होता । इस प्रवृत्ति-धारा के प्रवाह को रोक कर उसमें चिन्तन का बन्ध उत्पन्न करने वाला कोई तत्व न होता । यह चिन्तन ही आचार-दर्शन का आधार है। आचार-दर्शन का यह चिन्तनात्मक आधार आचार के प्राकृतवादी सिद्धांतों का खण्डन करता है और हमारा अनुभव भी उन्हें अप्रमाणित करता है । 'चाहिये' ( तव्यत् ) जो आचार-दर्शनकी आत्मा है, प्रकृति के ऊपर शासन की सम्भावना का संकेत करता है । इसका स्पष्ट अभिप्राय यह है कि हम से आचरण के एक आदर्श की आशा की जाती है, किन्तु हमारा आचरण उस आदर्श के अनुकूल नहीं बन पाता । फिर भी यह हमें अपनी प्रकृति से ऊपर उठकर उच्चतम नैतिक आदर्श के अनुकूल आचरण करने की प्रेरणा करता है । यह 'तव्यत्' हमारे भीतर निहित एक आध्यात्मिक तत्व की सत्ता की ओर संकेत करता है जो हमारी शारीरिक प्रवृत्तियों को शासित और संचालित कर सकता है । इन्द्रियों से ऊपर मन और आत्मा है । कठ उप

---

७. अपि चानात्मदर्शिनो ह्यनात्मविषयः कामः । तै० भा० १-११ ।

८. आशारशनाबद्धं स्मराकाशादिनामपर्य्यन्तं जगच्चक्रीभूतं प्रतिप्राणिः । छां० भा० ७-१४-१ ।

९. भविष्यदपिफलं लब्ध्वेत्युच्यते तदुद्दिश्य प्रवृत्त्युपपद्येत । छां० भा० ७ १२-१ ।

१०. नाऽसुखं लब्ध्वा करोति । छां० ७-१२-१ ।

निषद् में इन्द्रियों को अश्व बतलाया है जिनका हमें मन द्वारा नियन्त्रण करना है।[११] यद्यपि एक भौतिक प्राणी के अर्थ में मनुष्य पशु है, किंतु वह ईश्वर और जगत् का संगम-बिन्दु भी है। सत्ता और बोध के एकत्व का आध्यात्मिक तत्व मनुष्य में आत्मचेतन हो गया है, अतः मनुष्य को अपनी भौतिक सत्ता के अंतर्निहित सत्य का सदा ज्ञान है। प्रकृति और आत्मा के संगम का उच्चतम बिन्दु होने के कारण वह उनके बीच एक तीव्र संघर्ष का स्थल भी बन गया है। उसके भीतर एक अनादि काल से प्रवृत्त देवासुर संग्राम चल रहा है।[१२] यह उपद्रव उसकी विलक्षण भौतिक सत्ता के लिए स्वाभाविक है किन्तु इस संघर्ष में उसने अपनी आत्मा को नहीं खोया है। कितने ही बादल घिर आयें किन्तु वे प्रकाश को लुप्त नहीं कर सकते तथा दर्शन को असंभव नहीं बना सकते। इसी प्रकार यह संघर्ष तथा विद्रोह भी मनुष्यों के अंतर के सत्य प्रकाश को ग्रस्त नहीं कर सकता। यदि परिपूर्ण अंधकार होता तो अंधकार का ज्ञान भी असम्भव हो जाता। यदि सत्य को हमारी दृष्टि से अंतर्हित करने वाला अज्ञान पूर्ण होता तो हमें उस अज्ञान का भी ज्ञान न होता।[१३] अज्ञान की चेतना एक अज्ञान से ऊपर तत्व का संकेत करती है। समस्त उपद्रव और संघर्ष में उसे अध्यात्म तत्व का बोध रहता है। यह अध्यात्म तत्व ही मनुष्य की चरम सत्ता का सार है और निरन्तर उसे इस उपद्रव से ऊपर उठने तथा अपने स्वरूप का साक्षात्कार करने की प्रेरणा करता रहता है।

कितनी बार हमारी आत्मा का स्वर हमारी प्रवृत्तियों के विरुद्ध बोल उठता है। मनुष्य की शारीरिक प्रवृत्ति उसे प्रेय की ओर आकर्षित करती है तथा उसकी आध्यात्मिक प्रकृति श्रेय का संकेत करती है, यद्यपि वह सदा प्रेय

---

११. आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेव तु।
बुद्धिं तु सारथिं विद्धि मनः प्रग्रहमेव च॥ कठ० उप० १-३-३।
इन्द्रियाणि हयानाहु विषयांस्तेषु गोचरान्। कठ० १-३-४।

१२. सर्वप्राणिषु देवासुरसंग्रामो अनादिकाल प्रवृत्तः। छां० भा०१ २-१।

१३. अद्वयानन्दरूपेणैव तस्याऽज्ञानविषयत्वात् चैतन्यमात्रस्यैवभासमानत्वात् तस्य चाऽज्ञानाऽविषयत्वात्, अन्यथाऽज्ञानस्याप्यसिद्धयापत्तेः।
वेदान्त सिद्धान्त मुक्तावली।

की तुलना में श्रेय को ही ग्रहण नहीं करता। कठ उपनिषद् का कथन है, "श्रेय और प्रेय मनुष्य के सामने एक मिश्रित रूप में उपस्थित होते हैं। उन दोनों में विवेक करना कठिन है। अज्ञानी प्रेय को ही वरण करते हैं और उससे सुख प्राप्त करने की आशा करते हैं। धीर (ज्ञानी) मनुष्य ही श्रेय को प्रेय से अधिक समझ कर उसे वरण करते हैं।"[१४] श्रेय मनुष्य के जीवन और आचार का परम पुरुषार्थ है। जब तक मनुष्य कर्तव्य और अकर्तव्य में विवेक कर सकता है तभी तक वह मनुष्य है। जब यह विवेक नष्ट हो जाता है तो मनुष्य रूप से मनुष्य भी नष्ट हो जाता है,[१५] क्योंकि वह न पुरुषार्थ के योग्य रहता है, न उसका अधिकारी। श्रेय प्रेय से भिन्न है, और मनुष्य का गुण उनके विवेक में है।[१६] जो अभ्युदय की कामना करते हैं वे प्रेय की ओर प्रवृत्त होते हैं, जो अमृतत्व के अभिलाषी हैं वे श्रेय की ओर प्रवृत्त होते हैं।[१७] श्रेय सत्य है तथा प्रेय अविद्या का कार्य है।[१८] जो अविद्या-रूप को त्याग कर श्रेय की ओर प्रवृत्त होता है वह श्रेय (शिव) की प्राप्ति करता है।[१९] प्रेय-पदार्थ क्षणिक है और समस्त सुख भी क्षणिक है। 'सबसे बड़ा सुख भी क्षीण हो जाता है तथा स्वर्ग का जीवन भी अस्थायी है'।[२०] विषयोपभोग क्षणिक सुख है, किन्तु वह हितकारी नहीं है।[२१] समस्त भौतिक पदार्थ अल्प (मित) हैं, अल्प से अधिक की तृष्णा उत्पन्न होती है। यह

---

१४. श्रेयश्च प्रेयश्च मनुष्यमेतः,
तौ सम्परीत्य विविनक्तिधीरः।
श्रेयो हि धीरोऽभिप्रेयसो वृणीते,
प्रेयो मन्दो योगक्षेमाद् वृणीते। कठ० उप० १-२-२

१५. तावदेव पुरुषो यावदन्तःकरणं तदीयं कार्याकार्यविवेकयोग्यं तदयोग्यत्वे नष्ट एव पुरुषो भवति; पुरुषार्थाऽयोग्यो भवति। गी० भा० १२-६३

१६. अन्यच्छ्रेयोऽन्यदुतैव प्रेयः। कठ० १-२-१

१७. श्रेयः प्रेयसो ह्यभ्युदयामृतत्वार्थी पुरुषः प्रवर्त्तते। कठ० भा० १-२-१

१८. विद्याविषय श्रेयः प्रेयस्तु अविद्याकार्यम्। गी० भा० १३-२

१९. तयोर्हित्वाऽविद्यारूपं प्रेयः श्रेय एव केवलमाददानस्योपादानं कुर्वतः साधु शोभनं शिवं भवति। कठ० भा० १-२-१

२०. Indian Philosophy vol. II P. 613.

२१. विषयोपभोगः सुखो न भवति। मा० का० भा० ४-२

तृष्णा ही समस्त दुःख और अनर्थों का मूल है ।[२२] विषय सुख और भौतिक ऐश्वर्य से मनुष्य कभी संतुष्ट नहीं हो सकता । प्रत्येक मनुष्य में उन्नति की आकांक्षा होती है, वह उत्तरोत्तर वृद्धि चाहता है ।[२३] सम्पत्ति, स्त्री, सुख, शक्ति उसे संतुष्ट नहीं कर सकते ।[२४] वह किसी आध्यात्मिक तथा स्थायी वस्तु की खोज करता है; भौतिक पदार्थ क्षणिक हैं; विषय-सुख केवल शक्ति-क्षयकारी हैं ।[२५] इन्द्रियों की स्वाभाविक प्रवृत्ति सुख और समृद्धि की ओर होती है; वे उन्हें भौतिक विषयों में खोजती हैं । कुछ क्षण के लिये उसे वहाँ पा भी लेती है । यह क्षणिक संतोष केवल मनुष्य को इस क्षणिक भौतिक सुख की अनंत मृगतृष्णा के जाल में फँसा देता है । अस्तु, क्षणिक सुख की खोज स्थायी दुःख का कारण बन जाती है ।

क्षणिक सुख की इस मृगतृष्णा के जाल में आबद्ध हमारी अन्तरात्मा किसी स्थायी मूल्य और ध्रुव आनन्द के लिये आकुल रहती है । किसी भौतिक पदार्थ में उसे न पाकर वह उसे किसी उच्चतर तथा महत्तर पदार्थ में खोजती है । मनुष्य की अनन्त आत्मा किसी अनन्त में ही शाश्वत आनन्द प्राप्त कर सकती है ।[२६] केवल अनन्त ब्रह्मानुभव ही एक ऐसा पदार्थ है जिसकी प्राप्ति में शाश्वत संतोष प्राप्त हो सकता है ।[२७] आत्मानुभव के अतिरिक्त अन्यत्र कहीं निरतिशय श्रेय की प्राप्ति नहीं हो सकती ।[२८] अतः शाश्वत आनन्द की अर्थना करने वाले साधकों को विषय सुख की मृगतृष्णा से निवृत्त होकर इस अनन्त आत्मानुभव की प्राप्ति की चेष्टा करनी चाहिये ।[२९]

---

२२. अल्पस्याधिकतृष्णाहेतुत्वात् तृष्णा च दुःखबीजम् । छां० भा० ७-२३-१
२३. सर्वोहि उपर्युपरि वुभूषति लोकम् । छां० भा० ७ २८ ।
२४. न वित्तेन तर्पणीयो मनुष्यः । कठ० १-१-२७ ।
२५. श्वो भावा मर्त्यस्य यदन्तकैतत्सर्वेन्द्रियाणां जरयन्ति तेजः । कठ० १-१-२६
२६. यो वा भूमा तदेव सुखम् । छां० उप ७-२३-१
२७. Indian Philosophy Vol II P 613
२८. नान्यदात्मज्ञानान्निरतिशयःश्रेयःसाधनम् ।
छां० भा० ७-१-१
२९—तस्माद् बाह्यविषयप्रीतेः क्षणिकायाः इन्द्रियाणि निवर्त्तयेत् आत्मनि अक्षयसुखार्थी । गी० भा० ५-२१

## ३--आत्मानुभव--रूप परमार्थ

आत्मा हमारी सत्ता का तथा समस्त प्रणियों की सत्ता का चरम सत्य है। सर्वात्मभाव हमारा परमार्थ और निःश्रेयस है।[३०] आत्मा का स्वरूप अशरीरी है, शरीर उसकी अभिव्यक्ति का एक प्रकार मात्र है।[३१] इसलिये मोक्ष को नित्य अशरीरत्व का भाव कहा गया है।[३२] किन्तु यह अशरीरत्व कोई ऐसी अवस्था नहीं है जो शरीर के पतन के बाद ही प्राप्य हो।[३३] मोक्ष हमारी आत्मा के स्वरूप का साक्षात्कार है तथा अशरीरत्व आत्मा का नित्य स्वरूप है। अतः आत्मा का यह अशरीरत्व भाव नित्य है।[३४] आत्मा के साथ शरीर का सम्बन्ध कोई असंगति नहीं, जीवन का एक संयोग मात्र है। हमारी शारीरिक सत्ता का तथ्य इतना शोचनीय नहीं है जितना आत्मा और शरीर का तादात्म्य है। आत्मा का शरीरत्व सत्य नहीं है, हमारे देहात्मभाव के अतिरिक्त अन्यत्र कहीं इसकी सत्ता नहीं है।[३५] अस्तु आत्मानुभव शरीर पतन के बाद प्राप्य है, किन्तु आत्मा का नित्य स्वरूप होने के कारण वह जीवन काल में भी सम्भव है।[३६] देहात्मभाव से ही अहंकार की उत्पत्ति होती है जो समस्त अनर्थों का मूल है।[३७] अहंकार से अज्ञान उत्पन्न होता है। अज्ञान स्व-

---

३०. सर्वात्मभावो मोक्ष उक्तः। बृह० भा० ४-४-७

३१. यदि हि नामरूपे न व्यक्रियेत तदा अस्यात्मनो निरुपाधिकं रूपं न प्रतिख्यायेत। यदा तु पुनः कार्यकारणात्मना नामरूपे व्याकृते भवतः तदा अस्य रूप प्रतिख्यायेत। बृह० भा० २-५ १९।

३२. इदं तु पारमार्थिकं कूटस्थनित्यम्...तदशरीरं मोक्षाख्यं।
ब्र० सू० भा० १ १-४

३३. शरीरे पतितेऽशरीरत्वं स्यात्-न जीवत् इति चेत्, न। ब्र० सू० भा० १-१-४

३४. मोक्षाख्यमशरीरत्वं नित्यं ब्र० सू० भा० १-१-४।

३५. सशरीरत्वस्य मिथ्याज्ञाननिमित्तत्वात्, न ह्यात्मनः शरीरात्माभिमान लक्षणं मिथ्याज्ञानं मुक्त्वाऽन्यतः सशरीरत्वं शक्यं कल्पयितुं, नित्यमशरी रत्वम्। ब्र० सू० भा० १-१-४।

३६. तस्मात मिथ्याप्रत्ययनिमितत्वात् सशरीरत्वस्य सिद्धं जीवितोऽपि विदुषो ऽशरीरत्वम्। ब्र० सू० भा० १-१-४—

३७. तस्माच्छरीरेन्द्रियमनोबुद्धि विषयवेदनासन्तानस्य, अहंकार

तन्त्र और अमृत आत्मा को उन बन्धनों और सीमाओं में आबद्ध कर देना है जो वास्तव में आत्मा के स्वरूप से सम्बद्ध न होने के कारण मिथ्या है। यह अज्ञान और अहंकार आत्मा का बन्धन है। अज्ञान और अनर्थ के मूल इस अहंकार का निवारण ही मोक्ष है।[38] मोक्ष सत्य के इस नित्य स्वरूप के साक्षात्कार का नाम मात्र है। यह मोक्ष नित्य है और कोई उत्पाद्य पदार्थ अथवा घटना नहीं है। मोक्ष आत्मा का नित्य स्वरूप है, अज्ञान के अतिरिक्त इसमें अन्य कोई प्रतिबन्ध नहीं है।[39] आत्मा की प्राप्ति उसके अवगम के अतिरिक्त कुछ नहीं है, वह अवगम उसके स्वरूप को अन्तर्हित करने वाली अविद्या का निवारण मात्र है।[40] किन्तु अभिप्राय यह नहीं है कि मोक्ष निगडबन्ध के भंग के समान अज्ञान निवृत्ति होने के कारण अभाव-रूप है।[41] ब्रह्म से पृथक् किसी पदार्थ की वास्तविक सत्ता नहीं है, क्योंकि प्रत्येक पदार्थ ब्रह्म के साथ अपृथक्-तादात्म्य-भाव से सत्तावान् है। ब्रह्म हमारा वास्तविक स्वरूप है, और अविद्या उस स्वरूप को छिपाये हुये है। अतः उस अविद्या के निवारण का नाम मोक्ष है, यह सब भाषा और प्रयोग भर है।[42] वस्तुतः मोक्ष भावरूप है[43] और आत्मा का स्वरूपानुभव है। आत्मा सच्चिदानन्द रूप है। ऐसा मोक्ष नित्य-तत्व का आध्यात्मिक अनुभव है। यद्यपि हमारे लौकिक ज्ञान की दृष्टि से कालदेशगत प्रतीत होने पर भी मोक्ष वस्तुतः कोई

---

सम्बन्धादज्ञानबीजस्य नित्यविज्ञानान्यनिमित्तस्याऽऽत्मतत्वयाथात्म्य विज्ञानाद्विनिवृत्ताविज्ञानबीजस्य विच्छेदःआत्मनो मोक्षसंज्ञा, विपर्यये च बन्धसंज्ञा स्वरूपापेक्षत्वादुभयोः के० वा० भा० ३-२-४

३८. सर्वानर्थहेतुः

३९. अविद्याप्रतिबन्धमात्रो हि मोक्षो नान्यप्रतिबन्धःनित्यत्वाच्चात्मभूतत्वाच्च। मुं० भा० ३-२-९।

४०. न च परप्राप्तिरवगमार्थस्य भेदोऽस्ति अविद्यायाः अपाय एव परप्राप्तिर्नार्थान्तरम्। मुं० भा० १-१-५।

४१. न च निगडभंग इव अभावभूतो मोक्षः।

बृह० भा० ४-४-४६

४२. परमात्मव्यतिरेकेणान्यस्याभावं विस्तरेणावादिष्म तस्मादविद्या निवृत्तिमात्रे मोक्षव्यवहार इति चावोचाम। बृह० भा० ४-४-६

४३. मोक्षस्य भावरूपत्वात्। तै० भा० १-१-१

देश कालावच्छिन्न घटना नहीं है । वह देश-काल-कारण के व्यवहार से अतीत है[४४] आत्मानुभव अथवा मोक्ष देशान्तर-गमनादि की अपेक्षा नहीं करता ।[४५] सम्यक् दर्शननिष्ठ मुक्तात्माओं की गति अथवा अगति का प्रसंग नहीं उठता ।[४६] श्रुति का वचन है कि 'उसके प्राणों का उत्क्रमण नहीं होता ।'[४७] मोक्ष आत्मानुभव की अवस्था का नाम है । यह अवस्था सर्वात्मभाव के अनुभव के कारण अखिल सत्ता से समन्वय की अवस्था है । प्रो० राधाकृष्णन् के सुन्दर शब्दों में यह एक निस्पन्द शान्ति[४८] की अवस्था है, वह शान्ति जो आँधी उतर जाने के बाद समुद्र पर छा जाती है अथवा दीप निर्वाण के बाद आती है ।[४९] आत्मा की स्थिरता में समस्त इन्द्रियों की आकुलता का समाधान हो जाता है ।[५०]

## ४—आत्मानुभव आत्मा के द्वारा ही साध्य है

यह आत्मानुभव आत्मा के द्वारा ही प्राप्त किया जा सकता है । नैतिक साधना तथा अन्य साधन आत्म-सिद्धि में सहायक हो सकते हैं किन्तु कोई भी बाह्य साधन उसके साक्षात् कारण नहीं हो सकते । यह कर्म द्वारा साध्य कोई वस्तु नहीं है, किन्तु एक अद्वैतभाव है जो केवल अनुभव-साध्य है ।[५१]

---

४४. न च देशकालनिमित्ताद्यपेक्षत्वं व्यवस्थितात्मवस्तुविषयत्वादात्मज्ञानस्य । क्रियायास्तु पुरुष-तन्त्रत्वात् स्यात् देशकालनिमित्ताद्यपेक्षत्वम् । ज्ञानं तु वस्तुतन्त्रत्वान्न देशकालनिमित्ताद्यपेक्षते । बृह० भा० ४-५-१५ ।

४५. अतो मोक्षो न देशान्तरगमनाद्यपेक्षते । बृह० भा० ४-४-७

४६. न हि सद्योमुक्तिभाजां सम्यग्दर्शननिष्ठानां गतिरगतिर्वा क्वचिदस्ति ।

४७. न तस्य प्राणा उत्क्रामन्ति बृह० भा० ४-४-६ ।

४८. Indian Philosophy, Vol. II P. 605.

४९. मुक्तस्य न गतिः क्वचित् सर्वोत्सादो नाम मात्रावशेषः प्रदीप-निर्वाणवत् । बृह० भा० ३ ३-३ १ ।

५०. प्रदीपनिर्वाणवत् चक्षुरादीनां कार्यकरणानामत्रैव समवनयः । बृह० भा० ४-४६ ।

५१. अद्वैतभावःमोक्षः । अद्वैतज्ञानं मनोवृत्तिमात्रम् । छां० भा० १-१-१

आत्मा कोई आगन्तुक पदार्थ नहीं वरन् एक नित्य तत्व है।[५२] आत्मा हमारी सत्ता का अन्तर्तम सत्य है।[५३] अतः आत्मानुभव किसी बहिर्भूत पदार्थ की प्राप्ति नहीं किन्तु एक अन्तर्तम सत्य का साक्षात्कार है जो अविद्या से आच्छन्न था।[५४] आत्मा नित्य सत्तावान् है अतः अविद्या-निवृत्ति के अतिरिक्त अन्य किसी साधन द्वारा निष्पाद्य नहीं है।[५५] आत्मा कभी भी अप्राप्त नहीं है, केवल उसके दर्शन और अदर्शन की अपेक्षा से उसकी प्राप्ति और अप्राप्ति कही जाती है।[५६] किन्तु आत्मानुभव कोई एकान्त रूप से अपूर्व अनुभव नहीं है। आत्मा का ज्ञान अखण्ड है, अविद्या उसे पूर्ण रूप से आच्छन्न नहीं कर लेती। वह केवल उसके पूर्ण ज्ञान को बाधित कर देती है। आत्मा की सत्ता तथा उसका बोध उसके स्वभाव से ही सिद्ध है और किसी अन्य साधन द्वारा सिद्ध नहीं हो सकते।[५७] यह हमारे अस्तित्व और उसके बोध के तथ्य का अन्तर्निहित सत्य है। प्रत्येक व्यक्ति को अपरोक्ष रूप से अपने अस्तित्व का बोध है। सभी कहते हैं: 'मैं हूँ'। यदि आत्मा का अस्तित्व अपरोक्ष रूप से सबको प्रत्यक्ष न होता तो सभी कहते 'मैं नहीं हूँ',[५८] जो साधारण अनुभव के विपरीत है। आत्मा हमारा वास्तविक स्वरूप है।[५९] आत्मानुभव हमारे स्वरूप का ही साक्षात्कार है। यह आत्मा स्वयं अपने द्वारा ही प्राप्य है। इसकी प्राप्ति के लिये हमें कहीं अन्यत्र नहीं जाना है। जो किसी बाह्य साधन के द्वारा प्राप्य हो उसे स्वरूप नहीं कहा

५२. न ह्यात्माऽऽगन्तुकः। ब्र० सू० भा० २-३-७

५३. सर्वभूतान्तरात्मा। कठ० भा० २-२-६

५४. ज्ञानलाभयोरेकार्थत्वस्य विवक्षितत्वात्।
तस्मात् ज्ञानमेवात्मनो लाभः अविद्यामात्रं व्यवधानम्
बृह० भा० १-४-७

५५. स च नित्यत्वान्नाविद्यानिवृत्तिव्यतिरेकेणान्यसाधननिष्पाद्यः
केन० प० भा० १-१

५६. दर्शनाऽदर्शनापेक्षत्वाद् ब्रह्मण आप्त्यनाप्त्योः तै० भा० २-१-१

५७. न हि स्वभावसिद्धं वस्तु सिषाधयिषति साधनैः, स्वभावसिद्धश्चात्मा।
केन० प० भा० १-१

५८. सर्वो ह्यात्मास्तित्वं प्रत्येति न नाहमस्मीति। यदि नात्मास्तित्वप्रसिद्धिः स्यात् सर्वो हि लोको नाहमस्मीति प्रतीयात्।

५९. आत्मा च नाम स्वरूपम् ब्र० सू० भा० १-१-१

जा सकता।[६०] आत्मा किसी बाह्य कारण द्वारा उत्पाद्य नहीं है। वह स्वयं अपनी महिमा में ही प्रतिष्ठित है। अतः उसकी प्राप्ति के लिये किसी बाह्य साधन की अपेक्षा नहीं है।[६१] आत्मा स्वयं अपना साध्य और साधन है; यहाँ साधन और फल में भेद नहीं।[६२] आत्मानुभव अन्य किसी साधन का शेष नहीं।[६३] वह अपने ही स्वरूप और महिमा में प्रतिष्ठित है[६४], उसे न कोई अन्य साधन उत्पन्न कर सकता है और न रोक सकता है।[६५] नित्य-प्रकाश-स्वरूप सविता (सूर्य) की भाँति, जिसको प्रकाशित करने के लिये अन्य प्रकाश की अपेक्षा नहीं होती, नित्य-विज्ञान-स्वरूप आत्मा की अवगति के लिये ज्ञानान्तर की अपेक्षा नहीं है।[६६] आत्मानुभव के सम्बन्ध में साधन का प्रसंग नितान्त असंगत है क्योंकि वह नित्य विज्ञान-स्वरूप है। जिस प्रकार प्रकाश को प्रकाशित करने के लिये प्रकाशान्तर की अपेक्षा नहीं होती उसी प्रकार आत्मावगति के लिये ज्ञानान्तर की अपेक्षा नहीं होती।[६७] यह एक पहेली सी भले ही जान पड़े किन्तु यह ज्ञान सिद्धान्त-गत एक सरल सत्य है। जिस अध्यात्म-तत्त्व के कारण ज्ञान सम्भव है वह ज्ञान का विषय नहीं बन सकता। समस्त ज्ञान का अन्तर्भूत आधार होने के कारण वह व्यावहारिक ज्ञान के विषयरूप से नहीं जाना जा सकता। वह स्वतः ही केवल एक अपरोक्ष ज्ञान की आभा में अवगम्य है। ज्ञान के अन्य सभी साधनों

---

६०. स्वरूपमेव हि तन्न भवति प्रतिपत्तव्यं च स्यात्। छां० भा० ८-३-४

६१. स्वेमहिम्नि। नायमात्मा अन्योऽन्यत्राऽभूदन्यो व अन्यस्मादागतः साधनान्तरं वा आत्मन्यस्ति। बृह० भा० २-१-१६

६२. फलाव्यतिरेकावगतेः यथा अग्निः उष्णः प्रकाशश्चेति। गी० भा० १८-६६

६३. अनन्यशेषत्वात्तज्ज्ञानस्य। बृह० भा० १-३-१

६४. स्वे महिम्नि। छां० ७-२४-१

६५. आत्मनि एव आत्मावगतिः न कदाचित् केनचित् कथंचिदपि बाधितुं शक्या। गी० भा० १८-६६

६६. नित्यप्रकाशस्वरूप इव सविता नित्य विज्ञानैकरसघनत्वान्न ज्ञानान्तरमपेक्षते। मां० का० भा० ३-३३

६७. संवेदनानन्तरापेक्षा च न सम्भवति यथा प्रकाशस्य प्रकाशान्तरापेक्षायाः न सम्भवः तद्वत्। केन० प० भा० २-४

का यह आधार है। अतः वे इसकी प्राप्ति के साधन नहीं बन सकते। दर्शन का यही सहज सत्य,'उससे अन्य कोई द्रष्टा नहीं है'[६८] इस उपनिषद् वचन में अभिप्रेत है। 'यह सभी ज्ञानों का ज्ञाता है, इसीसे हम सब कुछ जानते हैं। उस विज्ञाता को स्वयं किसके द्वारा जाने '।[६९] आत्मानुभव की इस अपरोक्षता तथा अनन्य-साधनता के कारण ही केन उपनिषद् ने इसे विदित से अन्य तथा अविदित से परे बताया है।[७०] समस्त व्यावहारिक ज्ञान विषय-विषयी सम्बन्ध है। अतः जो कुछ भी ज्ञेय है वह विषय रूप है। समस्त ज्ञान का आधार भूत तत्व होने के कारण आत्मा व्यावहारिक ज्ञान का ज्ञेय (विषय) नहीं बनाया जा सकता। यह ज्ञाता का स्वरूप ही है, इसका अन्य ज्ञाता नहीं हो सकता। अतः वह विदित (ज्ञेय) से भिन्न है।[७१] जो कुछ ज्ञेय है वह अन्य (विषयी) का विषय है, अतः वह मित और परिच्छिन्न है, अनित्य और अनेक है; आत्मा अनन्त, नित्य तथा एक होने के कारण ज्ञेय से भिन्न है।[७२] यह कहा जा सकता है यह विदित (ज्ञेय) से भिन्न है अतः अविदित (अज्ञेय) है। इसका उत्तर यह है कि यह अविदित से भी परे है। आत्मा हमारी अन्तर्तम सत्ता है, और वह विज्ञान-स्वरूप है। हमें उसका प्रत्यक्ष बोध है। अविदित (विषय) की भाँति अपने साक्षात्कार के लिये किसी अन्य की अपेक्षा नहीं करता और न अपने साथ ही इसका साध्य-साधन सम्बन्ध बाह्यरूप से हो सकता है। जो निरपेक्ष सत्तावान् है वह अपने स्वरूप में ही प्रतिष्ठित है,[७३] और अपने स्वरूप के साक्षात्कार के लिये अन्य साधन की अपेक्षा नहीं होती

६८. नान्योऽतोऽस्ति द्रष्टा। बृह० उप० ३-८-११

६९. येन सर्वं विजानाति तं केन विजानीयात्।
विज्ञातारं वा अरे केन विजानीयात्। बृह० ४-५-१५

७०. अन्यदेव तद्विदितादविदितादधि। के० उ० १-३

७१. यो हि ज्ञाता स एव सः सर्वात्मकत्वात् अतः सर्वात्मनो ज्ञातुर्ज्ञात्रन्तराभावाद् विदितादन्यत्वम्। के० भा० १-३

७२. यद्विदितं व्यक्तं तदन्यविषयत्वादल्पं सविरोधं ततोऽनित्यमत एवानेकत्वादशुद्धमत एव तद्विलक्षणं ब्रह्मेति सिद्धम्। के० भा० १-३

७३. न हि यस्य यत्स्वरूपं तत्तेनाऽन्यतोऽपेक्ष्यते। के० भा० १-३

अपनी आत्मा के रूप में हमें प्रत्यक्ष रूप से इसका बोध है।[७४] हमारी आत्मा से अनन्य होने के कारण यह अविदित से भी परे है।[७५]

यहाँ कोई तार्किक यह कह सकता है कि यदि आत्मा विदित से अन्य तथा अविदित से परे है तो यह कोई अनिर्वाच्य तथा अज्ञेय वस्तु है। यह आक्षेप अमान्य नहीं है, किन्तु इसका तात्पर्य यही है कि हम आत्मा को व्यावहारिक ज्ञान की कोटि में नहीं रख सकते। जिस प्रकार हम अन्य पदार्थों को जानते हैं उस प्रकार हम इसे नहीं जान सकते। व्यावहारिक ज्ञान के आधारभूत तत्व होने के कारण यह व्यावहारिक ज्ञान के अन्तर्भूत ज्ञेय पदार्थों के अन्तर्गत नहीं रखा जा सकता। किन्तु इसका अभिप्राय यह नहीं कि यह अज्ञेय है। हमारे ज्ञान की परिधि के बाहर होने के अर्थ में यह अज्ञेय नहीं है। वस्तुतः यह हमारे ज्ञान का केन्द्र है। वह नित्य विज्ञान स्वरूप है तथा अविक्रिय स्वभाव है। अतः हम यह नहीं कह सकते कि हम इसे नहीं जानते।[७६] हम इसे प्रत्यक्ष रूप से तथा अन्तर्तम भाव से जानते हैं। प्रत्येक बोध में वह अभिव्यक्त और विदित है।[७७] किन्तु हम यह कभी नहीं कह सकते कि हम इसे सम्यक्-रूप से जानते हैं। एक विषय ही सम्यक् रूप से जाना जा सकता है, किन्तु ज्ञाता अपने आपको सम्यक् रूप से नहीं जान सकता। जैसे कि अग्नि अपने आप को नहीं जला सकती। आत्मा के लिये कोई अन्य ज्ञाता नहीं है[७८] जिसके साथ विषय भाव से स्थित होकर यह सम्यक् रूप से विदित हो सके। इसकी अपरोक्षता और अनन्यता के कारण इसके सम्यक् ज्ञान की कल्पना भ्रान्ति है अथवा बौद्धिक दम्भ है। जो यह समझता है कि मैं आत्मा को सम्यक् रूप से जानता हूँ, वह निस्सन्देह इसके स्वरूप को बहुत कम पहचानता है।[७९] यह किसी अन्य विषयी का विषय नहीं हो सकती अतः यह

७४. सर्वो हि आत्मानं प्रत्येति। ब्र० सू० भा० १-१-४

७५. स्वात्मनोऽनन्यत्वात्। के० वा० भा० १-३

७६. नित्यविज्ञानब्रह्मस्वरूपतया न न वेदेव चाहं स्वरूपविक्रियाभावात्।
केन० वा० भा० १-३

७७. प्रतिबोधविदितम्। केन० उप० २ ४

७८. नान्योऽतोऽस्तिद्रष्टा। बृह० उप० ३-८-११
न चान्यो वेदिता ब्रह्मणोस्ति यस्य वेद्यमन्यत्स्याद् ब्रह्म
केन० प० भा० २-१।

सम्यक् रूप से नहीं जानी जा सकती।[80] हमारे तथा समस्त भूतों के अन्तर्तम सत्य के रूप में यह अत्यन्त समीप है।[81] किन्तु अविद्या से आवृत तथा अज्ञानियों के लिये दुर्बोध होने के कारण अत्यन्त दूर भी है।[82] हमारा अन्तर्तम सत्य होते हुए भी आत्मा सुवेद्य नहीं है।[83] आत्म-ज्ञान का पथ तलवार की धार के समान तीक्ष्ण है।[84] यह लौकिक प्रत्यक्ष द्वारा नहीं जानी जा सकती। इन्द्रियों की सहायता से मन द्वारा समस्त विषयों का ज्ञान होता है। किन्तु आत्मा न इन्द्रियों का विषय है, न मन का। केवल सामान्य गुण-कर्म-वान् पदार्थ ही इन्द्रियों की सहायता से मन द्वारा ज्ञेय है। आत्मा द्रव्य नहीं है।[85] न यह सामान्य है, और न गुण-कर्म-वान् है। अतः यह लौकिक प्रत्यक्ष गम्य नहीं है। जब यह प्रत्यक्षगम्य नहीं है, तो अनुमानगम्य भी नहीं है, क्योंकि अनुमान प्रत्यक्ष पर आश्रित है। उपमानादि सभी अन्य साधन भी प्रत्यक्षाश्रित होने के कारण आत्म-ज्ञान में अनुपादेय है। अस्तु, हमारे सभी लौकिक साधन आत्मज्ञान में असमर्थ हैं।

### ५-कर्म द्वारा आत्मानुभव प्राप्य नहीं

और न कर्म द्वारा आत्म-सिद्धि हो सकती है। कर्म उसी की प्राप्ति का साधन है जो वर्तमान नहीं है। आत्मा नित्य तथा सर्वदा वर्तमान है। यह कर्म द्वारा साध्य नहीं हो सकती। कर्म वस्तु-स्वरूप की अपेक्षा से रहित तथा पुरुष के चित्त-व्यापार के आधीन शास्त्रकृत विधान है।[86] आत्मा नित्य

७९. यदि मन्यसे सुवेद अहं ब्रह्मेति त्वं ततोल्पमेव ब्रह्मणो स्वरूपं वेत्थ त्वमिति। के० वा० भा० २-१

८०. अविषयत्वात्कस्यचिद्ब्रह्मणः। केन० वा० भा० २-१

८१. तद्वन्तिके समीपेऽत्यन्तमेव विदुषामात्मत्वात्। ईश० भा० ५.

८२. किञ्च तद्दूरे वर्षकोटिशतैरपि अविदुषामप्राप्यत्वात् दूर एव। ईश० भा० ५

८३. न तत्सुवेद्यम्। केन० प० भा० २-१

८४. क्षुरस्य धारा निशिता दुरत्यया। क०-१-३-१४

८५. अद्रव्यत्वाच्च। मा० का० भा० ४-५४.

८६. क्रिया हि नाम सा यत्र वस्तुस्वरूपनिरपेक्षैव चोद्येत पुरुषचित्त व्यापाराधीना च। ब्र० सू० भा० १-१-४.

तत्व है अतः आत्मानुभव वस्तु-तन्त्र है, पुरुष-तन्त्र नहीं।[८७] आत्मा न हेय है और न उपादेय।[८८] वह हमारी सत्ता का अपरोक्ष और अन्तर्तम स्वरूप है। इसके सम्बन्ध में किसी कर्म फल का किंचित् भी प्रसंग नहीं है। कर्म-फल अनित्य है, तथा आत्मा नित्य है।[८९] अनित्य साधन द्वारा नित्य की प्राप्ति नहीं हो सकती।[९०] अतः आत्मानुभव कर्म द्वारा सम्भव नहीं।

कर्म-फल चार रूपों में व्यक्त होता है—उत्पाद्य, विकार्य, आप्य और संस्कार्य।[९१] मोक्ष नित्य है तथा जो उत्पाद्य है वह अनित्य है। नित्य होने के कारण आत्मा किसी काल-गत कर्म द्वारा उत्पाद्य नहीं है।[९२] अविकार्य होने के कारण आत्मा विकार्य भी नहीं है।[९३] ब्रह्म सबका स्वरूप है अतः वह आप्य भी नहीं है। जो अपने से अन्य हो वही आप्य हो सकता है; जो अनन्य है वह आप्य नहीं हो सकता। ब्रह्म सर्वव्यापक तथा नित्य है, अतः वह आप्य नहीं है।[९४] और न किन्हीं संस्कारों द्वारा आत्मा संस्कार्य है। गुणाधान या दोष-निवारण के रूप में ही संस्कार सम्भव है। मोक्ष के विषय में यह सम्भव नहीं क्योंकि ब्रह्म में न गुणाधान सम्भव है और न शुद्ध ब्रह्म में दोष-निवारण ही कल्पनीय है।[९५] और न मोक्ष (आत्म ज्ञान)

---

८७. यथाभूतवस्तुविषयं अतो ज्ञानं केवलं वस्तुतन्त्रमेव तत्, न चोदनातन्त्रं नापि पुरुषतन्त्रम्। ब्र० सू० भा० १-१-४.

८८. आत्मत्वादेव च सर्वेषां न हेयो नाप्युपादेयः। ब्र० सू० भा० १-१-४

८९. आत्मा नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभावोऽजरोऽमरोऽमृतोऽभयोऽद्वयो वै। तै० भा० १-१-१

९०. न ह्यध्रुवैः प्राप्यते हि ध्रुवं तत्। कठ० १-२१०.

९१. उत्पाद्य, विकार्य, आप्य, संस्कार्य।

९२. नित्यश्च मोक्षः.........यस्य तूत्पाद्यो मोक्षस्तस्य मानसं वाचिकं कायिकं वा कार्यमपेक्षते। ब्र० सू० भा० १-१-४.

९३. तथा विकार्यत्वे च..... अविकार्योऽयमुच्यते। ब्र० सू० भा० १-१-४.

९४. न चाप्यत्वेनापि कार्यापेक्षा स्वात्मस्वरूपत्वे सत्यनाप्यत्वात्। ब्र० सू० भा० १-१-४.

९५. नापि संस्कार्यो मोक्षः येन व्यापारमपेक्षेत। संस्कारो हि नाम संस्कार्यस्य गुणाधानेन वा स्यात्, दोषापनयेन वा। न तावद् गुणाधानेन सम्भवति अनाधेयातिशयब्रह्मस्वरूपत्वात् मोक्षस्य। नापि दोषापनयेन नित्यशुद्धबुद्धस्वरूपत्वान्मोक्षस्य। ब्र० सू० भा० १-१-४.

संघर्षण से दर्पण की विमलता की अभिव्यक्ति की भाँति किसी आवृत गुण को अनावृत्ति है।[९६] यदि मोक्ष कर्म साध्य होता तो आत्मा की अविकार्यता का विरोध होता क्योंकि कर्म जिस पदार्थ में प्रवृत्त अथवा समवेत होता है उसको विकृत किये बिना वह अपना स्वरूप-लाभ नहीं कर सकता।[९७] कर्म साध्य होने से आत्मा की अनित्यता का भी प्रसंग उपस्थित होगा। अतः आत्मा में कर्म-समवाय की कल्पना असम्भव है।

## ६—साध्य और साधन

किन्तु आत्मा ज्ञान के लौकिक साधनों द्वारा अज्ञेय है तथा कर्म द्वारा अप्राप्य है, इसका अर्थ यह नहीं कि उसका ज्ञान अथवा प्राप्ति किसी प्रकार भी सम्भव नहीं।[९८] इसका आशय केवल इतना ही है कि साधारण पदार्थों के ज्ञान की भाँति इसका ज्ञान सम्भव नहीं है तथा इसका ज्ञान और उपदेश कठिन है। इस कथन का अभिप्राय आत्मा अथवा आत्म-ज्ञान के विषय में अज्ञेयता अथवा निराशावाद का संकेत करना नहीं है वरन् गुरु और शिष्य को उसकी प्राप्ति के लिये कठिन प्रयत्न करने के लिये प्रेरित करना है।[९९] हमारे साधारण साधनों की अनुपादेयता का अभिप्राय यह नहीं है कि वे सब निरर्थक हैं। उन साधनों द्वारा आत्म-बोध प्राप्त नहीं हो सकता। किन्तु प्रत्येक बोध में उसके आधार भूत अध्यात्म तत्व के रूप में आत्मा की अभिव्यक्ति होती है।[१००] और न आत्म बोध में कर्मों की अकारणता का अर्थ उनकी व्यर्थता है। यद्यपि वेदान्त का यह स्पष्ट सिद्धान्त है कि आत्म-बोध आत्मा द्वारा ही प्राप्य है, फिर भी वेदान्त शास्त्रों में आत्म-

---

९६. स्वात्मधर्म एव सन् तिरोभूतो मोक्षः क्रियात्मनि संस्क्रियमाणेऽभिव्यज्यते यथाऽऽदर्शे निघर्षणक्रियया संस्क्रियमाणे भास्वरत्वं धर्म इति चेत् न, क्रियाश्रयत्वानुपपत्तेरात्मनः। ब्र० सू० भा० १-१-४

९७. यदाश्रया हि क्रिया तमविकुर्वती नैवात्मानं लभते। यद्यात्मा क्रियया विक्रियेदनित्यत्वमात्मनोः प्रसज्येत। ब्र० सू० भा० १-१-४

९८. सत्यमेवं प्रत्यक्षादिभिः प्रमाणैर्न परः प्रत्याययितुं शक्यः आगमेन तु शक्यः। के० प० भा० १-३

९९. तदर्थग्रहणे च यत्नातिशयकर्तव्यतां दर्शयति। के० प० भा० १-३

१००. प्रतिबोधविदितम्। के० उ० २-४

प्राप्ति के साधनों का विस्तृत वर्णन मिलता है। आत्मबोध की स्वाधीनता के साथ साथ साधनों की उपयोगिता असन्दिग्ध रूप से स्वीकृत की गई है।[१०१] मोक्ष एक आत्मिक अनुभव है; केवल ज्ञान को ही उसका अव्यवहित ( immediate ) कारण माना गया है।[१०२] किन्तु समस्त कर्मों को इस आत्मानुभव में आवश्यक रूप से सहकारी तथा चरम बोध के पर्यवसान में सहायक माना गया है।[१०३]

हमारी साधना का चरम साध्य आत्मा एक सनातन तत्व है। आत्मानुभव केवल एक सनातन सत्य का अपनी सत्ता के सार रूप में अनुभव है, उसका उद्भावन नहीं। किन्तु परमार्थ रूप साध्य की नित्यता का आत्मानुभव के साधन भूत नैतिक अध्यवसाय (प्रयत्न) तथा नैतिक उन्नति (अभ्युदय) से कोई विरोध नहीं है। उसकी नित्यता का प्रतिपादन एक परमार्थिक सत्य का निदर्शन मात्र है, एक व्यावहारिक तथ्य का निर्वचन नहीं। इसका अभिप्राय इतना ही है कि अलेक्जेन्डर (Alexander) के देवता (deity) की भाँति वेदान्त का ब्रह्म कोई ऐसी वस्तु नहीं है जिसका उद्भवन एक भावी घटना हो। 'भव्य' तत्व वास्तविक तत्व नहीं क्योंकि वह सनातन नहीं है। प्राप्य सत्य वस्तुतः असत्य है क्योंकि वह पूर्ण नहीं है तथा पूरणीय है। यह आलोचना कि यदि हम ब्रह्म हैं तो ब्रह्म प्राप्ति के लिये कोई प्रयत्न अपेक्षित नहीं है, यदि हम पूर्ण हैं तो पूर्णता के सारे प्रयत्न व्यर्थ हैं तथा यदि साध्य सनातन है तो नैतिक विकास निरर्थक है, एक तात्विक सत्य और व्यावहारिक तथ्य की भ्रान्ति के ऊपर आश्रित है। प्रो० रानडे के शब्दों में 'आत्मानुभव के सिद्धान्त के विषय में यह कह कर खिलवाड़ करना कि यदि आत्मा नित्य प्राप्त है तो उसकी प्राप्ति के लिये किसी प्रयत्न की आवश्यकता नहीं, आत्मबोध के वास्तविक महत्व की उपेक्षा करना है।'[१०४] आत्मा नित्य तथा नित्य प्राप्त है, यह एक तात्विक सत्य मात्र है। साधनों का महत्व इस तात्विक सत्य को एक

---

१०१. अवगतिसाधनानां च श्रवणादीनां वेदानुवचनादीनां च विधानात् प्रयत्न उपपद्यते। बृह० भा० ४-४-६

१०२.- तस्मात्केवलादेव ज्ञानान्मोक्षः। गी० भा० ३-१

१०३. अपेक्षते तु विद्यासर्वाण्याश्रमकर्माणि। ब्र० सू० भा० ३-४-३६

१०४. Contemporary Indian Philosophy P. 311.

व्यावहारिक तथ्य के रूप में परिणत करने में है। यद्यपि सामान्य रूप से आत्मा की सत्ता सभी विचारकों को स्वीकृत है, किन्तु उसके विशेष रूप के विषय में बहुत मत भेद है।[१०५] दर्शन हमारे अनुभव की व्याख्या है, अतः उस आध्यात्मिक तत्व का जो हमारे समस्त अनुभव का आधार है कोई दर्शन सम्भव नहीं है। फिर भी अन्य तर्कासंगत सिद्धान्तों के निराकरण द्वारा आत्मा का अवगमन सरल बनाया जा सकता है। किन्तु उसका पूर्णानुभव तो केवल स्वयं साध्य है। निस्सन्देह हमें आत्मा का अपरोक्ष और अन्तर्तम बोध है, किन्तु सामान्यतः यह बोध एक अस्फुट चेतना के रूप में ही रहता है जो पूर्णानुभव के तुल्य नहीं। ब्रह्म सूत्र के आरम्भ में ब्रह्मजिज्ञासा के प्रसंग का समर्थन इसी आधार पर किया गया है कि यद्यपि आत्मा नितान्त अज्ञात नहीं है फिर भी उसका वह सामान्य बोध पूर्णानुभव-तुल्य नहीं है कि उसके स्वरूप की जिज्ञासा को ही निरर्थक बना दे।[१०६] अविद्या का आवरण इसके पूर्ण स्वरूप को-हमारी दृष्टि से छिपाये रखता है। इस अध्यास-मूलक आवरण के निवारण में ही शिक्षा और साधनों की उपादेयता है।[१०७] इस सामान्य अविद्या के दूर करने में ही श्रुति की भी सार्थकता है।[१०८] अस्तु, आत्म-विषयक अज्ञान के निवारण द्वारा उसके पूर्णानुभव में सहकारी के रूप में समस्त साधनों की उपादेयता स्वीकरणीय है।

इस अविद्या का मूल आत्मा और अनात्मा के स्वरूप की भ्रान्ति तथा उनका पारस्परिक अध्यास है, जो एक दूसरे के विरोधी न होते हुए भी स्वरूप से अत्यन्त विविक्त हैं।[१०९] यह अविद्या यथार्थ-ज्ञान से जो आत्मा-ऽनात्म-विवेक रूप है, तथा आत्मा के सच्चिदानन्द स्वरूप के ज्ञान से दूर हो सकती है। अज्ञान अहंकार का मूल है और अहंकार समस्त अनर्थों का हेतु है। यथार्थ ज्ञान से अज्ञान और अहंकार दूर होते हैं तथा उन के नाश से सर्वानर्थ निर्मूल हो जाते हैं। आत्म-ज्ञान केवल आत्मा-

१०५. तद्विशेषं प्रति विप्रतिपत्तेः। ब्र० सू० भा० १-१-१

१०६. अनधिगतत्वादात्मनो हि तदधिगमाय तद्विषया जिज्ञासा। के० वा० भा० १-१

१०७. लोकाध्यारोपापोहार्थत्वात्। के० वा० भा० १-३

१०८. न शास्त्रवैयर्थ्य...अविद्याभ्रमापोहार्थत्वात्। के० वा० भा० १ ३

१०९. अत्यन्तविविक्तयोः। अध्यास भाष्य।

ऽनात्म-भ्रान्ति को ही दूर नहीं करता वरन् उस भ्रान्ति-मूलक संघर्ष (विरोध) का भी अन्त कर देता है जो हमारी सत्ता को दो विरोधी भागों में विभाजित कर देता है। जब सच्चिदानन्द ब्रह्म का हमारी आत्मा के रूप में अनुभव होता है तथा समस्त भूतों के ब्रह्म के साथ अपृथक्-तादात्म्य-भाव का ज्ञान हो जाता है, तो विरोध और परत्व का सारा भाव जो जगत् के अखिल अनर्थ और सन्तापों का मूल है नष्ट हो जाता है तथा जगत् में पूर्ण शान्ति, शुद्ध प्रेम तथा अनन्त आनन्द की व्याप्ति होती है। अस्तु वेदान्त का यथार्थानुभव केवल दर्शन का चरम सत्य ही नहीं, वरन् जीवन का चरम् श्रेय भी है। अतः वह परमार्थ भी है।

## ७—वेदान्त में तर्क का स्थान

किन्तु यह ब्रह्म-भाव यद्यपि तात्विक सत्य के रूप में नित्य है, केवल बौद्धिक अभिज्ञान द्वारा प्राप्त नहीं हो सकता। 'ज्ञान' का अर्थ बौद्धिक ज्ञान समझ लेने के कारण वेदान्त के एक मूल सिद्धान्त के विषय में बड़ी भ्रान्ति हुई है। बहुत सी आलोचना का मूल यही भ्रान्ति है। अविद्या जो सत्य का आवरण है केवल बौद्धिक अज्ञान नहीं है वरन् हमारे सम्पूर्ण व्यक्तित्व का एक मिथ्या दृष्टिकोण है, तथा 'ज्ञान' जिससे यह अविद्या दूर होती है केवल एक व्यावहारिक तथ्य का बौद्धिक अभिज्ञान नहीं वरन् एक तात्विक सत्य का आत्मिक अनुभव है। आत्मानुभव बुद्धि की क्रिया नहीं वरन् आत्मा का धर्म है। बुद्धि व्यावहारिक ज्ञान का साधन है, वेदान्त में उसे आध्यात्मिक तत्वों के ग्रहण के लिये अनुपयुक्त माना गया है। यद्यपि आत्मानुभव के साथ इसका कोई विरोध नहीं है फिर भी एक महत्तर अनुभव में इसका अध्यास हो जाता है। इस महत्तर अनुभव में ही पूर्ण सत्य का परिज्ञान हो सकता है। किन्तु वेदान्त का अनुभववाद ऐसा रहस्यवाद नहीं जो तर्क की उपेक्षा करता हो। यह एक ऐसा अध्यात्मवाद है जो चाहे हीगल के तर्कवाद के समान तर्क और सत्य को समानार्थक बना देने वाला बुद्धिवाद भले ही न हो, किन्तु एक ऐसा अध्यात्मवाद है जो तर्क तथा बुद्धि का विरोधी नहीं है क्योंकि वह तर्क के महत्व और मूल्य को उचित स्थान देता है। वस्तुतः वेदान्त एक तर्क-विरोधी रहस्यवाद नहीं वरन् तर्कानुकूल अनुभूतिवाद है। वेदान्त-साधन में तर्क को उचित स्थान दिया गया है। आत्मानुभव के पूर्ण सत्य के स्वरूप का मनन वेदान्त में आवश्यक माना गया है। समस्त ज्ञान चाहे श्रेय न हो किन्तु श्रेय का आचार-लक्षण बनने के पूर्व ज्ञान-यान होना आवश्यक है।

जैसा प्रो० राधाकृष्णन् का कथन है 'सद्भाव ( सद्गुण ) जीवन के अन्धकार पूर्ण उत्पातों का सामना तभी कर सकता है और जीवित रह सकता है जब वह विचार-लता का कान्त-कुसुम हो,[११०] किन्तु वेदान्त न बुद्धिवाद है और न रूढ़िवाद। यह एक अध्यात्मवाद है जिसमें तर्क का निषेध नहीं किया गया है वरन् उसका एक महत्तर अनुभव में समाहार कर लिया गया है जिसमें वह एक नवीन कोटि प्राप्त कर लेता है। वेदान्त के परमार्थ रूप आत्मज्ञान में बुद्धि अथवा तर्क का नाश नहीं हो जाता वरन् वह एक अपरोक्षाऽनुभव में समाहृत होकर पूर्णता प्राप्त कर लेता है। प्रो० हिरियन्ना के शब्दों में 'बौद्धिक निष्ठा परिपक्व होकर अपरोक्षानुभव का रूप ग्रहण कर लेती है।[१११]

आत्मा समस्त व्यवहार-कोटियों से परे है, अतः कोई भी व्यावहारिक साधन आत्मानुभव के साक्षात् कारण नहीं हो सकते। किन्तु आत्मा समस्त व्यवहार कोटियों का आधार है तथा समस्त व्यावहारिक ज्ञान-रूपों का इसके साथ अपृथक्-तादात्म्य-सम्बन्ध है और आत्मा की उनमें अभिव्यक्ति होती है।[११२] अतः सभी साधन आत्मज्ञान के पर्यवसान में सहयोगी है। आत्मानुभव स्वतः ही अपना फल है। यह साधारण व्यावहारिक ज्ञान से परे है किन्तु उससे विरुद्ध नहीं। यह एक महत्तर कोटि का अनुभव है तथा एक उच्चतर स्तर पर ही ग्राह्य है। यह हमारे साधारण ज्ञान-प्रकारों का निषेध नहीं है, किन्तु एक महत्तर अनुभव में उनका पर्यवसान है। समस्त साधन हमारे व्यक्तित्व को उस उच्च स्तर तक उठाने में सहायक हो सकते हैं, जिस पर पहुँच कर सत्य का परिज्ञान सम्भव है। उस स्तर पर उनका नाश या विलय नहीं हो जाता वरन् वे आध्यात्मिकता की एक नई कोटि प्राप्त कर लेते हैं। आध्यात्मिकता नैतिकता का निषेध नहीं वरन् उसका पर्यवसान है। नैतिक कोटियाँ पूर्णता से उसकी अभिव्यक्ति नहीं कर सकती, किन्तु वे उसमें नष्ट नहीं हो जाती। नैतिकता पूर्ण सत्य नहीं है, किन्तु वह मिथ्या भी नहीं है। यद्यपि नैतिकता सत्य की चरम अवस्था की अभिव्यक्ति नहीं कर सकती, किन्तु यह हमारे उस तक पहुँचने में सहायक हो सकती है और

---

११०. Indian Philosophy vol II P. 449
१११. Outlines of Indian Philosophy P. 24
११२. प्रतिबोधविदितम्। केन० उप० २-४

अन्त में नष्ट न होकर हमारे व्यावहारिक व्यक्तित्व के आध्यात्मिक रूप ग्रहण कर लेने पर नैतिकता भी आध्यात्मिकता में पूर्णता और पर्यवसान प्राप्त कर लेती है।

## ८—निः श्रेयस और नैतिक अभ्युदय

अस्तु, आध्यात्मिकता में नैतिकता की पूर्णता और पर्यवसान होता है। नैतिक अध्यवसाय के आत्मसिद्धि में सहायक होने के साथ नैतिक अभ्युदय की भी आध्यात्मिक पर्यवसान में सार्थकता हो जाती है। तात्विक सत्य के रूप में ब्रह्म हमारी साधना का आदि है, किन्तु हमारे आध्यात्मिक साध्य के रूप में वह उसका अन्त भी है। प्रो० राधाकृष्णन् के शब्दों में 'चिरन्तन सत्य ही हमारे जीवन का पूर्ण आदर्श भी है।'[११३] इस पहेली का अर्थ यही है कि सत्य विकास का अन्त नहीं है, वरन् विकास सत्य के अन्तर्गत ही होता है। सत्य सनातन और सार्वभौम है। सनातन होने के कारण विकास के किसी अवस्थान में उसका उद्भव नहीं होता तथा सार्वभौम होने के कारण उसे विकास का अन्त-मात्र नहीं माना जा सकता। इसमें एक अन्तर्व्याघात सा प्रतीत होता है। किन्तु वह अनुभव और सत्ता के दो स्तरों की भ्रान्ति के कारण है। अनुभावन की एक आध्यात्मिक प्रक्रिया द्वारा तात्विक-सत्य-रूप ब्रह्म एक आध्यात्मिक तथ्य बन जाता है, सत्य अनुभवगत तथ्य के रूप में परिणत हो जाता है। इस प्रकार का विकास कदाचित् एक नैतिक प्रयोजन हीन 'चक्रगति' मात्र प्रतीत हो, किन्तु यह व्यंग अयुक्त जान पड़ता है। हम रेखागणित के प्रमेयों की भाँति दार्शनिक सत्यों की व्याख्या नहीं कर सकते। स्पिनोज़ा ( Spinoza ) दर्शन में रेखागणित की सी निश्चयात्मकता लाना चाहता था, किन्तु उसने केवल रेखागणित के सिद्धान्तों का दर्शन में प्रयोग करना चाहा था, रूपों का नहीं। 'चक्रगति' का कोई अन्त नहीं होता तथा 'रेखागति' (linear process) अन्तवान् है; इसके अतिरिक्त एक विकास गति के 'चक्रगति' अथवा 'रेखागति' होने में अन्य कोई भेद नहीं दिखाई देता। इस व्यंग का एक ही लक्ष्य हो सकता है कि 'चक्रगति' में आदि ही अन्त है। यदि यह स्वीकार भी कर लिया जाय तो इससे कोई विशेष प्रयोजन सिद्ध नहीं होता। नैतिक विकास का प्रयोजन यह नहीं है कि साध्य आदि में है अथवा अन्त में, किन्तु 'हम' उसे कहाँ प्राप्त करते हैं। यह नहीं कि अन्त वही है जो आदि था, किन्तु यह कि क्या 'हम' अन्त में भी

113. Indian Philosophy Vol I, P. 208.

वही हैं जो आदि में थे ? समस्त आलोचना के मूल में एक भूल यह है कि नैतिक विकास का प्रयोजन सत्य के लिये नहीं है वरन् हमारे व्यक्तित्व के लिये है अर्थात् उसका महत्त्व और उसकी सार्थकता परमार्थ रूप साध्य के उद्भावन में नहीं वरन् परमार्थ की प्राप्ति द्वारा हमारे व्यक्तित्व के परिणाम है। इस व्यंग मात्र से कि 'अन्त' वही है जो 'आदि' है, इसका प्रयोजन नष्ट नहीं होता, क्योंकि इसमें भी भेद है। आदि में साध्य एक तात्विक सत्य है, तथा अन्त में वह एक व्यावहारिक तथ्य बन जाता है। सत्य के स्वरूप में इससे कोई अन्तर नहीं होता किन्तु हमारी सत्ता के साररूप से सत्य के लिये बहुत अन्तर हो जाता है; तथा इसी अन्तर में नैतिक विकास की सार्थकता और नैतिक अध्यवसाय का मूल्य है। साध्य की सनातन सत्यता हमें निष्क्रियता का अधिकार नहीं देती वरन् अन्त में उसकी प्राप्ति का चरम आश्वासन है। क्योंकि साध्य आदि में एक तात्विक सत्य है; हम अन्त में उसे अनुभूत तथ्य के रूप में प्राप्त कर सकते हैं। किन्तु एक 'रेखागति' में हम उसे आदि अन्त में से कहीं नहीं पाते। यदि इस उपमान पर गम्भीरता से विचार करें तो एक सरल-रेखा का कोई अन्त नहीं होता तथा एक अन्त-हीन विकास अनर्थक गति है। इन उपमानों से पृथक् सत्य यह है कि ब्रह्म-ज्ञान न एक कालावच्छिन्न घटना है और न देशावच्छिन्न प्रक्रिया है। आत्म-ज्ञान का किसी कालगत कर्म से न आनन्तर्य सम्बन्ध है और न वह किसी कालगत कर्म का परिणाम है। नैतिक विकास एक स्थान से दूसरे स्थान की यात्रा नहीं है। इसका प्रयोजन हमारे व्यक्तित्व के सम्बन्ध में है, सत्य के सम्बन्ध में नहीं। मुख्य बात यह नहीं है कि हमारी यात्रा का कहाँ आदि है और कहाँ अन्त, वरन् यह कि आदि में 'हम' क्या हैं और अन्त में क्या ? 'रेखागति' में साधना का पर्यवसान कहीं नहीं है क्योंकि इसमें सत्य का कोई प्रसंग नहीं है। प्रत्येक अवस्थान 'लक्ष्य' है तथा कोई भी अवस्थान-विशेष चरम तथा पूर्णता का अवस्थान होने के अर्थ में 'लक्ष्य' नहीं है। लक्ष्यहीन विकास अनर्थक है तथा सत्य के प्रसंग के बिना पूर्णता अनवगम्य है।

पूर्णता को एक रेखागति का अवसान मान लेना विवेचन के सिद्धान्त को अनधिकार रूप से बदल देना है। इसका अभिप्राय केवल 'कालावच्छिन्न' का सनातन के साथ सामंजस्य करना हो सकता है, जो सनातन और उसकी सनातनता में विश्वास के बिना अनधिकार है। पूर्णता आत्मा के नित्य स्वरूप का साक्षात्कार है। आत्मा पूर्ण और अनन्त है। आत्मानुभव का

किसी कालिक कर्म-परम्परा से न अनन्तर्य सम्बन्ध है और न आत्मानुभव उसका परिणाम है। अनन्त न परिच्छिन्नों की एक अन्तहीन परम्परा का संकलन है न उसका पर्यवसान। नित्यता कालावच्छेद का अन्तहीन विस्तार नहीं है और न अनन्त परिच्छिन्नों की एक अन्तहीन परम्परा है। नित्यता एक कालातीत सत्य है, तथा अनन्त अपने में पर्याप्त 'पूर्ण-कृत्स्न' है। पूर्णता को नैतिक विकास के एक परिच्छिन्न पथ का अन्त मान लेना अनन्त को सावधि तथा नित्य को कालावच्छिन्न बना देना है। इसमें एक व्याघात है जिसका आधार अनन्त और नित्य के स्वरूप विषयक भ्रान्ति है। यह देशावच्छिन्न गति का अनन्त के साथ तथा कालावच्छिन्न का नित्य के साथ सामंजस्य करने का प्रयास है, किन्तु इसमें अनन्त की अनन्तता और नित्य की नित्यता नष्ट हो जाती है। 'चक्रगति' का अभिप्राय इस के विपरीत है। यह अनन्त का परिच्छिन्न के साथ तथा नित्य का कालावच्छिन्न के साथ सामंजस्य करना चाहती है। यह भी कठिन है किन्तु असाध्य नहीं; क्योंकि अनन्त परिच्छिन्न का अन्तर्निहित सत्य है तथा नित्य कालावच्छिन्न का अन्तर्तम सत्य है। जैसा प्लेटो का कथन था कि 'काल नित्यता की गतिशील प्रतिकृति है।' परिच्छिन्न ( मित ) अनन्त से बहिर्भूत नहीं है, क्योंकि मित अनन्त का न प्रतियोगी है और न विरोधी। नित्य भी कालावच्छिन्न का विरोधी नहीं है, यद्यपि उसे कालावच्छिन्न रूप देना उसकी नित्यता को नष्ट करना है। समस्त मित अनन्त में प्रतिष्ठित है तथा समस्त काल-प्रक्रिया नित्य के अन्तर्गत है। नित्य की तात्विक सत्यता एक कालगत अनुभव प्रक्रिया के अन्त रूप में प्राप्य है। हम अखण्ड आध्यात्मिक अनुभव के एक अकाल क्षण में सनातन सत्य को अपनी सत्ता के सार रूप में ग्रहण कर सकते हैं, किन्तु कालावच्छेद रूप से नित्य की व्याख्या नहीं कर सकते। यही कारण है कि समस्त साधनों को आत्मानुभव के पर्यवसान में सहकारी कारण माना गया है, साक्षात् कारण नहीं। किन्तु यह एक तात्विक कठिनाई को स्पष्टता पूर्वक स्वीकार करना है जो उस पर धूल डालने से अच्छा है। इससे अध्यात्म-साधनों का महत्व तथा नैतिक अध्यवसाय का मूल्य कम नहीं होता। जिस प्रकार काल की सत्यता नित्य में है, उसी प्रकार समस्त साधनों की सार्थकता तथा नैतिक अध्यवसाय की सफलता आत्मानुभव में है जिसमें उनका पर्यवसान होता है।

---

# छठा अध्याय

# वेदान्त का व्यावहारिक आचार-दर्शन अर्थात् मोक्ष प्राप्ति के साधन

## १—साधन : श्रुति और आचार्य

मोक्ष प्राप्ति के साधन वेदान्त के व्यावहारिक आचार-दर्शन के भाग हैं। वेदान्त के अनुसार मोक्ष जीवन का परमार्थ है। आत्मानुभव ही मोक्ष है। आत्मा समस्त अनुभव और कर्म का आधार भूत अध्यात्म-तत्व है, अतः अन्य ज्ञान साधनों द्वारा वह ज्ञेय नहीं और न किसी कर्म द्वारा साध्य है। हमारा अन्ततम तत्व होने के कारण न यह हेय है और न उपादेय।[1] अविद्या से आच्छन्न आत्मा के नित्य स्वरूप का अवगम ही आत्म-प्राप्ति है। आत्म-बोध एक तात्विक सत्य (Metaphysical truth) है। आत्मा नित्य बोध-स्वरूप है। केवल हमें अपनी सत्ता के सार के रूप में उसका अनुभव करना है। किन्तु आत्मा की नित्यता तथा तात्विक सत्यता का अभिप्राय यह नहीं है कि अनुभव-गत तथ्य ( a fact of experience ) के रूप में इसे प्राप्त करने के लिये किसी प्रयत्न की अपेक्षा नहीं है। आत्मा स्वयं अपने ही द्वारा ज्ञेय या प्राप्य है, इसका अर्थ यह नहीं है कि समस्त साधन-प्रयत्न व्यर्थ हैं। यह एक नित्य सत्य है फिर भी हमें अपनी सत्ता के सार रूप में इसका अनुभव करना है। प्रो० राधाकृष्णन् के शब्दों में यह एक तथ्य है फिर भी प्रयत्नसाध्य है, एक नित्य अधिकार है फिर भी एक समस्या है।[2] श्री शंकराचार्य का कथन है कि आत्म-ज्ञान हमें स्वतः ही अनायास प्राप्त नहीं हो जायगा।[3] इसकी सिद्धि के लिये महान् यत्न की अपेक्षा है।[4]

---

१. आत्मत्वादेव सर्वेषां न हेयो न उपादेयः। ब्र० सू० भा० १-१-४।

२. Indian Philosophy vol. I, p.209.

३. अतोऽयत्नतः स्वात्मन्यवस्थानमित्यनुपपन्नम्। तै० भा० १-१-१.

४. तस्मात्तल्लाभे महान् यत्न आस्थेय :। बृ० भा० १-४-८.

आत्म-ज्ञान एक अपरोक्ष आध्यात्मिक अनुभव है, अतः अन्ततः यह आत्मा-द्वारा ही आत्मा का अनुभव है। किन्तु जैसा कहा जा चुका है, इस आध्यात्मिक अनुभव के पर्यवसान में सहयोग देने में ही समस्त साधनों की सार्थकता और समस्त नैतिक अध्यवसाय का मूल्य है।

वेदान्त में मोक्ष प्राप्ति के साधनों का बड़ा विस्तृत वर्णन है। सत्य के साक्षात् अनुभव के प्रतीक होने के कारण श्रुति को मोक्ष का प्रधान (मूल) साधन माना गया है। श्री शंकराचार्य ने अनेक स्थलों पर कहा है कि सत्य केवल श्रुति से ही जाना जा सकता है।[५] किन्तु श्रुति से उनका तात्पर्य ग्रन्थ-गत शब्दों से नहीं वरन् तन्निहित सत्य है।[६] ब्रह्म-सूत्र-भाष्य के आरम्भ में उन्होंने पूर्व-मीमांसा के साथ वेदान्त-साधन के लिये भी वेदाध्ययन के आनन्तर्य को समान माना है[७] किन्तु यहाँ वेद का तात्पर्य केवल सामान्य कर्म-काण्ड के प्रारम्भिक अध्ययन से है जो विद्यार्थियों के लिये आरम्भ में आवश्यक है। इस स्थल पर पद्मपाद की टीका से यह स्पष्ट हो जाता है कि धर्म-जिज्ञासा के साथ ब्रह्म-जिज्ञासा के प्रसंग में भी वेदाध्ययन (स्वाध्याय) का पूर्ववर्तित्व केवल एक सामान्य विषय है। केवल सामान्य पूर्ववर्तित्व होने के कारण अत्यन्त अपेक्षित नहीं। यह स्वतः आत्मज्ञान उत्पन्न करने में समर्थ नहीं है।[८] अध्यात्म-ज्ञान की भाण्डार-रूपा श्रुति भाषा, अर्थ और स्वर की कठिन प्रणाली पर निर्मित होने के कारण किसी सिद्ध आचार्य की कृपा के बिना, जिसने किसी प्राचीन गुरु-परम्परा से श्रुति-ज्ञान प्राप्त किया हो, गम्य नहीं थी; अतः वेदान्त-साधना में गुरु ने बड़ा महत्व पूर्ण स्थान ग्रहण कर लिया। वेद के उत्तर-भाग उपनिषदों में निहित ज्ञान-तत्व एक ब्रह्मज्ञानी गुरु की कृपा बिना, जिसने स्वयं सत्य का साक्षात् अनुभव किया हो, दुर्गम हो गया तो गुरु का स्थान तथा महत्व और भी बढ़

५. केवल शास्त्राचार्योपदेशगम्यम्। छां० भा० ६-१-२.

६. शब्दराश्यधिगमेऽपि यत्नान्तरमन्तरेण गुर्वभिगमनादिलक्षणं वैराग्यं च नाक्षराधिगमः सम्भवति। मुं० भा० १-१-५.

७. स्वाध्यायानन्तर्यं तु समानम्। ब्र० सू० भा० १-१-१.

८. स्वध्यायानन्तर्यन्तु समानं साधारणो हेतुर्धर्मब्रह्मजिज्ञासयोः···समानं नात्यन्तमपेक्षितं न स्वयमेव सामर्थ्यं जनयितुं प्रयोक्तुं च शक्यम्। पञ्चपादिका पृष्ठ ४८.

गया। सत्य एक सजीव अनुभव है, ग्रन्थों से प्राप्य पाण्डित्य नहीं। ग्रन्थों में सत्य निहित है किन्तु वे सत्य की आत्मा का दर्शन हमें नहीं करा सकते। श्रुति हमें प्रकाश दे सकती है किन्तु दृष्टिदान नहीं कर सकतीं। आचार्य भी गौ के सींग पकड़ कर गौ-दर्शन की भाँति आत्म-दर्शन नहीं करा सकते जैसा कि उषस्ति चाक्रायण चाहते थे।[९] एक सच्चे विद्यार्थी को ब्रह्मज्ञानी गुरु के सजीव आध्यात्मिक सम्पर्क में आत्म-ज्ञान की प्राप्ति का एक बड़ा महत्वपूर्ण साधन मिल सकता है।

## २—नैतिक साधना : साधन-चतुष्टय

किन्तु श्रुति और आचार्य, यद्यपि एक में सत्य निहित है तथा दूसरे को उसका साक्षात्कार प्राप्त है, सत्य को साधक के साक्षात् अनुभव का रूप देने के लिये पर्याप्त नहीं। जिसमें स्वयं अग्नि-ग्रहण करने की सामर्थ्य नहीं है उस पदार्थ को अग्नि कितनी ही तीव्र होकर भी दीप्त नहीं कर सकती। साधक में स्वयं आत्मानुभव की सामर्थ्य उत्पन्न होनी चाहिये। ब्रह्म समस्त भूतों की आत्मा है अतः ब्रह्म-प्राप्ति की अन्तर्हित सम्भावना सभी में रहती है। किन्तु हमारे भौतिक व्यक्तित्व की सीमाओं ने हमारी आत्मा के सत्य को आवृत कर रखा है। अतः नैतिक साधना द्वारा इस अन्तर्हित सम्भावना को यथार्थ में परिणत करना है। गीली लकड़ी को धूप में सुखा लेना आवश्यक है ताकि वह आग पकड़ सके। नैतिक साधन द्वारा भौतिक सीमाओं को विजित करना है जिससे सत्य अपनी महिमा में प्रकाशित हो सके। नैतिक-साधना द्वारा अध्यात्म ज्ञान की ओर कुछ अभिरुचि बनने पर ही श्रुति और आचार्य उपयोगी हो सकते हैं। अतः यद्यपि श्रुति और आचार्य आवश्यक माने गये हैं, नैतिक-साधना भी अनिवार्य है। श्री शंकराचार्य ने अपने ब्रह्म-सूत्र भाष्य के आरम्भ में नैतिक साधन-चतुष्टय को तत्व-ज्ञान के अधिकारी के लिये आवश्यक माना है। इन चार आवश्यक साधनों से अपने को सम्पन्न बनाये बिना कोई अध्यात्म-लोक में प्रवेश नहीं कर सकता। वेदाध्ययन तथा ब्रह्मचर्य-गत नित्यकर्म से आत्मशुद्धि द्वारा आध्यात्मिक-अभिरुचि प्राप्त करना आवश्यक है। शुद्धता और शान्ति के वातावरण में आत्मा की एक झलक प्राप्त करने पर ही उसकी प्राप्ति की उत्सुकता उत्पन्न हो सकती है, जो आत्म-सिद्धि के चरम लक्ष्य तक पहुँचने के लिये अपेक्षित है।

---

९. बृह० उप० ३ ४-१

( १ ) नित्यानित्य-वस्तु-विवेक नैतिक साधना का प्रथम चरण है। ज तक मनुष्य लौकिकता की मृग-तृष्णा में ही व्यस्त रहता है तब तक उसे न तो इस परिवर्तन-शील व्यवहार-लोक के अन्तर्भूत किसी स्थायी तत्व का बोध होता है और न उसे प्राप्त करने की कोई आकांक्षा। किन्तु इस नित्या-नित्यवस्तुविवेक का तात्पर्य नित्य-अनित्य के भेद की पूर्णता तथा नित्य का पूर्ण ज्ञान नहीं। वह तो आध्यात्मिक साधना के अन्त में ही सम्भव हो सकता है तथा आरम्भ में ही साधक से उसकी आशा करना अन्याय है। डॉयसन ( Deussen ) का यह कथन युक्त है कि 'अपने परिपूर्ण अर्थ में यह विवेक वेदान्त-साधना का अन्तिम फल है अतः यहाँ इसका तात्पर्य एक सामान्य आध्यात्मिक अभिरुचि से है जिसके फलस्वरूप साधक को इस व्यवहार जगत् के परिणामशील पदार्थों से भिन्न एक अपरिणाम- शील नित्य तत्व का आभास प्राप्त होता है।'[10]

( २ ) नित्यानित्यवस्तुविवेक की ही सामान्य आध्यात्मिक अभिरुचि साधक के मन में स्वाभाविक रूप से नित्य के ज्ञान तथा लाभ की आकांक्षा उत्पन्न करेगी और उसके परिणाम-स्वरूप अनित्य से विराग की ओर प्रवृत्त करेगी। इहलोक और परलोक में प्राप्त होने वाले सभी भौतिक पदार्थ अनित्य है। वे क्षणस्थायी हैं तथा क्षण में नष्ट होकर अपनी क्षण-भंगुरता के कारण एक क्षोभ-सा छोड़ जाते हैं। देवलोक की स्थिति पुण्य क्षय होने तक ही है। पुण्य क्षीण होने पर पुनः मर्त्या लोक में आना होता है।[11] पुण्य कर्म से प्राप्त अमृतत्व भी सापेक्ष है। यह एक दीर्घ कालीन स्थिति है किन्तु प्रलय के साथ इस अमृतत्व का भी अन्त हो जाता है।[12] अमृतत्व की कामना नित्य अमृत आत्मा की प्राप्ति में ही शान्त हो सकती है। जिसके लिये इहलोक और परलोक में प्राप्य फल-भोग का त्याग आवश्यक है, जो वेदान्तिक साधना का दूसरा अवस्थान है। डॉ० डायसन की दृष्टि में वेदान्त-साधना के इस द्वितीय चरण में बहुत दार्शनिक महत्व है। उनके मत में यह भारतीय-चिन्तन की सचाई का प्रमाण है तथा उनका विचार है कि 'दार्शनिक साधना तभी तक सार्थक है जब तक हम भौतिक फलाकांक्षा को त्याग कर उसमें लीन हैं।

---

10. The system of the Vedanta P. 80

११. क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति। गी० ६-२१

१२. आभूतसम्प्लवस्थानममृतत्वमिहोच्यते, विष्णु पुराण २६-१७

वही चरम तात्विक प्रश्नों का समाधान प्राप्त कर सकता है जो हृदय की आशा-आकांक्षाओं से ऊपर उठ कर शुद्ध अध्यात्म भाव तक पहुँच सकता है।'[13]

(३) कर्मफलानुराग बड़ी चिन्ता और व्यग्रता का कारण है तथा समस्त अनर्थों का मूल है, अतः इहामुत्रभोग-विराग से शान्ति तथा अन्य गुणों की प्राप्ति होती है जो आत्म सिद्धि में बड़े सहायक हो सकते हैं। अस्तु, साधना का तीसरा चरण शमदमादि षट्साधन-सम्पत्ति की प्राप्ति है। यहाँ भी इसका तात्पर्य यह नहीं है कि इन नैतिक गुणों की पूर्णता आरम्भ में ही साधक से अपेक्षित है। यह भी अध्यात्म-साधना के अंत में ही सम्भव है। डा० डायसन का कथन हैं कि 'ब्रह्म ज्ञानी के विषय में तो यह उपयुक्त है, किन्तु साधक से आरम्भ में इन गुणों की पूर्णता की आशा करना विचित्र है।'[14] डा० डायसन का अभिप्राय यही है कि साधक से आरम्भ में ही इन गुणों की पूर्णता की आशा नहीं की जा सकती। किन्तु इन गुणों की ओर प्रवृत्ति आत्म-ज्ञान में बहुत सहायक हो सकती है। पूर्व साधनों की भाँति यहाँ भी इनकी ओर साधक की प्रवर्द्धमान अभिरुचि ही अभिप्रेत है, जिनकी उत्तरोत्तर वृद्धि का परिणाम पूर्णता ही होगी जो आत्मज्ञान के साथ ही प्राप्त होगी।

(४) नित्यानित्यवस्तुविवेक का आशय परिणामशील जगत् के अन्तर्भूत एक आन्तरिक अपरिणामशील नित्य तत्व के ज्ञान की ओर एक अभिवृत्ति है। उसके परिणामस्वरूप इहामुत्रभोगविराग मदमादि षट् सम्पत्ति से युक्त होने पर साधक के मन में मुमुक्षुत्व की भावना उत्पन्न होती है,जो चतुर्थ साधन है। मोक्ष जीवन का परमार्थ है, उसकी प्राप्ति के लिये उसकी आकांक्षा का पूर्ववर्तित्व आवश्यक है।

## ३—श्रुति

साधन-चतुष्टय से सम्पन्न साधक ब्रह्म-जिज्ञासा का अधिकारी है। ब्रह्म हमारी आध्यात्मिक यात्रा का लक्ष्य है। यद्यपि ब्रह्म के स्वरूप का पूर्ण ज्ञान साधना के अंत में ही सम्भव है, किन्तु उसका आभास हमें साधन पथ पर प्रेरित करने के लिये आवश्यक है। ब्रह्म के स्वरूप का प्रारम्भिक ज्ञान श्रुति द्वारा ही प्राप्य है। अतः श्रवण-मनन-निदिध्यासन की साधन-परम्परा में

13. The System of the Vedanta P. 80
14. ibid. P. 80.

श्रवण को प्रथम स्थान दिया गया है। अध्यात्म-साधनों में श्रुति को वेदान्त में इतना महत्व दिया गया है, कि बहुत से आलोचक श्री शङ्कराचार्य पर रूढ़िवादी ( dogmatic ) होने का आक्षेप करते हैं। अनेक स्थानों पर उन्होंने अन्य साधनों का भी मूल्य स्वीकार किया है किंतु यह वचन कि 'केवल श्रुति द्वारा ही आत्म-ज्ञान प्राप्य है' श्री शङ्कराचार्य की रचनाओं में इतना अधिक आवृत्त हुआ है कि उनके रूढ़िवादी होने का आक्षेप युक्त सा जान पड़ता है। किंतु अनेक ऐसे स्थल हैं जहाँ श्री शङ्कराचार्य ने श्रुति की सीमा तथा श्रुति की सत्य को अन्यथा करने की असमर्थता का स्पष्ट निर्देश किया है। वेदों का कर्मकाण्ड ब्रह्म का निरूपण नहीं करता केवल कर्म का विधान करता है जिसका फल अचिर है। श्री शङ्कराचार्य आत्मज्ञान के लिये कर्म को चरम मूल्य नहीं देते किंतु आत्म-संस्कार के साधन रूप से उपयोगी मानते हैं। इस प्रकार उन्होंने वेद के पूर्वभाग का उत्तर भाग से सामंजस्य किया है। दोनों भागों का समान महत्व नहीं है, किंतु उनमें कोई विषमता भी नही है। वेदों के उत्तर भाग का महत्व अधिक है, क्योंकि उसमें ब्रह्म का निरूपण किया गया है जो सनातन सत्य है। श्रुति को ब्रह्म ज्ञान का एक मात्र साधन मानने से वेद के इस ज्ञान-कांड का महत्त्व और भी बढ़ जाता है। किंतु जब श्री शङ्कराचार्य सत्य के अन्यथा-करण में श्रुति की असमर्थता घोषित करते हैं तो यह स्पष्ट हो जाता है कि श्रुति से उनका अभिप्राय ग्रंथों के शब्दों से नहीं वरन् तद्गत सत्य में है। 'सहस्र श्रुतियाँ भी अग्नि को शीतल नहीं बना सकती'[१५] इसका अर्थ यही है कि पदार्थों का स्वरूप उनकी सत्ता का चरम सत्य है और श्रुति के शब्द उसे अन्यथा नहीं कर सकते। श्री शङ्कराचार्य के लिये सत्य ही चरम है, तथा स्वतः परम मूल्यवान् है। श्रुति का मूल्य और महत्व उसके अंतर्निहित सत्य की प्रतीक होने के कारण है। श्रुति उस सत्य की कारक नहीं, ज्ञापक मात्र है।[१६] वह यथाभूत अर्थ की प्रकाशक है, अविद्यमान अर्थ की कारक नहीं।[१७] श्रुति की प्रामाणि-

---

१५. न ह्यग्निः शीतः आदित्यो न तपतीति वा दृष्टांत शतेनापि प्रतिपादयितुं शक्यम्। बृह० भा० २-१-२०

१६. ज्ञापकं शास्त्रं न कारकं इति स्थितिः। बृह० भा० १-४-१०।

१७. ज्ञापकत्वाद् वचनस्य, वचनं नाम यथाभूतस्यार्थस्य ज्ञापकं नाविद्यमानकर्तृ। तै० भा १-११

कता का आधार उनका ईश्वरोक्त होना है,[१८] और ईश्वर का वचन मिथ्या नहीं हो सकता। यदि हम इस विश्वास का पौराणिक भाग छोड़ भी दें और श्रुतियों को प्राचीन ऋषियों द्वारा अनुभूत सत्यों का शब्द-रूप मानें तो भी यह सत्य अक्षुण्ण रहता है कि श्रुतियों में सत्य के अनुभव निहित हैं। प्रो० राधाकृष्णन् के शब्दों में श्रुति की प्रामाणिकता का आधार यही है कि वह अनुभव की अभिव्यक्ति है। अनुभव स्वतः प्रमाण है, अतः श्रुति को भी स्वतः प्रमाण माना जाता है। इसके लिये किसी बाह्य प्रामाण्य की अपेक्षा नहीं है।[१९] छांदोग्य उपनिषद् भाष्य में श्री शङ्कराचार्य ने कहा है कि श्रुति का वचन नित्य सत्य होता है। किसी भी कुतर्क द्वारा वह मिथ्या सिद्ध नहीं किया जा सकता। श्रुति सत्य का चरम प्रमाण है क्योंकि उससे गुरुतर प्रमाण उपलब्ध नहीं।[२०] प्राचीन ऋषि आज के लोगों से अधिक समर्थ और शक्तिमान् थे। देवताओं से उनका व्यवहार होता था तथा उनको वे अनुभव प्राप्त थे जो आज के युग में दुर्लभ हैं। यदि आज के विज्ञान और तर्क के युग में उक्त कथन का पूर्व-भाग पौराणिक मानकर छोड़ भी दिया जाय, तो भी उत्तर भाग का सत्य और गौरव असंदिग्ध है। श्रुतियों में उन ऋषियों के सत्यानुभव का ज्ञानालोक सुरक्षित है जो हमारे जीवन-पथ को सदा प्रकाशित करता रहेगा। प्रायः श्री शंकराचार्य की रचनाओं में यह वचन मिलता है कि 'श्रुति पदार्थों के स्वरूप को अन्यथा नहीं बनाती, वह केवल यथार्थ को प्रकाशित करती है।'[२१] श्रुति के इस ज्ञापक स्वरूप को लक्षित करने के लिये प्रदीप का उपमान प्रायः दिया गया है। भारवि[२२] के सुन्दर भाव के तुल्य ही श्री शंकराचार्य ने भी कहा है 'श्रुति

---

१८. तद्वचनादाम्नायस्य प्रामाण्यम्। वै० सू० १-११

१९. Indian Philosophy Vol. II. P. 518.

२०. श्रुतेर्वचनं सत्यमेव भवेत् न च कुतर्कबुद्धया मृषा कर्त्तुं युक्तम्, ततो गुरुतरस्य प्रमाणान्तरस्याऽनुपपत्तेः। छां० भा० ८-१२-१।

२१. वचनस्य न कारकत्वात्। नहि वचनं वस्तुनोऽन्यथाकरणे व्याप्रियते, किं तर्हि? यथाभूतार्थावद्योतने। प्रश्न० भा० ६-२।

२२. सुकृतः परिशुद्ध आगमः कुरुते दीप इवार्थदर्शनम्।
किरातार्जुनीयम् २-२३।

प्रदीप के समान सत्य का प्रकाशन करती है।[२३] उक्त कथन से यह स्पष्ट ह जाता है कि श्री शंकराचार्य श्रुति को अनुचित महत्व नहीं देते। शास्त्र हमें भृत्य के समान बलात् किसी कार्य में नियुक्त अथवा किसी कार्य से निवृत्त नहीं कर सकता।[२४] वह सत्य के पथ का निदर्शन कर सकता है, उसे ग्रहण करने के लिये हमें बाध्य नहीं कर सकता।[२५] वह हमें केवल प्रकाश दे सकता है, दृष्टिदान नहीं कर सकता। श्रुति का प्रयोजन आध्यात्मिक साधना और सत्य की खोज में हमारी सहायता करना है, अपने अधिकार से हमारे आध्यात्मिक अध्यवसाय को कुण्ठित करना नहीं। युगों के अनुभव की संचित शक्ति से अनुप्राणित श्रुति कोई बाह्य आरोपण ( imposition from without ) नहीं, वरन् एक आन्तरिक स्फूर्ति ( inspiration from within ) है। रूढ़िवाद का आक्षेप आचार्य के उद्देश्य के विषय में भ्रान्ति के कारण है। कठोपनिषद् भाष्य में प्रयुक्त माता का उपमान यह प्रमाणित करने के लिये पर्याप्त है कि श्रुति किसी अनिवार्य नियम का निष्ठुर तन्त्र नहीं, किंतु हमारे कठिन सत्य-पथ पर एक अत्यन्त करुणामयी मार्ग-दर्शिका है, जो अधिकार और आदेश से नहीं वरन् मातृवत् करुणा और स्नेह से हमारा पथ निर्देश करती है तथा हमारे साधना-शिशु को करुणामयी माता के समान ही पोषित करती है।[२६]

## ४—आचार्य

हमारी सत्य-साधना में अत्यन्त महत्वपूर्ण होते हुए भी श्रुति सुगम नहीं है। श्रुति वस्तुतः उसका बाह्य शब्द-रूप नहीं है वरन् उसका अन्तस्तत्वरूप अनुभव है जो श्रुति की आत्मा है। प्राचीन ऋषियों के समान जिनको तत्व-दर्शन हुआ था तथा जिसे सनातन तत्व का कुछ आभास प्राप्त हुआ हो ऐसे किसी तत्वज्ञानी महात्मा के दिग्दर्शन के बिना हम श्रुति का वास्तविक रहस्य नहीं समझ सकते। केनोपनिषद् भाष्य में श्री शंकराचार्य ने कहा है कि 'ब्रह्म आचार्य के बार बार उपदेश द्वारा ही जाना जा सकता है, तर्क, प्रवचन,

---

२३. प्रदीपवत्सर्वार्थावद्योतिनः। ब्र० सू० भा० १-१-३।

२४. न तु शास्त्रं भृत्यानिव बलान्निवर्तयति नियोजयति वा।
बृह० भा० २-१-२०।

२५. वही

२६. श्रुतिरनुकम्पयाह मातृवत्। कठ १-३-१४।

बुद्धि, बहुश्रवण, तप, यज्ञ आदि के द्वारा नहीं।' [२७] छान्दोग्य उपनिषद् भाष्य का वचन और भी दृढ़ है 'ब्रह्म केवल शास्त्र तथा आचार्य के उपदेश द्वारा अवगम्य है।' [२८] 'शास्त्राचार्य' पद श्री शंकराचार्य की रचनाओं में अनेक बार समास रूप में आता है। समासपद में 'शास्त्र' शब्द की पूर्ववर्तिता का आशय यही है कि ब्रह्मज्ञान एक आध्यात्मिक अनुभव है जो श्रुतियों में सन्निहित है। 'शास्त्राचार्य' समासपद की आवृत्ति दोनों के निकट सम्बन्ध को प्रदर्शित करती है। श्रुति अध्यात्म-ज्ञान का परम साधन है, किन्तु वह सुगम नहीं। उनका वास्तविक तत्व किसी तत्वज्ञानी गुरु द्वारा दीक्षित होने पर ही जाना जा सकता है। इससे वेदान्त-नय में आचार्य के स्थान का महत्व स्पष्ट हो जाता है। आचार्य के उच्चस्थान के कारण ही वेदान्त पर रहस्य-तन्त्र (Esotericism) होने का आक्षेप लगाया जाता है। कहा जाता है कि वेदान्त-नय में सत्य तत्त्वविदों का एकाधिकार है। वे ही साधकों को तत्वज्ञान का दान दे सकते हैं। वेदान्त में स्वतन्त्र विचार और स्वाधीन प्रयत्न के लिये तनिक भी स्थान नहीं है। यह आक्षेप विचार-स्वातन्त्र्य तथा न्याय की दृष्टि से किया जाता है, जिनके मुख्य आशय का निषेध वेदान्त-साधना में कहीं नहीं किया गया है। अन्त में सत्य का अनुभव साधक को स्वयं ही करना है। वह सत्य श्रुति में निहित है तथा आचार्य अपने अनुभव के आधार पर नवीन साधकों को उसकी प्राप्ति के पथ का प्रदर्शन कर सकता है। किन्तु दोनों में से कोई भी उसको वह अनुभव दे नहीं सकते। वे उसे प्रकाश दे सकते हैं, दृष्टिदान नहीं कर सकते। साधन-त्रय की परम्परा में श्रुति तथा आचार्य से प्राप्त तत्व के मनन को श्रवण के बाद द्वितीय स्थान दिया गया है और तृतीय साधन निदिध्यासन यह स्पष्ट कर देता है कि अन्त में साधक को निरन्तर अनुभावन ( ध्यान ) द्वारा उस अनुभव को अपना बनाना है। श्रुति भगवान् का पुण्य वचन है तथा तत्वज्ञान त्रैलोक्य के राज्य से भी बढ़कर है। [२९] इतनी अमूल्य विद्या प्रदान करने वाले गुरु का अत्यन्त श्रद्धास्पद पद ग्रहण कर लेना नितान्त स्वाभाविक था। किन्तु वेदान्त का अभिप्राय

---

२७. ब्रह्म च एवमाचार्योपदेशपरम्परया एवाभिगन्तव्यम् न तर्कतः प्रवचनमेधा-बहुश्रुततपोयज्ञादिभ्यश्च। केन० वा० भा०-१-३।

२८. केवल शास्त्राचार्योपदेशगम्यम्। छा० भा० ६-१-२।

२९. त्रैलोक्य राज्याच्च गुरुतरा विद्या। छां० भा० ८-७-२

विद्वानों का साम्राज्य स्थापित करना नहीं था। सत्य का पथ दुर्गम है अतः जो इससे परिचित थे उनसे आशा की जाती थी कि वे नवीन साधकों को सत्य-पथ का प्रदर्शन करें। किन्तु वे साधकों को अपने अनुभव के आधार पर सहायता मात्र देते थे, उसकी स्वतन्त्रता पर आघात नहीं करते थे। दीक्षा विचार-स्वातन्त्र्य तथा प्रयत्न स्वातन्त्र्य की घातक नहीं। हम स्वयं ही तत्व-ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं और हम से पूर्व सत्य पथ पर श्रम करने वालों के अनुभवों का हमारे लिये कोई प्रयोजन नहीं है, ऐसा सोचना बौद्धिक दम्भ मात्र है। मोक्ष-प्राप्ति का कोई अन्य बाह्य तथा साक्षात् साधन नहीं है, अतः एक अनुभवी आचार्य का सजीव सम्पर्क उस आध्यात्मिक लक्ष्य को प्राप्त करने का सबसे हितकर मार्ग है। एक ब्रह्म-निष्ठ आत्मा का आध्यात्मिक सम्पर्क हमारी आत्मा में भी विद्युत्-स्फुरण कर सकता है तथा उसमें एक सजीव अनुभव की प्राणशक्ति संचारित कर सकता है। सिद्धात्मा के चतुर्दिक् का वातावरण सत्य के प्रकाश से दीप्त होता है; अपनी अविद्या के संकीर्ण अन्ध-कार-कोष्ठ की अपेक्षा उसके आलोक में हम अपनी आत्मा का दर्शन अधिक सरलता से कर सकते हैं। काव्य, चित्रकला, संगीत, स्थापत्य आदि कलाओं का सौन्दर्य तत्सम्बन्धी शास्त्रों से उनके लक्षण-ज्ञान मात्र से नहीं समझा जा सकता। किन्तु उनको समझाने वाले किसी ज्ञाता के सम्पर्क से सहज ही समझा जा सकता है। उसका सजीव सम्पर्क हमारी सौन्दर्यानुभव की सहज-शक्ति को जाग्रत कर देता है। जो सौन्दर्यानुभव के विषय में सत्य है वह आध्यात्मिक अनुभव के विषय में और भी अधिक सत्य है। आध्यात्मिक शक्ति से अनुप्राणित वातावरण में ही आध्यात्मिक अनुभव सम्भव है। एक दीप्त प्रदीप के सम्पर्क से ही नवीन दीपक जल सकता है। एक ज्ञानालोक से दीप्त आत्मा के सम्पर्क से ही हम अपनी आत्मा को आलोकित कर सकते हैं, पाण्डित्य के उष्ण जल में डुबा कर नहीं, चाहे वह कितना ही गहरा हो।

अस्तु, वेदान्त-नय में आचार्य का महान् महत्व आध्यात्मिक अनुभव के आदर्श के अनुरूप ही है। प्रायः आचार्य फलभार से अवनत वृक्ष की भाँति अपने ज्ञान-भार से सदा नम्र और उदार रहते थे। फिर भी यह असम्भव नहीं था कि उनमें कुछ आचार्यमन्य सत्य को अपना साम्राज्य समझते थे तथा बड़ी अनुदारता से ज्ञान-प्रदान करते थे और कभी कभी साधक की सत्यता की परीक्षा में मानुषिकता की सीमा का अतिक्रमण कर जाते थे। यही आचार्य थे जो जब तक कोई विद्यार्थी शीश पर अग्नि वहन

कर अपनी सत्यता की परीक्षा न दे दे तब तक उसे अपने आश्रम में दीक्षित नहीं करते थे। यह सम्भव है ये आचार्य भी सत्य (तत्व) को जानते हों किन्तु अपनी अमानुषिकता के कारण उसे उतना कम ही जानते होंगे। तत्वज्ञान का व्यवहार को अमानुषिकता तथा दृष्टिकोण की संकीर्णता से कोई सामंजस्य नहीं हो सकता। सच्चे आचार्य सदा नम्र और उदार होते थे जैसा कि तत्वज्ञ पुरुषों को होना चाहिये। वे अध्यात्म-ज्ञान को पवित्र मानते थे तथा हर किसी को उसमें दीक्षित नहीं करते थे। इससे यह प्रमाणित नहीं होता कि वे उसे अपना एकाधिकार समझते थे। केवल अधिकारी को ही वे विद्यादान देते थे; यह नितान्त उचित था। न्याय-दृष्टि से विद्या प्रत्येक व्यक्ति का अधिकार है, किन्तु जो उसके योग्य है वही उसके अधिकारी हैं। 'ज्येष्ठ पुत्र अथवा योग्य शिष्य को ही ब्रह्म विद्या प्रदान करे[30], यह रूढ़ि परम्परा यह प्रमाणित नहीं करती कि विद्या आचार्यों का साम्राज्य था तथा उस पर उनके पुत्र अथवा शिष्य का ही उत्तराधिकार था। सत्य पैतृक सम्पत्ति नहीं है जो उत्तराधिकार से प्राप्त हो सके। ज्येष्ठ पुत्र को आचार्य के निकट तथा प्रिय होने के कारण विद्याप्राप्ति की सब से अधिक सुविधा रहती थी। किन्तु योग्यता अयोग्यता के विचार से निरपेक्ष वह उसका एक मात्र अधिकारी नहीं था। पुत्र के अयोग्य होने पर योग्य शिष्य उसका अधिकारी था। कोई भी व्यक्ति जिसके मन में विद्या प्राप्ति की सच्ची भावना हो वही योग्य शिष्य बन सकता था। विद्या के विषय में सच्ची भावना की शर्त लगा देना लोगों को उसकी प्राप्ति से वंचित करना नहीं है। इसका आशय यही है कि लोग उसकी प्राप्ति के लिए सत्य- मार्ग का अवलम्बन करें। उपनिषदों के आचार्य किसीभी योग्य अधिकारी को सत्य से वंचित नहीं रखते थे। जब श्वेतकेतु के पिता ने उससे पूछा कि 'क्या तुम्हारे आचार्य ने तुम्हें उस सत्य की दीक्षा दी है, जिसके जान लेने पर सब कुछ ज्ञात हो जाता है ?' तो पुत्र ने निस्संकोच अपना अज्ञान स्वीकृत किया और अपने पिता से उस सत्य की दीक्षा देने की प्रार्थना की। साथ ही अपने गुरु के विषय में उसने कहा कि 'यदि मेरे आचार्य इसे जानते होते तो इसका कोई कारण नहीं कि वे मुझ जैसे योग्य तथा गुणवान् शिष्य को

---

३०. इदं वाव ज्येष्ठाय पुत्राय पिता ब्रह्म ब्रूयात् योग्यायान्तेवासिने। छा० ३-११-५
त्रैलोक्य राज्याच्चं गुरुतरा विद्या। छां० ८-७-२

न बतलाते' [31] प्रश्नोपनिषद् में जब छः मुनि विद्या-प्राप्ति के लिये पिप्पलाद ऋषि के पास पहुँचे तो उन्होंने उन्हें निस्संकोच यह वचन दिया कि 'यदि मैं जानता हूँ तो वह सत्य (तत्व) अवश्य तुम्हें बतलाऊँगा'। [32] जब अपने क्रम से सुकेशा ने पिप्पलाद से षोडश कलावान् पुरुष के विषय में प्रश्न किया जिसे एक बार कोशल के राजकुमार ने भी पिप्पलाद से पूछा था और वे उसका उत्तर न दे सके थे, तो उन्होंने नम्रतापूर्वक अपना अज्ञान स्वीकृत किया और कहा कि 'मैंने राजकुमार से कहा कि यदि मुझे यह विदित होता तो मैं तुम्हें क्यों नहीं बतलाता।' [33] इस पर भाष्य करते हुए श्री शंकराचार्य ने कहा है कि 'आचार्य को शिष्यों से असत्य भाषण कभी नहीं करना चाहिये तथा न्याय-पूर्वक पास आये हुए योग्य अधिकारियों को अवश्य विद्या प्रदान करनी चाहिये।' [34] विद्या की महत्ता विद्वानों को नम्र बना देती थी तथा तत्व-ज्ञानियों की आत्मा की श्रेयःशीलता उन्हें उदार बना देती थी। तत्व-ज्ञान के भाण्डार ऋषि अपने को सत्य के प्रचार का एक तुच्छ माध्यम मानते थे। वे नवीन साधकों पर कभी अपना अधिकार प्रदर्शित नहीं करते थे। आचार्य और अन्तेवासी का सम्बन्ध सत्य की खोज में एक सच्चे सहयोग का सम्बन्ध था। [35] आचार्य अपने अनुभव द्वारा उन साधकों को यथासम्भव सहायता देते थे किन्तु वे अपने ज्ञान को सत्य की सीमा कभी नहीं मानते थे। तैत्तिरीय उपनिषद् में सुरक्षित दीक्षान्त वचन आचार्यों की नम्रता का प्रमाण है—"जो निरवद्य कर्म है उनका तुम अनुशीलन करना, अन्य का नहीं। हमारे जो सुचरित हैं उन्हीं का तुम पालन करना, अन्य का नहीं। जो ब्राह्मण हम से श्रेष्ठतर हैं वे तुम्हारे आदर्श

---

३१. यद्यदि ह्यवेदिष्यन्विदितवन्त एतद्वस्तु कथं ते गुणवते भक्त्या नुगताय नावक्ष्यन्नोक्तवन्तः। । छां० भा० ६-१-७।

३२. यदि विज्ञास्यामः सर्वं ह वो वक्ष्याम इति। प्रश्न० भा० १-२।

३३. यद्यहमिममवेदिषं कथं ते नावक्ष्यमिति। प्रश्न० उप० ६-१।

३४. अतो न्यायत उपसन्नाय योग्याय जानता विद्या वक्तव्या अनृतं च न वक्तव्यं सर्वास्ववस्थासु। प्रश्न० भा० ६-१।

३५. सह नाववतु सह नौ भुनक्तु सह वीर्यं करवावहै। सहैवावां विद्याकृतं वीर्यं सामर्थ्यं करवावहै निष्पादयावहै मा विद्विषावहै।

क० भा० २-३-१९।

हैं।"[३६] जो आचार्य इतनी नम्रता और उदारता से श्रेष्ठतम विद्याप्रदान करते थे वे योग्य और अधिकारी साधकों को कभी भी उससे वंचित रख सकते थे अथवा उनके विचार-स्वातन्त्र्य तथा प्रयत्न-स्वातन्त्र्य को कुण्ठित कर सकते थे यह अकंल्पनीय है।

## ५—मनन

किन्तु एक तत्वज्ञानी गुरु से श्रुति-निहित ब्रह्मज्ञान की दीक्षा प्राप्त कर लेना पर्याप्त नहीं। साधक को ब्रह्मज्ञान की निष्ठा प्राप्त करने के लिये उस तत्व का निरन्तर मनन करना आवश्यक है। श्रुति और आचार्य साधक के सत्य पथ में सहायक मात्र है। वे उनके विचार-स्वतन्त्र्य तथा यत्न-स्वातन्त्र्य को तनिक भी आघात नहीं पहुँचाते। तर्क और चिन्तन के उचित अधिकार का वेदान्त में निषेध नहीं किया गया है। समस्त साधन समवेत रूप से कार्य करते हुए आत्मानुभव में पर्यवसित होते हैं। ब्रह्म-विज्ञान का पर्यवसान एक आध्यात्मिक अनुभव में होता है,[३७] तथा श्रवणादिक साधनों का तत्वदर्शन में पर्यवसान होता है।[३८] 'ज्ञान' की अपेक्षा इसे 'अनुभव' कहना अधिक उचित होगा। 'ज्ञान' शास्त्र तथा आचार्य से प्राप्त आत्मावबोध है, 'विज्ञान' उसका विशेष अनुभव है।[३९] श्रवण आध्यामिक साधना का अन्त नहीं, आरम्भ है। वेदविद् गुरु से श्रुति का शाब्दिक उपदेश ग्रहण कर लेना पर्याप्त नहीं है। जब तक निरन्तर मनन तथा निदिध्यासन द्वारा श्रुति का तात्पर्य आत्मगत न हो जाय तब तक यह नहीं कहा जा सकता कि श्रुति का वास्तविक बोध प्राप्त हो गया। श्रुति हमें केवल प्रकाश दे सकती है,

---

३६. यान्यनवद्यानि कर्माणि तानि सेवितव्यानि। नो इतराणि। यान्यस्माकं सुचरितानि तानि त्वयोपास्यानि नो इतराणि। ये के चास्मच्छ्रेयांसो ब्राह्मणाः तेषां त्वयासनेन प्रश्वसितव्यम्। तै० उ० १-११-२ ३, ते तत्र ब्राह्मणाः समदर्शिनः युक्ता अलूक्षाः धर्मकामास्युः यथा ते वर्तेरन् तथा तत्र वर्तेथा। तै० उ० १-११ ४

३७. अनुभवावसानं ब्रह्मविज्ञानं। ब्र० सू० भा० २-१-४

३८. दर्शनपर्यवसानानि हि श्रवणादीन्यावर्त्यमानानि ब्र० सू० भा० ४-१-१

३९. ज्ञानं च शास्त्रत आचार्यतः च आत्मादीनामवबोधः विज्ञानं विशेषतः तदनुभवः। गी० भा० ३-४१

दृष्टि प्रदान नहीं कर सकती। गुरु केवल हमारे आध्यात्मिक पथ का प्रदर्शन कर सकता है, किन्तु उस पथ पर गमन साधक को स्वयं करना होगा। हम श्रुति और आचार्य दोनों से सहयोग ले सकते हैं किन्तु मनन तथा निदिध्यासन द्वारा उस आगमाचार्य-प्राप्त सत्य को अपने आध्यात्मिक अनुभव में परिणत करना होगा। श्रुति, आचार्य, चिन्तन, निदिध्यासन समस्त समवेत साधनों का चरम परिणाम एक आत्मानुभव है। [४०] श्रुति निहित तत्व का मनन तथा विज्ञान द्वारा निश्चित दर्शन होता है। [४१] मनन द्वारा न्याय बुद्धि से सम्यक् अवधारण के बाद ही वेद वाक्यों का तात्पर्य अन्त में दृढ़ होता है। [४२] आगम और न्याय से निश्चित वेदार्थ असंदिग्ध होने के कारण अधिक श्रद्धेय होता है। [४३] अस्तु, आध्यात्मिक साधना का क्रम इस प्रकार है—पहले आगम तथा आचार्य से तत्व का उपदेश ग्रहण कर, पुनः तर्क पूर्वक उसका मनन करे, तब वह निदिध्यासन द्वारा अनुभव का स्वरूप ग्रहण करेगा। [४४] अतः साधक को चाहिये कि किसी वेदविद् आचार्य से श्रद्धापूर्वक श्रुति का अध्ययन करे, तर्क द्वारा विचार कर उसे निश्चित करे, तदन्तर निदिध्यासन द्वारा उसे अनुभव का स्वरूप दे। [४५]

### ६—वेदान्त में तर्क का स्थान—

अस्तु, हम देखते हैं कि तर्क को वेदान्त में समुचित स्थान दिया गया है। किन्तु तर्क हमारे मन की एक शक्ति है; उसे

---

४०. आगमाचार्यात्मानुभवप्रत्ययत्रयस्यैकविषयत्वेन संगत्यर्थम्।
केन० वा० भा० २ १

४१. मनन विज्ञानाभ्यां हि सम्भूतः शास्त्रार्थो निश्चितो दृष्टो भवेत्।
छां० भा० ७-१५-४

४२. परिनिष्ठित शास्त्रन्यायबुद्धिभिरेव ह्येषां वाक्यानां विषयविभाग शक्यते ऽवधारयितुम्। बृह० भा० ४-१५-५

४३. आगमोपपत्तिभ्यां हि निश्चितोर्थः श्रद्धेयो भवति अव्यभिचारात्
बृह० भा० ४-५-१

४४. पूर्वमाचार्यागमाभ्यां श्रुतेः पुनः तर्केणोपपत्त्याः मते विचारिते पश्चात् विज्ञाते। बृह० भा० ५-५-६

४५. समाहितः सन् यथोक्तमाचार्येण आगमर्थतो विचार्य तर्कतश्च निर्धार्य स्वानुभवं कृत्वा। के० प० भा० २-१

सत्य के स्वरूप का अन्तिम निर्णायक नहीं कहा जा सकता। वेदान्त एक आध्यात्मिक दर्शन ('spiritual philosophy') है, हीगल ( Hegel ) के बुद्धिवाद (Rationalism) की भाँति कोई बुद्धिवादी दर्शन नहीं है। किन्तु यह इस अर्थ में बुद्धि-संगत अवश्य है कि यह तत्वाधिगम के एक साधन के रूप में तर्क का निषेध नहीं करता तथा आत्मानुभव के साथ तर्क को समवेत मान कर उसे दर्शन के क्षेत्र में उचित स्थान देता है। आत्मा जो वेदान्त का चरम सत्य है अन्य ज्ञान-विषयों की भाँति कोई विषय नहीं है।[४६] प्रत्यक्ष विषयों की भाँति इसका कोई रूप नहीं है अतः यह प्रत्यक्ष ज्ञान का विषय नहीं है। लिङ्गादि के अभाव के कारण यह अनुमान का भी विषय नहीं है। अतः आगम मात्र एक इसके अधिगमन का साधन है।[४७] यद्यपि वेदान्त-नय में आगम को सदा बड़े सम्मान और श्रद्धा का स्थान दिया गया है फिर भी वेदान्त एक अन्ध-रूढ़िवादी दर्शन नहीं है। ब्रह्मज्ञान जो हमारी साधना का चरम लक्ष्य है एक आध्यात्मिक अनुभव है। अतः यह स्वाभाविक है कि श्रुति को जिसमें प्राचीन युगों के ऋषियों के आध्यात्मिक अनुभव निहित है ) प्रत्यक्ष की अपेक्षा (जो भौतिक है) तथा अनुमान की अपेक्षा (जो भेद मूलक है) अधिक महत्व दिया जाय। फिर भी यद्यपि आगम गुरुतम प्रमाण है, वह चरम प्रमाण नहीं। ब्रह्म-ज्ञान एक आध्यात्मिक अनुभव है अतः 'विज्ञात-अनुभव' ( Realized experience ) ही चरम प्रमाण हो सकता है। श्रीशंकराचार्य ने अपने ब्रह्मसूत्र भाष्य में इसे बिलकुल स्पष्ट कर दिया है—धर्म-जिज्ञासा की भाँति ब्रह्म-जिज्ञासा में भी केवल श्रुति आदि ही प्रमाण नहीं है, किन्तु श्रुति-अनुभवादि यथा संभव प्रमाण हैं,[४८] क्योंकि ब्रह्मज्ञान का, जिसका विषय एक यथार्थ वस्तु (ब्रह्म) है, अनुभव में ही पर्यवसान होता है।[४९] श्रुति स्वयं, जो यदि चरम नहीं तो श्रेष्ठतम प्रमाण

---

४६. सर्वकरणाविषयम् के० वा० भा० १-५

४७. रूपाद्यभावाद्धि नायमर्थः प्रत्यक्षगोचरः लिङ्गाद्यभावाच्च नानुमानादीनां, आगममात्रसमधिगम्यः एव त्वयों धर्मवत्। ब्र० सू० भा० २-१-६

४८. न धर्मजिज्ञासायामिव श्रुत्यादय एव प्रमाणं ब्रह्मजिज्ञासायां किन्तु श्रुत्यादयोऽनुभवादयश्च यथासम्भवमिह प्रमाणम् ब्र० सू० भा० १-१-२

४९. अनुभवावसानत्वाद् भूतवस्तुविषयत्वाच्च ब्रह्मज्ञानस्य।

ब्र० सू० भा० १-१-२

अवश्य है, तर्क को सहकारी के रूप में स्वीकार करती है।[५०] श्री शंकराचार्य ने भी कहा है कि तर्क का भी आदर करना चाहिये,[५१] तथा इस प्रश्न का कि अद्वैत-ज्ञान केवल श्रुति से ही प्राप्त हो सकता है अथवा तर्क द्वारा भी उन्होने यही उत्तर दिया है कि तर्क द्वारा भी अद्वैत-ज्ञान प्राप्त हो सकता है।[५२] तर्क अथवा बुद्धि सत् तथा असत् के विवेक तथा उनके याथात्म्य-निरूपण में प्रमाण है।[५३] श्रुति का तात्पर्य भी वे ही समझ सकते हैं जिनको शास्त्र में श्रद्धा है तथा जो न्याय में निष्ठ हैं।[५४] श्रुति से प्रतिपादित तथा तर्क द्वारा निश्चित तत्व अधिक श्रद्धेय होता है, क्योंकि उसमें सन्देह के लिये स्थान नहीं रह जाता।[५५] वेदान्त साधना के क्रम में तर्क (मनन) का द्वितीय स्थान है। पहले श्रद्धापूर्वक आचार्य से श्रुति का अध्ययन करना चाहिये, फिर तर्क द्वारा उसे विचार कर मन में निश्चित करना चाहिये, तदनन्तर निदिध्यासन द्वारा उसे आध्यात्मिक अनुभव में परिणत करने का प्रयास करना चाहिये।[५६]

श्री शंकराचार्य की रचनाओं में कई स्थलों पर तर्क की कठोर निन्दा के प्रसंग मिलते हैं। बृहदारण्यक-भाष्य में उन्होंने तार्किकों को पुच्छ-शृंग-हीन

---

५०. श्रुत्यैव सहायत्वेन तर्कस्याभ्युपेतत्वात्।

ब्र० सू० भा० १-१-२

५१. तर्कमप्यादर्तव्यम्। ब्र० सू० भा० २-१-४

५२. अद्वैतं किमागममात्रेण प्रतिपत्तव्यमाहोस्वित्तर्केणापीत्यत आह शक्यते तर्केणापि ज्ञातुम्।

मां० का० भा० ३-१

५३. बुद्धिर्हि नः प्रमाणं सदसतोर्याथात्म्यावगमे।

क० भा० २-३-१२

५४. परिनिष्ठित शास्त्रन्यायबुद्धिभिरेव ह्येष वाक्यानां विषयविभागः शक्यतेऽवधारयितुम्। बृह० भा० ४ ५-१५

५५. आगमोपपत्तिभ्यां हि निश्चितोऽर्थःश्रद्धेया भवति अव्यभिचारात्।

बृह० भा० ४-५-१

५६. समाहितः सन् यथोक्तमाचार्येण आगममर्थतो विचार्य तर्कतः निर्धार्य स्वानुभव कृत्वा। केन० प० भा० २-१

बैलों का पद दिया है। [५७] कठोपनिषद् भाष्य में उनका कथन है कि अनेक तार्किकों के कुतर्कों से विचलित अन्तःकरण तथा विकृत बुद्धि वाले लोगों के हृदय में प्रमाणोपपन्न तथा अनेक बार उपदिष्ट आत्मैकत्व भी स्थिर नहीं होता। [५८] किन्तु उन वचनों के प्रसंग में जिनमें उन्होंने तर्क के मूल्य और महत्व को स्पष्ट स्वीकार किया है, इसका अर्थ यही होगा कि जीवन बुद्धि से अधिक है और सत्य तर्क से अधिक है। अधिक तर्क से सत्य के प्रकाशन के स्थान पर भ्रान्ति होने की सम्भावना अधिक रहती है। अतितर्क का परिणाम अनवस्था और भ्रान्ति है। [५९] वह हमें सन्देह और अनिश्चय के पन्थ हीन मरुस्थल में छोड़ देता है। कला की दृष्टि से तर्क में आनन्द हो, किन्तु उसकी सूक्ष्मता की अति सत्य को अवगम्य बनाने की अपेक्षा तभ्रान्त बनाने में ही सहायक होती है। एक दार्शनिक क्रीड़ा की दृष्टि से हमारी मानसिक शक्तियों के व्यायाम के लिये तर्क का मूल्य भले ही हो, किन्तु सत्य के अवधारण में सहायक होने की दृष्टि से उसका इतना मूल्य नहीं। श्री शंकराचार्य-कृत तर्क-निन्दा इस अतितर्क की निन्दा है, बौद्धिक चिन्तन की निन्दा नहीं, तथा तार्किकों का तिरस्कार बाल की खाल निकालने वाले बुद्धिवादियों का तिरस्कार है, न्याय-प्रिय चिन्तकों का नहीं। तर्क की एक सीमा होनी चाहिये इसका अर्थ यह नहीं कि तर्क का कोई मूल्य नहीं। श्री शंकराचार्य का आशय यही है कि तर्क हमारे सम्पूर्ण अनुभव के साथ संगत तथा सामंजस्यपूर्ण हो। केवल तर्क हमें भ्रान्त तथा पथ-भ्रष्ट कर सकता है। कठोपनिषद् [६०] के प्रसिद्ध पाठ 'नैषातर्केण मतिरापनेया' के भाष्य में उन्होंने कहा है कि 'ब्रह्म ज्ञान केवल तर्क द्वारा प्राप्य नहीं है, क्योंकि तर्क हमारी बुद्धि की ऊहा मात्र है। कुतर्क की कहीं भी निष्ठा नहीं है, उसका न कहीं अन्त है, न कोई लक्ष्य'। [६१] इसका अभिप्राय इतना ही है कि तर्क के लिये

---

५७. अपुच्छ शृङ्गैस्तार्किकबलीवर्दैः। बृह० भा० २-१-२०.

५८. अनेकतार्किकबुद्धिविचालितान्तःकरणानां प्रमाणोपपन्नमप्यात्मैकत्व-विज्ञानमसकृदुच्यमानमप्यनृजुबुद्धीनां ब्राह्मणानां चेतांसि नाधीयत इति। कठ भा० २-२-६.

५९. तर्कस्त्वनवस्थितो भ्रान्तोऽपि भवति। केन वा० भा० १-३.

६०. नैषा तर्केण मातिरापनेया। कठ० उप० १-२ ६.

६१. अतर्क्यः स्वबुद्धयभ्यूहेन केवलेन तर्केण। न हि कुतर्कस्य निष्ठा क्वचित् विद्यते। कठ० भा० १-२-८.

तर्क का कोई उपयोग नहीं है। अध्यात्म-तत्वों के विषय में अतीत युगों के अनुभव से असंस्कृत तर्क पूर्ण विश्वसनीय नहीं। तर्क की अप्रतिष्ठा का प्रतिपादन करने वाले प्रसिद्ध सूत्र [६२] के भाष्य में उन्होंने कहा है कि 'आगम मात्र से अवगम्य अर्थ केवल तर्क द्वारा ज्ञेय नहीं है। अतः आगम (अर्थात् अनुभव) से अपरिपुष्ट तर्क पुरुष की उत्प्रेक्षा (कल्पना) मात्र होने के कारण आदरणीय नहीं। कल्पना निरंकुश है और उसका कहीं भी प्रतिष्ठान नहीं हैं। [६३] यदि केवल तर्क पर ही तत्व निर्णय छोड़ दिया जाय तो एक तर्क का उत्तर अधिक योग्य तार्किकों द्वारा युक्ततर तर्क से दिया जा सकता है, और इस तर्क-परम्परा का कहीं अन्त न होने के कारण तत्व-निर्णय कभी नहीं किया जा सकता। [६४] किन्तु जब तर्क हमारे सम्पूर्ण अनुभव के साथ तथा श्रुति के साथ (जिसमें अनुभव का सार संग्रहीत है) सामंजस्य-पूर्वक कार्य करता है तो वह हमारी सत्य-जिज्ञासा में बड़ा सहायक होता है। जैसा श्री शंकराचार्य ने कहा है श्रुति और तर्क समवेत रूप से प्रयुक्त होने पर हमारी सत्य-जिज्ञासा को बहुत सरल बना सकते हैं और सत्य को करतल गत बिल्वफल के समान सुग्राह्य तथा सुदृश्य बना सकते हैं। [६५] अस्तु, यद्यपि कला के रूप में तर्क के लिये तर्क तथा दार्शनिक क्रीड़ा के अर्थ में निरंकुश तर्कना का श्री शंकराचार्य की दृष्टि में अधिक मूल्य नहीं है, किन्तु हमारे सम्पूर्ण अनुभव तथा अतीत अनुभव से संगत तर्क का सत्य-साधना में बहुत मूल्य और महत्व है, तथा उसे उन्होंने उचित आदर का स्थान दिया है।

---

६२. तर्काऽप्रतिष्ठानात्। ब्रह्म० सू० २-१-११.

६३. तर्काऽप्रतिष्ठानात् इति च केवलस्य तर्कस्य विप्रलम्भकत्वं दर्शयति। ब्र० सू०भा० २-१-६। इतश्च नागमगम्येऽर्थे केवलेन तर्केण प्रत्यस्थातव्यम् यस्मान्निरागमाः पुरुषोत्प्रेक्षामात्रनिबन्धनास्तर्का अप्रतिष्ठिता भवन्ति उत्प्रेक्षायाः निरङ्कुशत्वात्। ब्र० सू० भा० २-१-११.

६४. तथाहि कैश्चिदभियुक्तैर्यत्नेनोत्प्रेक्षितास्तर्का अभियुक्ततरैरन्यैराभास्यमानाः दृश्यन्ते। ब्र० सू० भा० २-१-११.

यत्नेनानुमितोप्यर्थः कुशलैरनुमातृभिः अभियुक्ततरैरन्यैरन्यथैवोपपद्यते-
वाक्यपदीय

६५. आगमोपपत्ती ह्यात्मैकत्वप्रकाशनाय प्रवृत्ते: शक्नुतः करतलगतबिल्वमिव दर्शयितुम्। बृह० भा० ३-१-१.

### ७-निदिध्यासन—

किन्तु जैसा कहा जा चुका है वेदान्त बुद्धिवाद नहीं, अध्यात्मवाद है। यद्यपि तर्क का ज्ञान-साधन के रूप में दर्शन में आदरणीय स्थान है, फिर भी वह तत्व का अन्तिम निर्णायक नहीं। आचार्य से प्राप्त श्रुतिपाठ पर मनन करने से सत्य की बौद्धिक निष्ठा प्राप्त होती है। किन्तु इस बुद्धि-निष्ठ-ज्ञान को निरन्तर निदिध्यासन द्वारा आध्यात्मिक अनुभव का रूप देना होगा। श्रुति के वाक्यों का निरन्तर पारायण करने से उनका अर्थ मनोगत होता है। निरन्तर चिन्तन से शब्द प्रत्यय-रूप ग्रहण करते हैं तथा बुद्धिनिष्ठ होते हैं। निरन्तर ध्यान से वह बुद्धि-निष्ठ प्रत्यय आध्यात्मिक अनुभव का रूप धारण करता है। किन्तु यह आध्यात्मिक अनुभव आत्म-गत भाव है, मनोगत कर्म नहीं है। यह नित्य वर्तमान आत्मा के स्वरूप का अनुभव है। आत्मा अखिल अनुभव का आधार है, अतः इस आत्मानुभव का कोई आत्मेतर अन्य कर्त्ता नहीं हो सकता। आत्मानुभव आत्मा द्वारा ही प्राप्य है। अतः श्रवण-मननादि कोई भी साधन उसे उत्पन्न नहीं कर सकते। वे केवल समस्त नैतिक और आध्यात्मिक-प्रयासों के एक चरम अनुभव के रूप में पर्यवसान में सहायक होते हैं। उनका साध्य के साथ कार्य-कारण सम्बन्ध नहीं है, और न साध्य उन साधनों का परिणाम है। किन्तु वे साधन साध्य के बहिर्भूत नहीं है, जैसा मैकेन्जी का मत है। साधनों के नैतिक मूल्य का साध्य में नाश नहीं अन्तर्भाव हो जाता है।[६६] उनसे उत्पन्न नैतिक शक्ति अन्त में आत्मानुभव की ज्योति-शिखा के रूप में दीप्त हो उठती है। साधनों का असकृत् प्रयोग, जिसका वेदान्त में विधान किया गया है, दो अरणियों के पुनः-पुनः संघर्षण के समान है, जिससे उष्णता उत्पन्न होती है और जिसका पर्यवसान अग्निशिखा में होता है। उष्णता चाहे वह किसी भी परिमाण में हो, अग्नि-शिखा उत्पन्न नहीं कर सकती उसी प्रकार श्रवण ( अध्ययन ) तथा मनन ( चिन्तन ) भी चाहे कितना ही हो आत्मानुभव उत्पन्न नहीं कर सकता; किन्तु जिस प्रकार अत्यन्त तीव्र संघर्षण की उष्णता अग्नि-दीपन कर देती है उसी प्रकार साधन-प्रयोग की अत्यन्त तीव्रता से उत्पन्न आध्यात्मिक शक्ति का परिणाम आत्मानुभव में होता है। अग्नि उष्णता का परिणाम नहीं पर्यवसान है, उसी प्रकार आत्मानुभव साधना-जन्य जागरण का परिणाम नहीं

---

६६. कृत्स्नस्य कर्मफलस्य विद्याफलेऽन्तर्भावात्। बृह० भा० ४-४-२२

पर्यवसान है। जिस प्रकार उष्णता का अग्नि में अन्तर्भाव हो जाता है और वह दीप्ति की एक नई कोटि धारण कर लेती है, उसी प्रकार समस्त साधनों के नैतिक मूल्य का आत्मानुभव में अन्तर्भाव हो जाता है, जिसमें वह आध्यात्मिकता की एक नूतन कोटि धारण कर लेता है।

## ८-सिंहावलोकन

अस्तु आत्मानुभव आत्मा की नित्यता तथा स्वतः ज्ञेयता के कारण एक स्वत्व में संस्थित साध्य है। इस सदा-सिद्ध साध्य से किसी साधन का कारण सम्बन्ध नहीं है, किन्तु उसकी प्राप्ति में सभी साधन सहायक हैं।[६७] आत्मानुभव स्वयं आत्मा द्वारा ही प्राप्य है, अतः साधन अनावश्यक नहीं, किन्तु और भी अधिक आवश्यक है क्योंकि आध्यात्मिक साधना के कठिन पथ पर वे ही हमारे एक मात्र अवलम्ब हैं। कालावच्छिन्न साधनों के नित्य आत्मा के साथ सम्बन्ध की तात्विक कठिनाई के कारण साधनों की साक्षात् कारणता वेदान्त में स्वीकृत नहीं की गई है। किन्तु कालावच्छिन्न का मूल्य नित्य में विलीन नहीं हो जाता, क्योंकि नित्य कालिक का अन्तर्निहित सत्य है। उसके कालावच्छिन्न रूपों का नित्य से सम्बन्ध स्वीकार्य नहीं है,किन्तु उनके तात्विक मूल्य का,जो नित्य है, साध्य में अन्तर्भाव हो जाता है। इसी तात्विक कठिनाई के कारण श्रीशंकराचार्य ने कहा है कि उत्पन्न विद्या का साधनों से कोई सम्बन्ध नहीं है किन्तु इसकी उत्पत्ति के लिए सभी साधन अपेक्षित हैं। वे साधन धीरे-धीरे सत्य का आच्छादन करने वाले अज्ञानाऽऽवरण को दूर कर देते हैं तथा आत्मा को स्वानुभव के लिए जागरित करते हैं। जिस प्रकार उष्णता के अग्नि-शिखा में परिणत होने तक अरणियों का संघर्षण आवश्यक है उसी प्रकार साधनों के नैतिक मूल्य के आध्यात्मिक अनुभव में पर्यवसित होने तक उनका सचेष्ट अनुशीलन अपेक्षित है। अन्त में उन साधनों का परित्याग उनकी व्यर्थता सिद्ध नहीं करता, किन्तु वह यही प्रमाणित करता है कि साध्य की सिद्धि में उनका पर्यवसान हो जाने पर साधन रूप में उनके अधिक अनुशीलन की आवश्यकता नहीं। श्रवणादि समस्त साधनों की सार्थकता आत्मानुभव रूप में उनके पर्यवसान में है।[६८]

---

६७. उत्पन्ना हि विद्या फलसिद्धिं प्रति न किञ्चिदन्यदपेक्षते उत्पत्तिं प्रति त्वपेक्षते। ब्र० सू० भा० ३-४-२६।

६८. दर्शनपर्यवसानानि हि श्रवणादीन्यावर्त्यमानानि दृष्टार्थानि भवन्ति। ब्र० सू० भा० ४-१-१

श्रुति में ऋषियों के तत्वानुभव निहित हैं अतः वह ज्ञान का आदि साधन है। किन्तु शब्द सत्य नहीं सत्य के शरीर हैं। अतः श्रुतिवाक्यों का भाव और तात्पर्य ग्रहण करने के लिये किसी तत्वविद् आचार्य से श्रुति-दीक्षा लेना आवश्यक है। किन्तु न श्रुति और न आचार्य ही साधक के आत्मानुभव का स्थान ले सकते हैं। श्रुति के अध्ययन से प्राप्त सत्य को निरन्तर मनन द्वारा बुद्धि-निष्ठ करके, सतत ध्यान द्वारा सजीव आत्मानुभव के रूप में परिणत करना है। निदिध्यासन हमारी चेतना की एक केन्द्रीभूत अवस्था है जिसमें वह पूर्ण शान्त हो जाती है। उसी शान्ति में हम अपने अन्तर्निहित सत्य की झलक देख सकते हैं। चिन्तन के शीत-स्पर्श से भ्रन्तिनोंघा के विगलन तथा उसके परिणामभूत नैतिक संस्कार के मेघासार से वासना-वात्याओं के प्रशमन द्वारा अन्तराऽऽकाश के निर्मल हो जाने पर ही आत्मा का अमृत आलोक प्रकाशित होता है। सत्य की बौद्धिक निष्ठा तथा उसके आध्यात्मिक अनुभव के बीच एक सम्पूर्ण कोटि (one complete dimension ) का अन्तराल है, जिसकी नैतिक आचार द्वारा आत्मसंस्कार से ही पूर्ति हो सकती है। निदिध्यासन बौद्धिक निष्ठा को आध्यात्मिक अनुभव में परिणत करने का एक प्रकार (Mode) मात्र है साधन (means) नहीं। निदिध्यासन के लिये मन को एकाग्र करने की आवश्यकता है जो संयम के बिना सम्भव नहीं। श्रीकृष्ण के समक्ष अर्जुन का वचन आध्यात्मिक साधना की मूल कठिनाई का सुन्दर और स्पष्ट निदर्शन है: 'हे कृष्ण ! यह मन चंचल है और बलात् प्रमाद उत्पन्न करता है। उसका संयम वायु के निग्रह के समान दुष्कर प्रतीत होता है।'[७०] पूर्ण नैतिक सस्कार के बिना पूर्ण मनःशान्ति, जो निदिध्यासन के लिये आवश्यक है, संम्भव नहीं। 'जो दुष्ट आचरण से विरत नहीं हुआ है'[७१] वह सत्य को प्राप्त नहीं कर सकता। इसी प्रसंग में नैतिक साधना का वेदान्तगत महान् मूल्य विदित होता है। आत्म संस्कार की समस्त योग प्रक्रिया श्रीशंकराचार्य के द्वारा अव्यक्त रूप से तथा

---

७०. चंचलं हि मनः कृष्ण प्रमाथि बलवद् दृढम्।
तस्याहं निग्रहं मन्ये वायोरिव सुदुष्करम्। गीता० ६-३४

७१. नाविरतो दुश्चरितात् नाशान्तो नासमाहितः।
नाशान्तमानसो वापि प्रज्ञानेनैवमाप्नुयात्। क० १-२-२४।

परवर्ती आचार्यों द्वारा [७२] व्यक्त रूप से स्वीकृत पाई जाती है, तथा उसी के साथ यज्ञादि कर्म तथा नैतिक कर्म का भी मूल्य स्वीकार किया गया है।

## ९—वेदान्त में कर्म का स्थान और महत्व

वेदान्त नय में मोक्ष को परमार्थ माना गया है। मोक्ष आत्मानुभव है। आत्मा नित्य है। अतः मोक्ष किसी अविद्यमान वस्तु की उत्पत्ति नहीं वरन् एक सनातन सत्य का अनुभव है। यह चिरन्तन सत्य अज्ञान से आवृत है तथा ज्ञान द्वारा गम्य है। मोक्ष कर्म-साध्य नहीं है क्योंकि कर्म अविद्यमान का कारक है, किन्तु ज्ञान साध्य है क्योंकि ज्ञान यथाभूत अर्थ का ज्ञापक है। [७३] अकार्य होने के कारण मोक्ष कर्म-साध्य नहीं है। [७४] मोक्ष नित्य आत्मा का ज्ञान है। [७५] नित्य वस्तु किसी कर्म द्वारा अथवा ज्ञान द्वारा कार्य नहीं है। [७६] ज्ञान केवल सत्य का ज्ञापक है, कारक नहीं। कर्म का फल सब अनित्य होता है, क्योंकि कर्म आरभ्य है तथा आरभ्य अन्तवान् होने के कारण अनित्य है। [७७] समस्त कर्म तथा कर्मफल क्षयशील हैं। [७८] कर्म और कर्मफल की सत्यता सापेक्ष है। [७९] श्रेष्ठतम कर्म का फल-भोग अनित्य है। [८०] कर्म-भोग की अवधि कितनी ही दीर्घ

---

७२. योग का महत्त्व श्री शकराचार्य ने अपने भाष्यों में अनेक स्थलों पर स्वीकृत किया है। योगतारावली योग का ही कवित्व पूर्ण प्रतिपादन है। वेदान्तसार में योग को अधिक महत्त्व दिया गया है।

७३. ज्ञानस्य यथाभूतार्थ विषयत्वात्। बृह० भा० १-३-११।

७४. अकार्यत्वाच्च निःश्रेयसस्य कर्मसाधनत्वानुपपत्तिः
गी० भा० १८-६७।

७५. नित्यत्वान्मोक्षस्य नित्यो हि मोक्ष इष्यते। तै० भा० १-१७।

७६. न हि नित्यं वस्तु कर्मणा ज्ञानेन वा क्रियते। गी० भा० १८-६७।

७७. कर्मकार्यस्याप्यनित्यत्वं प्रसिद्धं लोके आरभ्यस्यानित्यत्वात्।
तै० भा० १-११।

७८. कृतस्य क्षय्यत्वात्। बृह० भा० १-४-१५।

७९. यदपरविद्याविषयं कर्मफललक्षणं सत्यं तदापेक्षिकम्।
मुं० भा० २-१-१।

८०. मनुष्यत्वादारम्य ब्रह्मान्तेषु देहवत्सु सुखतारतम्यमनुश्रूयते।
ब्र० सू० भा० १-१-४।

हो किन्तु वे चिर स्थायी नहीं है। विविध कर्म के फल स्वरूप जो लोक प्राप्त होते हैं वे संसरण-शील जीवों के अनित्य अधिष्ठान मात्र हैं, जिनमें जीव कर्म-फल-क्षय की अवधि तक निवास करता हैं। कर्म द्वारा प्राप्त अमृतत्व भी सापेक्ष है।[८१] यह प्रलय पर्यन्त एक दीर्घ-कालीन स्थिति है[८२] ब्रह्मलोक जो कर्म फल का उच्चत्तम फल है एक दीर्घकालीन आनन्द है, किन्तु चिर-स्थिति नहीं है।[८३] जब कृत कर्मों के पुण्य का फल क्षीण हो जाता है, तो जीव का इसी भूलोक में पुनरागमन होता है।[८४] अथवा उस ब्रह्मलोक की अवस्थिति का साधना में उपयोग कर वह मोक्षरूप वास्तविक अमृतत्व प्राप्त कर सकता है जिसकी मोक्ष संज्ञा है।[८५] किन्तु न ब्रह्मलोक की प्राप्ति नित्य है और न उसकी स्थिति। जो ब्रह्मलोक को प्राप्त करते हैं वे पुण्य क्षय होने पर भूलोक में लौट आते हैं तथा प्रलय काल में स्वयं ब्रह्म लोक की स्थिति का अन्त हो जाता है।

कर्म तथा कर्म-फल के विषय में उक्त सिद्धान्त ही इस धारणा का आधार है कि श्री शंकराचार्य कर्म को नितान्त निरुपादेय मानते हैं। उनकी दृष्टि में मोक्ष प्राप्ति में कर्म का कुछ भी सहयोग नहीं है। यह सत्य है कि मोक्ष-विषय में श्री शंकराचार्य कर्म की चरम कारणता नहीं मानते। किन्तु यह चरम-कारणता वेदान्त में किसी भी साधन को प्राप्त नहीं। मोक्ष अथवा आत्मानुभव किसी साधन द्वारा साध्य नहीं। आत्मानुभव स्वयं आत्मा द्वारा ही प्राप्य है। मोक्ष किन्हीं बाह्य साधनों द्वारा साध्य नहीं है, किन्तु आत्मानुभव के अनुकूल मनःस्थिति की सृष्टिकर सभी साधन उसके चरम पर्यवसान में सहायक हो सकते हैं।

---

८१. आदित्यद्वारेणामृतत्वमापेक्षिकम्। मां० का० २-३-१६।

८२. आभूतसम्प्लवस्थानममृतत्वमिहोच्यते। विष्णुपुराण २-८-१७।

८३. ब्रह्मणा सह कालान्तरेण भुक्त्वा भोगाननुपमान् ब्रह्मलोकगतान्।
क०० भा० २ ३-१६।

८४. किञ्चित्कालं स्वर्गे स्थित्वा पुनरेवापि यान्ति भूयोऽपि गच्छन्ति।
मुं० भा० १-२-७

८५. ब्रह्मणा वा सह कालान्तरेण भुक्त्वा भोगान् ब्रह्मलोकगतान्।
क० भा० २-३-१६।

कर्म और ज्ञान का विरोध श्री शंकराचार्य में बहुत स्पष्ट है तथा उनके आलोचकों ने इस विरोध पर बड़ा ज़ोर दिया है। किन्तु उसका तात्पर्य समझने में बड़ी भ्रान्ति हुई है। मोक्ष एक सनातन सत्य का अनुभव है; कर्म एक कालावच्छिन्न प्रक्रिया है। कर्म-द्वारा मोक्ष प्राप्त करने की कठिनाई काल क्रम की नित्यता से सामंजस्य स्थापित करने की कठिनाई है। नित्यता काल का अनन्त विस्तार नहीं है, किन्तु एक कालातीत तत्व है। एक कालावच्छिन्न परम्परा का अन्तहीन विस्तार कालातीत सत्य का स्थान नहीं ले सकता। मोक्ष का किसी कालावच्छिन्न कर्म से न आनन्तर्य सम्बन्ध है और न मोक्ष किसी कालावच्छिन्न कर्म का परिणाम है। किसी कालगत कर्म से न उसका आनन्तर्य सम्बन्ध है और न कारण सम्बन्ध। पुनः यह एक अनन्त सत्य का अनुभव है। परिच्छिन्न कर्मों द्वारा वह साध्य नहीं। अनन्त किसी अन्तहीन परिच्छिन्न परम्परा का न संकलन (summation)है न पर्यवसान (consumation)। मोक्ष और कर्म के स्वरूप के इस तात्विक अन्तर के कारण श्री शंकराचार्य ने कर्म-ज्ञान के विरोध को इतना महत्व दिया है। उन्होंने कर्म-ज्ञान को अन्धकार और प्रकाश के समान विरुद्ध कहा है,[८६] तथा उस विरोध को पर्वत के समान अविचल माना है।[८७] इस मूल भेद के कारण वे दोनों समान व्यक्ति में समान काल में वर्तमान नहीं रह सकते (यदि हम सनातन के कालावच्छेद की चर्चा कर सकते हैं)। नित्य कालावच्छिन्न का भी अन्तर्निहित सत्य है तथा समस्त कालावच्छेद नित्य के अन्तर्गत है। सम्बन्ध में भेद और द्वित्व की भावना अभिप्रेत है। दो सम्बन्धित पदार्थ एक दूसरे से भिन्न और बहिर्भूत होते हैं। किन्तु काल नित्य के बहिर्भूत नहीं। अतः मितों की एक कालावच्छिन्न परम्परा के साथ एक नित्य सत्ता के आनन्तर्य अथवा परिणाम सम्बन्ध की कल्पना अन्याय्य है। श्री शंकराचार्य ने कर्म की यथार्थता तथा मूल्यवत्ता का निषेध नहीं किया है। किन्तु वे कालावच्छिन्न कर्म तथा कालातीत मोक्ष दोनों की युगपत् स्थिति की असम्भावना के विषय में पूर्ण स्पष्ट तथा दृढ़ है। कर्म और ज्ञान के भेद की उन्होंने तीन पक्षों में मीमांसा की है—हेतु, फल और स्वरूप।[८८]

---

८६. मुं० भा० १-१-१ भूमिका

८७. ज्ञानकर्मणोः विरोधं पर्वतवदकम्पम् ईश० भा० २

८८. हेतुस्वरूपफलविरोधात्। ईश० भा० १८

कर्म का कारण अविद्या है जिसका मूल फलाकांक्षा है। कर्म का स्वरूप कालावच्छिन्न प्रक्रिया है तथा कर्म का फल आत्मा का संसार-बन्धन है। ज्ञान का कारण विद्या है, उसका स्वरूप अखण्डानुभव है तथा फल मोक्ष है। ये दो विरोधी वस्तुयें, कर्म और ज्ञान, जिनके हेतुफल-स्वरूप में इतना भेद है, समान व्यक्ति में समान काल में सम्भव नहीं है।[८९] कर्म और ज्ञान के लक्षण कर्तृत्व और अकर्तृत्व, भेद और एकत्व की बुद्धियाँ समान पुरुष में असम्भव है।[९०] मुमुक्षुत्व और फलार्थित्व की भावनायें भी एक साथ एक व्यक्ति में सम्भव नहीं।[९१]

इस तात्विक प्रसंग में विचार करने पर यह कर्म-ज्ञान की समस्या दर्शन की एक मूल समस्या है। इस समस्या का श्रीशंकर-कृत समाधान बहुत अन्याय्य प्रतीत नहीं होता। एक स्पष्ट तात्विक कठिनाई को किसी भ्रान्ति से आवृत न करके श्रीशंकराचार्य ने कर्म का व्यावहारिक मूल्य स्वीकार किया है। वे कर्म को नितान्त निरुपादेय नहीं मानते। उनका यह निश्चित मत है कि मोक्ष नित्य है और किसी कालावच्छिन्न साधन द्वारा साध्य नहीं। सत्य अनुभव-गम्य है, कर्म-साध्य नहीं। फिर भी उन्होंने याज्ञिक तथा नैतिक कर्मों का मोक्ष-साधना में महत्वपूर्ण स्थान स्वीकार किया है। आत्मा आत्मा द्वारा ही साध्य है तथा कोई बाह्य साधन उसके वास्तविक अनुभव में साक्षात् कारक नहीं हो सकते। इसका अभिप्राय यह नहीं है कि हम निश्चेष्ट बैठे रहें और सत्य अनायास ही आकाश से हमारे हाथ पर गिरेगा, और न इसका यह अभिप्राय है कि वास्तविक आत्मानुभव में साक्षात् कारण न होने के कारण समस्त साधन व्यर्थ है। नित्य के साथ कालावच्छिन्न के सामंजस्य की कठिनाई के कारण मोक्ष के प्रति साधनों की साक्षात् कारणता स्वीकार नहीं की जा सकती। किन्तु वैदिक तथा नैतिक कर्मों को श्री शंकराचार्य ने उतना महत्व दिया है जितना न्याय-दृष्टि से उन्हें दिया जा सकता है। यह सत्य है कि उत्पन्न हुई विद्या फलसिद्धि के लिये अन्य किसी साधन की अपेक्षा नहीं करती, किन्तु उत्पत्ति के लिये तो उसे साधनों की अपेक्षा रहती

८९. सहसम्भवानुपपत्तेः। ईश० भा० १८।

९०. ज्ञान कर्मणोः कर्तृत्वाऽकर्तृत्वानेकबुद्धयाश्रययोः एकपुरुषाऽसम्भवम्। गीता भा० २-११

९१. न हि एकस्य मुमुक्षुत्वं फलार्थित्वं च युगपत्सम्भवति। गी० भा० ४-११

है।[९२] समस्त कर्मों की उपेक्षा करके ज्ञान सम्भव नहीं है; समस्त शास्त्र-विहित आश्रम-कर्म विद्योत्पत्ति में सहायक है, अतः अपेक्षित हैं।[९३] कर्म के मूल्य को स्वीकार करने के लिये श्री शंकराचार्य इस सीमा तक चले गये हैं कि अग्निहोत्रादिक विद्या विहीन कर्म भी उनकी दृष्टि में नितान्त उपेक्षणीय नहीं है।[९४] सत्य साधना में उनका भी भाग और सहयोग है चाहे वह कितना ही तुच्छ क्यों न हो, यद्यपि विद्यायुक्त कर्मों का महत्व विद्याविहीन कर्मों से अधिक है।[९५] वस्तुतः फलाकांक्षा से सम्पादित याज्ञिक कर्म ही एक ऐसे कर्म है जिनका ब्रह्म-साधना में कोई उपयोग नहीं है।[९६] अन्य सभी कर्म आत्मानुभव में उपकारक होते हैं, चाहे अरात् रूप से ही सही।[९७] आत्मानुभव एक अपरोक्ष ज्ञान है उसमें किसी की मध्यस्थता के लिए स्थान नहीं है। सत्वशुद्धि कर्मों का साक्षात् फल है। सत्व शुद्धि द्वारा कर्म मोक्ष का उपकारक है।[९८] विविध आश्रमोचित कर्म भी, यद्यपि उनका साक्षात् फल देव लोकादि की प्राप्ति ही है, यदि निष्काम भाव से किये जायें तो सत्वशुद्धि के कारण होते हैं तथा सत्वशुद्धि द्वारा ज्ञान की योग्यता उत्पन्न करके आत्मानुभव और

---

९२. उत्पन्नाहि विद्या फलसिद्धि प्रति न किञ्चदन्यदपेक्षते उत्पत्तिं प्रति त्वपेक्षते। ब्र० सू०भा० ३-४.२६

९३. अपेक्षते विद्या सर्वाण्याश्रमकर्माणि नात्यन्तमनपेक्षैव। ब्र० सू० भा० ३-४-६

९४. तथापि नात्यन्तमनपेक्षं विद्याविहीनं कर्माग्निहोत्रादिकम्। ब्र० सू० भा० ४-१-१८।

९५. विद्यासंयुक्तकर्माग्निहोत्रादिकं विद्याविहीनात् कर्मणोऽग्निहोत्राद्विशिष्टम्। ब्र० सू० भा० ४-१-१८

९६. एवं काम्यकर्मवर्जितं नित्यं कर्मजातं सर्वं आत्मज्ञानोत्पत्तिद्वारेण मोक्षसाधनत्वं प्रतिपद्यते। बृह० भा० ४-४-२२

९७. आरादुपकारकत्वात्कर्मणः। ब्र० सू० भा० ४-१-१६।

९८. ज्ञानस्यैवप्रापकं सत्कर्मप्रणाड्या मोक्षकारकमित्युपचर्यते। तस्यापि निरभिसन्धिनः कार्यान्तराभावात् विद्यासंगत्युपपत्तिः। ब्र० सू० भा० ४-१-१६

निःश्रेयस में उपकारक होते हैं।[९९] यद्यपि आत्मानुभव आत्मा द्वारा ही प्राप्य है, फिर भी शास्त्र, आचार्य, शमदमादि से संस्कृत मन आत्म दर्शन में करण है।[१००] फलाकांक्षा ही मनुष्य की भावना को विकृत करती है। फलाकांक्षा के त्याग-पूर्वक कर्म करने से सत्व शुद्धि होती है, तथा सत्व शुद्धि द्वारा शान्ति प्राप्त कर साधक आत्म दर्शन के योग्य होता है।[१०१] निष्काम भाव से अनुष्ठित नैतिक कर्म सत्व संस्कार के कारण होते हैं; सत्व संस्कार से समदृष्टि प्राप्त होती है, जो ब्रह्मानुभव के लिये आवश्यक है।[१०२] ब्रह्म-विज्ञान के पूर्व समस्त श्रौत-स्मार्त-कर्म करने चाहिये। इस अनुशासन श्रुति का अभिप्राय पुरुष का संस्कार है। संस्कार-शुद्ध पुरुष को आत्म-ज्ञान सरलता से प्राप्त होता है। अतः विद्या की उत्पत्ति के लिये कर्मों का अनुष्ठान करना चाहिये।[१०३] शुद्धान्तःकरण वाले ही ईश्वर का दर्शन कर सकते हैं तथा शुद्धसत्व वाले ही आत्मानुभव प्राप्त कर सकते हैं।

यह ठीक है कि श्री शंकराचार्य ने इस मत का प्रतिपादन किया है कि कर्म-फल-बन्धन से मुक्ति प्राप्त होने पर ही मोक्ष होता है। किन्तु कर्म मुक्ति

---

९९. अभ्युदयार्थः अपि यः प्रवृत्ति लक्षणो धर्मो वर्णाश्रमांश्चोद्दिश्य विहितः स देवादिस्थानप्राप्तिहेतुरपिसन् ईश्वरार्पण बुद्धयानुष्ठायमानः सत्वशुद्धयें भवति फलाभिसन्धिवर्जितः शुद्ध सत्वस्य च ज्ञाननिष्ठा योग्यताप्राप्तिद्वारेणज्ञानोत्पत्तिहेतुत्वेन च निःश्रेयसहेतुत्वमपि प्रतिपद्यते। गीता० भा० भूमिका।

१००. शास्त्राचार्योपदेशशमदमादिसंस्कृतं मन आत्मदर्शने करणम्।
गी० भा० २-११

१०१. यस्तु अधिकृतः संगं त्यक्त्वा फलाभिसन्धिं च नित्यं कर्म करोति तस्य रागादिना अकलुषी क्रियमाणमन्तः करणं नित्यैश्च कर्मभिः संस्क्रियमाणं विशुद्धयति विशुद्धञ्च आत्मालोचनक्षमं भवति। गी० भा० १८-६०

१०२. संस्कृतश्च आत्मयाजी तैः कर्मभिः समंद्रष्टुं समर्थो भवति।
बृ० भा० ३-३-१

१०३. प्राग्ब्रह्मविज्ञानान्नियमेन कर्त्तव्यानि श्रौतस्मार्त्तकर्माणि अनुशासन श्रुतेः पुरुषसंस्कारार्थत्वात्। संस्कृतस्य विशुद्धसत्वस्यऽऽत्मज्ञानमजसैवोत्पद्यते अतो विद्योत्पत्यर्थमनुष्ठेयानि कर्माणि। तै० भा० १-११-१

से उनका तात्पर्य निष्क्रियता अथवा जड़ता नहीं। कर्म से अभिप्राय देहादि चेष्टा से नहीं, और देहेन्द्रियादि की चेष्टा का निरोध तथा निष्क्रियता अकर्म नहीं।[१०४] शारीरिक चेष्टा के निरोध द्वारा कर्म-मुक्ति प्राप्त नहीं की जा सकती क्योंकि यह असम्भव है; निष्काम भावना से कर्म करने से ही नैष्कर्म्य-सिद्धि सम्भव है।[१०५] जैसा कि प्रो० हिरियन्ना का मार्मिक वचन है 'नैष्कर्म्य कर्म 'का' त्याग नहीं वरन् कर्म 'में' त्याग है।' [१०६] देहादि चेष्टा हमारी मानुषिक और पाशविक प्रकृति की स्वाभाविक प्रवृत्ति है। कर्म-दर्शन का बाह्य करण(external conduct) से उतना प्रयोजन नहीं जितना उस भावना(Inner spirit) से है जिससे कर्म करना चाहिये। फलाकांक्षा, जो अहंकार-मूलक कर्तृत्व-भावना में प्रतिफलित होती है, कर्म बन्धन का कारण है। अतः अकर्ता-रूप से आत्मा का ज्ञान कर्म से अर्थात् कर्म बन्धन से मुक्ति है। [१०७] फलाकांक्षा तथा कर्तृत्व भावना से अनुष्ठित होने पर ही कर्म बन्धन का कारण होता है तथा जन्म-मरण रूप संसार में प्रतिफलित होता है। [१०८] निष्काम-भावना से अनुष्ठित कर्म संस्कार के लिये उपयोगी होते हैं।[१०९] इस प्रकार निष्काम भावना से अनुष्ठित कर्म दर्पण-निर्मार्जन के समान सत्व-संस्कार द्वारा आत्म-ज्ञान के प्रतिबन्ध का निराकरण करते हैं। [११०] वैदिक कर्म तथा ईश्वरोपासना निष्काम तथा निस्वार्थ भावना से अनुष्ठित होने पर मुमुक्षु की सत्व-शुद्धि के कारण होते हैं।[१११] केवल काम्य कर्मों को छोड़कर शेष समस्त कर्म काण्ड

---

१०४. नैतत्वया मन्तव्यं कर्म नाम देहादिचेष्टा लोकप्रसिद्धमकर्म तदक्रिया तूष्णीमासनम्। गी० भा० ४-१७।

१०५. कर्मारम्भस्यैव नैष्कर्म्योपायत्वात्। गी० भा ३-४।

१०६. Outline of Indian Philosophy p. 121.

१०७. गीताभाष्य २-१०, ४-१८।

१०८. यदा कर्मफलतृष्णाप्रयुक्तः कर्मणि प्रवर्त्तते तदा कर्म फलस्यैव जन्मनो हेतुर्भवेत्। गीता० भा० २-८७।

१०९. निष्कामस्य संस्कारार्थत्वात्। के० वा० भा० १-१

११०. निष्कामस्य तु आत्मज्ञान प्रतिबन्धनिर्माष्टयै भवति आदर्श निर्मार्जनवत्। के० वा-भा० १-१

१११. सर्वमेतद् यथोक्तं कर्म च ज्ञानं च सम्यगनुष्ठितं निष्कामस्य मुमुक्षोः सत्वशुद्धयर्थं भवति। केन० प० भा० १-१

सत्व-शुद्धि द्वारा ब्रह्मज्ञान में उपकारक है।[११२] अस्तु, एक काम्य कर्म को छोड़कर समस्त कर्म आत्मज्ञानोत्पत्ति द्वारा मोक्ष साधनत्व प्राप्त कर लेते हैं।[११३] नित्य कर्मों की मोक्ष-साधनता का मोक्ष की ज्ञानैकसाध्यता से विरोध नहीं है। समस्त कर्म निष्काम भावना से अनुष्ठित होने पर सत्व संस्कार द्वारा आत्मज्ञान में सहायक तथा मोक्ष के आराद्धुपकारक हैं।[११४] मोक्ष निश्चेष्टता तथा निष्क्रियता से प्राप्त नहीं होता, किन्तु निष्काम कर्म द्वारा संस्कृत आत्माओं द्वारा ही वह साध्य है।[११५] अस्तु, हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि कर्म स्वतः तथा स्वतन्त्र रूप से मोक्ष के कारण नहीं है, किन्तु सत्वशुद्धि द्वारा आत्मज्ञानोत्पत्ति में सहायक होकर निःश्रेयस प्राप्ति में भी सहायक होते हैं। निष्काम कर्म द्वारा उत्पन्न होने पर आत्मज्ञान स्वतन्त्र और साक्षात् रूप से मोक्ष का कारण है।[११६] किन्तु मोक्ष में कर्म की साक्षात् कारणता का निषेध कर्म के मूल्य और महत्व का निषेध नहीं है। निस्सन्देह आत्मानुभव स्वयं आत्मा द्वारा ही प्राप्त हो सकता है। आत्मानुभव एक अखण्ड और अकाल ज्ञान ( Integral and timeless experience ) है, अतः कालावच्छिन्न कर्म की उसमें कारणता मान्य नहीं हो सकती। किन्तु मोक्ष का एक मात्र साधन सत्वशुद्धि द्वारा उस आध्यात्मिक स्तर की प्राप्ति है जिस पर पहुँच कर आत्मानुभव सम्भव हो सके। सत्व शुद्धि निष्काम कर्म द्वारा ही हो सकती है। अतः मोक्ष के लिये नैतिक कर्म अनिवार्य है। इस अनिवार्यता में ही

---

११२. ब्रह्मविद्यायां एवंफलायां काम्यैकदेशवर्जितं कृत्स्नं कर्मकाण्डं तादर्थ्येन विनियुज्यते। बृह० भा० ४-४-२२।

११३. एवं काम्यवर्जितं नित्यं कर्मजातं सर्वमात्मज्ञानोत्पत्तिद्वारेण मोक्ष-साधनत्वं प्रतिपद्यते। बृह० भा० ४-४-२२।

११४. येषां पुनः नित्यानि निरभिसन्धिनि आत्मसंस्कारार्थानि येषां ज्ञानोत्पत्त्यर्थानि तानि तेषामाराद्धुपकारकत्वान्मोक्ष साधनान्यपि कर्माणि भवन्ति इति न विरुध्येत। बृह० भा० ३-३-१।

११५. कर्मणां विशुद्धिहेतुत्वात्कर्मभिः संस्कृताः हि विशुद्धात्मानः शक्नुवन्ति आत्मानमुपनिषत्प्रकाशितमप्रतिबन्धेन वेदितुम् बृह० भा० ४-४-१२

११६. कर्मनिष्ठायाः ज्ञाननिष्ठायाः प्राप्तिहेतुत्वेन पुरुषार्थहेतुत्वं न स्वातन्त्र्येण ज्ञाननिष्ठा तु कर्मनिष्ठोपायलब्धात्मिका सती स्वातन्त्र्येण पुरुषार्थहेतु अन्यानपेक्षा। गी० भा० ३-४

ऊपर निर्दिष्ट तात्विक कठिनाई के अतिरिक्त भी नैतिक कर्म अपना उच्चतम मूल्य और महत्व प्राप्त कर लेते हैं।

## १०—वेदान्त में संन्यास का स्थान

अस्तु कर्म में त्याग की भावना वेदान्त साधना का एक आवश्यक अंग मानी गई है। किन्तु भ्रान्तिवश कर्म **'में'** त्याग की भावना को कर्म **'का'** त्याग समझकर वेदान्त को संन्यास-दर्शन कहा गया है। जगत् में जो कुछ श्रेय है तथा जीवन में जो कुछ मूल्यवान् है उस सब का त्याग वेदान्त के आदर्श को प्राप्त करने के लिये आवश्यक है। समस्त मानवीय बन्धन—स्त्री तथा गृह, पुत्र तथा वित्त—तोड़ कर ही कोई अध्यात्म-पथ पर चरण रख सकता है। वेदान्त के विषय में इस कथन में कुछ सत्य भी हो सकता है, किन्तु बहुत कुछ आलोचना अत्युक्ति तथा आचार्यों के आशय की विकृति पर निर्भर है। संन्यास सभी प्राचीन दर्शनों में एक आवश्यक अंग माना गया था। डॉ० डायसन ( Deussen ) संन्यास को समस्त दर्शनों के लिये आवश्यक मानते हैं। उनके इस आग्रह में कुछ सत्य भी है। भौतिक पदार्थों और आत्मा में कोई विरोध न हो, किन्तु हमारा सामान्य दृष्टिकोण जो भौतिक मूल्यों की प्रधानता पर निर्भर है आध्यात्मिक साधना के लिये अनुकूल नहीं। मोक्ष की चरमावस्था में जब हम समस्त सत्ता की एकता का अनुभव कर लेते हैं तथा हमारी भौतिक प्रवृत्तियों का आध्यात्मिकीकरण ( spiritualization of instincts ) हो जाता है, तब हम भौतिक-जीवन तथा आध्यात्मिक जीवन में पूर्ण सामंजस्य प्राप्त कर सकते हैं। किन्तु आरम्भ में जब भौतिक मूल्य-प्रधान प्रतीत होते हैं मूल्यों का प्रतिवर्तन ( reversal of values ) साधना की दृष्टि से आवश्यक है। साधना की दृष्टि से संन्यास का मूल्य बहुत है। आत्म-दर्शन की योग्यता के लिये सत्व-संस्कार आवश्यक है। आत्मा के गूढ़ रहस्यों की जिज्ञासा जागरित करने के लिये भौतिक मूल्यों तथा शारीरिक भोगों का त्याग आवश्यक है। सत्य का पथ कठिन है। जीवन और जगत् के भार को लेकर इस पर चलना इसे और भी कठिन बनाना है। जगत् का भार केवल असुविधा का कारण ही नहीं वरन् हमारी आध्यात्मिक यात्रा में बाधक होगा, हमारी आध्यात्मिक शक्ति का अनावश्यक क्षय करेगा तथा आध्यात्मिक लक्ष्य तक पहुँचने की एक सुन्दर सम्भावना को असम्भाव्य प्राय बना देगा। इन्द्रिय-भोगों की आसक्ति

तथा भौतिक मूल्यों का मोह हमें सदा अविद्या के अन्धकार में रक्खेगा और सदा हमारे सत्य-दर्शन में बाधा उत्पन्न करेगा। हम अपने अध्यात्म-पथ पर सुगमता पूर्वक बढ़ सकें इसके लिये हमें एक बार अपने को जगत् और लौकिक वस्तुओं के भार से मुक्त करना होगा। एक बार सत्य दर्शन के लिये मेघ और धूल से मुक्त दृष्टि आवश्यक है।

किन्तु साधना के लिये जगत् और उसके भौतिक मूल्यों का परित्याग उनके महत्व का चरम निषेध नहीं है। इस त्याग का उद्देश्य आध्यात्मिक मूल्यों की सिद्धि तथा उनके आधार पर अन्त में भौतिक मूल्यों को नवीन तथा महत्तर मूल्य प्रदान करना है। यह त्याग आमरण अनशन की भाँति नहीं है, जिसका आध्यात्मिक महत्व जो कुछ भी हो, किन्तु उसका प्रत्यक्ष परिणाम शरीर का अवसान है। यह त्याग उपवास की भाँति है, जो बाह्य दृष्टि से भोजन का त्याग तथा कष्ट है, किन्तु उसका वास्तविक उद्देश्य श्रेष्ठतर स्वास्थ्य की प्राप्ति है। वेदान्त में साधना की दृष्टि से संन्यास का महत्व है, संन्यास उसका अन्तिम सिद्धान्त नहीं। ग्रीस के डायोजिनीज़ ( Diogenes ) की भाँति एक दो रैक्व यहाँ भी हैं, किन्तु रैक्व का सवित्त स्त्री-परिग्रहण ग्रीक दार्शनिक से, जिसने सम्राट् अलक्षेन्द्र से कुछ भी स्वीकार नहीं किया, भारतीय संन्यासी के भेद को स्पष्ट कर देता है। वेदान्तिक संन्यास एक आध्यात्मिक साधना है, दार्शनिक सिद्धान्त नहीं। यह सामान्य जीवन तथा उसके मूल्यों का निषेध नहीं है वरन् केवल आत्म-संस्कार के लिये उन्हें नवीन मूल्य देने के लिये उनका त्याग है। जीवन तथा उसके मूल्यों के प्रति उपनिषदों का दृष्टिकोण लोक सामान्य तथा माननीय है। वेदान्त के बहिर्भूत योग सम्प्रदायों ने संन्यास को शारीरिक निर्यातन की सीमा तक पहुँचा दिया था। उनके लिये संन्यास साधन मात्र नहीं, वरन् एक चरम सिद्धान्त और साध्य है। मुण्डकोपनिषद् को छोड़ कर जो निश्चित रूप किसी मुण्डित संन्यासियों के सम्प्रदाय का पाठ है कोई भी उपनिषद् संन्यास को चरम सिद्धान्त के रूप में प्रतिपादित नहीं करती। उपनिषदों के आचार्य साधारण मनुष्य के सभी गुणों और भावनाओं से सम्पन्न मानव थे। जिन मूल्यों की हम उपासना करते हैं उनका उनमें अभाव नहीं था। जीवन के प्रति उनके दृष्टिकोण की भाँति ही उनका एक सरल और भावना-मय परिवार था। श्रेष्ठ तम भावनायें उनके उस वन्य आश्रम में पाई जा सकती थीं जिसमें वे उच्चतम अध्यात्म-ज्ञान साधकों को वितरित करते थे।

तैत्तिरीय उपनिषद् में सुरक्षित उनका दीक्षान्त भाषण हमें उनकी सरलता, नम्रता तथा मानवीयता तथा सत्य के साथ साथ जीवन के मूल्यों के प्रति उनके आदर का परिचय देता है। शिष्यों को उनका अन्तिम उपदेश यही था "सत्य बोलो, धर्म का आचरण करो, स्वाध्याय में प्रमाद न करो, प्रजा-वृद्धि करो, तथा समृद्धि का ध्यान रक्खो।"[११७] ये शिष्यों के प्रति उनके अन्तिम शब्द थे। इनमें जीवन के मूल्यों की उपेक्षा का तनिक भी आभास नहीं है। जीवन के शारीरिक भोग तथा भौतिक मूल्यों के त्याग से वेदान्त साधना का आरम्भ होता है, तथा उन मूल्यों के आध्यात्मिकीकरण से उसका अन्त होता है।

उपनिषदों के बाद संन्यास का सत्य के एक चरम सिद्धान्त के रूप में विकास हुआ और उसका एक पृथक् सम्प्रदाय बन गया। किन्तु वेदान्त में संन्यास का स्थान साधना के एक अंग से अधिक कभी नहीं था। यह ठीक है कि स्वयं श्री शंकराचार्य भारतवर्ष में सन्यासियों की सबसे बड़ी संस्था के स्थापक थे। वे स्वयं संन्यासी थे तथा उनका सम्प्रदाय आश्रम-धर्म के बड़े सूक्ष्म और गम्भीर विधानों पर आश्रित है। किन्तु उस सम्प्रदाय का उद्देश्य सत्य का प्रचार करना था, जगत् की व्यवस्था के लिये एक आदर्श उपस्थित करना नहीं। उस सम्प्रदाय के मठ आध्यात्मिक शिक्षालयों की भाँति हैं, और विलीयमान वन्य आश्रमों के स्थान की पूर्ति करते हैं। उनके मठाधीश प्लेटो के मनीषियों ( Wisemen of Plato ) की भाँति लोक-सेवा के लिये जीवन के समस्त भौतिक सुखों का परित्याग कर संन्यस्त जीवन व्यतीत करते थे। संन्यास के विषय में श्रीशंकराचार्य के मत की मीमांसा करते हुए हमें यह स्मरण रखना चाहिये कि वे स्वयं संन्यासी थे तथा देश की एक महत्तम संन्यास-संस्था के स्थापक थे। किन्तु वे एक महान् आत्मा थे। उन्होंने अपने सम्प्रदाय के प्रति पक्षपात करके सत्य को आहत नहीं किया और न जीवन के मूल्यों की उपेक्षा का उपदेश दिया। ऐसा प्रतीत होता है की देश की सेवा के लिये उन्होंने अपने व्यक्तिगत जीवन के मूल्यों का परित्याग कर संन्यास लिया था। किन्तु संन्यस्त होने पर भी उनका जीवन लोक सेवा के लिये सतत क्रिया-शील जीवन था। कन्या कुमारी से काश्मीर तक, पुरी से

---

११७. सत्यं वद धर्मं चर स्वाध्यायान्मा प्रमदः आचार्याय प्रियधनमाहृत्य प्रजातन्तुं मा व्यवच्छेत्सीः। तै० उ० १-११-१

द्वारका तक की यात्रा, अनेक शास्त्रार्थ, अनेक ग्रन्थ-लेखन तथा मठों की स्थापना इसके प्रमाण हैं। प्राचीन परम्परा तथा अपने सम्प्रदाय के सम्मान के लिये उन्होंने सर्वत्र संन्यास का उल्लेख बड़े आदर और गौरव के साथ किया है, तथा साधना की दृष्टि से उसे समुचित मूल्य और महत्त्व दिया है। किन्तु आश्रम संन्यास को,जिसका उन्होंने स्वयं इतनी कठोरता से पालन किया था, उन्होंने कभी उचित से अधिक महत्त्व नहीं दिया है। उन्होंने तात्विक मूल्यों को कभी उन रूपों से, जिनमें वे व्यक्त होते हैं, भ्रान्त नहीं होने दिया है। उन्होंने एक सामाजिक युग में अभिव्यक्त होने वाले सत्य के विशेष रूपों की अपेक्षा सत्य के आध्यात्मिक मूल्य को अधिक महत्व दिया है। उनके समस्त सिंद्धान्तों में इसकी छाया मिलती है। कर्म-सिद्धान्त के विषय में बाह्य कृत्य से उनका इतना प्रयोजन नहीं है जितना कि उसे प्रेरित करने वाली भावना से। परलोक शास्त्र के विषय में उनका प्रयोजन विविध लोकों से इतना नहीं जितना जीव के तद्गत जीवन तथा कर्म-फल-भोग से है। श्रुति के विषय में उनका अभिप्राय श्रुति के शब्दों से उतना नहीं जितना तन्निहित सत्य से है। उपासना के विषय में भी वे उपासना के विषय (देवता) को इतना महत्त्व नहीं देते जितना उपासक की भावना को। संन्यास के विषय में भी उनका मत उनके उक्त सिद्धान्तों के अनुकूल है। उसका बाह्य रूप इतना महत्त्वपूर्ण नहीं है, जितना कि उसका आध्यात्मिक मूल्य तथा उस बाह्य रूप में निहित सत्य की आत्मा।

इसमें संदेह नहीं कि वेदांत-साधना में संन्यास एक आवश्यक अंग माना गया है। कहीं आत्मानुभव के अधिकारी के लिये संन्यास-ग्रहण आवश्यक माना गया है। श्री शङ्कराचार्य के कुछ ऐसे वचन मिलते हैं जिनसे यह प्रतीत होता है कि केवल संन्यासी को ही ब्रह्म ज्ञान का अधिकार है।[११८] संन्यास से अभिप्राय आश्रम-कर्मों के त्याग से है। कर्म करते हुए ज्ञान संभव नहीं है। कर्म का ब्रह्म ज्ञान से सामंजस्य नहीं है क्योंकि ब्रह्मज्ञान कर्म-साध्य नहीं है। किन्तु कर्म-सिद्धान्त में बाह्य करण ( overt act ) की अपेक्षा विधि (injunction) से अधिक प्रयोजन है। अतः कर्म-संन्यास का अभिप्राय जीवन के कृत्यों का परित्याग नहीं। साधना की दृष्टि से आश्रम-संन्यास का अर्थ पूर्ववर्ती आश्रमों में करणीय बहुत से कृत्यों का परित्याग हो सकता

---

११८. बृह० उप० भा० २-२३-१

है। यह आश्रम संन्यास है, जो जीवन का तुरीयाश्रम है। इसके अतिरिक्त एक इससे भी सत्यतर संन्यास है जो कोई आश्रम-विशेष नहीं वरन् जीवन के प्रति एक दार्शनिक दृष्टिकोण है। श्री शङ्कराचार्य संन्यास के दोनों रूपों से परिचित थे और उन्होंने उनमें सदा विवेक किया है। संन्यास के बाह्य आश्रम-रूप तथा वास्तविक रूप को उन्होंने पृथक् रक्खा है। प्राचीन परंपरा के प्रवाह में कभी कह दिया है कि केवल ब्राह्मणों को ही संन्यास का अधिकार है।[११९] यदि केवल संन्यासी को ही ब्रह्मज्ञान का अधिकार है और केवल ब्राह्मणों को ही संन्यास का अधिकार है, तो इसका तर्क-संगत निष्कर्ष यही हुआ कि सत्य केवल ब्राह्मण-वर्ग का ही एकाधिकार है। ऐसा सिद्धांत अन्य सभी वर्गों को ब्रह्मज्ञान के अधिकार से वंचित करता है, साथ ही वेदान्त के मूल सिद्धांत के विपरीत है जिसमें इस प्रकार का कोई प्रतिबन्ध नहीं है। प्राचीन वेदान्त में क्षत्रिय केवल सत्य के सच्चे साधकों के रूप में ही नहीं वरन् ब्रह्मज्ञान के ज्ञाताओं के रूप में वर्णित हैं। ब्राह्मण लोग बड़ी नम्रता पूर्वक उनके पास विद्या ग्रहण करने के लिए जाते थे। रैक्व के पास भी, जो किसी आश्रम विशेष के अन्तर्गत नहीं थे, लोग विद्या ग्रहण करने के लिये जाते हैं। उपनिषदों में इसका कोई संकेत नहीं मिलता कि केवल संन्यासी को ही ब्रह्मज्ञान का अधिकार था तथा केवल ब्राह्मणों को ही संन्यास का अधिकार होने के कारण सत्य ब्राह्मणों का एकाधिकार था। वेदान्त के अनुसार ब्रह्म समस्त भूतों की आत्मा है, अतः प्रत्येक जीव का ब्रह्मज्ञानाधिकार इसमें अभिप्रेत है। यदि केवल संन्यासी को ही ब्रह्मज्ञान का अधिकार है तथा क्षत्रिय और वैश्यों को संन्यास का अधिकार नहीं है[१२०] तो इसका तात्पर्य यही हुआ कि वे सदा अविद्या के अन्धकार में ही पड़े रहें। ऐसा निष्कर्ष वेदान्त के मूल-गत सत्य पर ही आघात करता है। ब्रह्मज्ञान का यह मत अपने आधार का उच्छेद करता है। वेदान्त एक आध्यात्मिक जन-तन्त्रवाद है प्रत्येक व्यक्ति को पूर्णता और ब्रह्मज्ञान का समानाधिकार है। पक्षपात अथवा अधिकार-वंचना दोनों ही इसके सिद्धान्त के विरुद्ध हैं। श्री शंकराचार्य ने मोक्ष के मार्ग में कोई कृत्रिम प्रतिबन्ध नहीं लगाये हैं और न वे दूसरों के लगाये प्रतिबन्धों को मानते हैं। उनकी दृष्टि में ब्रह्मज्ञान प्रत्येक जीव

---

११९. ब्राह्मणनामेवाधिकारोव्युत्थाने। बृह० भा० ३-५-१

१२०. न हि क्षत्रियवैश्ययोः पारिव्राज्य-प्रतिपत्तिरस्ति। बृह० भा० ४-५-१५

का चरम लक्ष्य तथा मूलाधिकार है । जाति-वर्ण-धर्म के भेद मनुष्य ने उत्पन्न किये हैं, सत्य के लोक में उनका कोई स्थान नहीं हैं।[१२१] ब्रह्मसूत्र भाष्य के आरम्भ में उन्होंने ब्रह्म जिज्ञासा के अधिकारी के लिये चार साधन आवश्यक माने हैं। वे सब नैतिक और आध्यत्मिक हैं, कोई भी विधि अथवा आश्रम सम्बन्धी नहीं है। पूर्व मीमांसा के साथ साथ स्वाध्याय का पूर्ववर्तित्व अवश्य स्वीकार किया गया है। क्योंकि द्विजों को ही वेदाध्ययन का अधिकार है, अतः इसका अर्थ यह लगाया जा सकता है कि द्विजातियों को ही ब्रह्मज्ञान का अधिकार है। किन्तु श्री शंकराचार्य ने इस प्रसंग पर जोर नहीं दिया है तथा पद्मपाद ने अपनी टीका में इसे स्पष्ट कर दिया है कि यह अनिवार्य नहीं है।[१२२]

सत्य यह है कि वेदान्त में आत्मानुभव जीवन का चरम लक्ष्य है; उसके अधिकारी के लिये आध्यात्मिक वृत्ति ही एक मात्र आवश्यक उपकरण है। श्री शंकराचार्य ने जिस संन्यास को ब्रह्मज्ञान के अधिकारी के लिये आवश्यक माना है वह चतुर्थ आश्रम रूप संन्यास नहीं वरन् उसमें अभिप्रेत जीवन के प्रति एक आध्यात्मिक दृष्टि-कोण है। वास्तविक संन्यास समस्त कामनाओं का त्याग है।[१२३] वेदान्त में कामना को समस्त अनर्थों का मूल माना गया है। काम्य विषयों की भाँति कामनायें भी अनन्त हो सकती है किन्तु उनका मानसिक मूल एक ही है जो अहंकार, फलाकांक्षा तथा कर्तृत्व भावना के रूप में व्यक्त होता है।[१२४] अस्तु, कामनाओं के त्याग का वास्तविक अर्थ फलाकांक्षा तथा कर्तृत्व की अहंभावना का त्याग है। यह वेदान्त का मूल सत्य है और वेदान्त के समस्त सिद्धान्तों से इसका सामंजस्य है। यह त्याग की भावना ही वास्तविक संन्यास है। धर्म के बाह्य-रूपों के आडम्बर से उत्पन्न होने वाले अनर्थों से श्री शंकराचार्य अपरिचित न थे। अतः उन्होंने बाह्य रूप की अपेक्षा आन्तरिक भावना को अधिक महत्व दिया है। चतुर्थाश्रम के बाह्य उपकरण यज्ञोपवीत त्रिदण्ड कमण्डलु

---

१२१. अपेतब्रह्मक्षत्रादिभेदमसंसार्यात्मतत्वम्। ब्रं० सू० अध्यासभाष्य

१२२. स्वाध्यायाध्ययनन्तु समानं साधारणो हेतुर्धर्मब्रह्मजिज्ञासयोः समानं नात्यन्तमपेक्षितम्। पञ्चपादिका।

१२३. सर्वैषणापरित्यागः संन्यासाख्यो। बृह० भा० ४-४-७

१२४. सर्वा हि साधनेच्छा फलेच्छा। बृह० भा ३-५-१

आदि का धारण वास्तविक संन्यास नहीं है।[१२५] ये संन्यास के बाह्य प्रतीक मात्र हैं, उसकी आत्मा नहीं। वास्तविक संन्यास एक आध्यात्मिक वृत्ति है जिसका लक्षण सर्व कामनाओं का त्याग है। ऐसा संन्यास जो हमारे व्यक्तित्व को अहंकार और अज्ञान से ऊपर उठाता है आध्यात्मिक साधना का एक अन्तरङ्ग है। चतुर्थाश्रम रूप एक अन्य संन्यास भी है। यज्ञोपवीत त्रिदण्डादि उसी के लक्षण हैं। यह आश्रम-संन्यास आत्मज्ञान के लिये इतना उपयोगी नहीं जितना श्रेष्टलोकों की प्राप्ति के लिये। अतः यह भी अविद्या की सीमा के बाहर नहीं।[१२६] वास्तविक संन्यास जीवन का कोई आश्रम नहीं वरन् उसके प्रति एक आध्यात्मिक दृष्टि कोण है। वह एक भावना मात्र है; उसका कोई बाह्य उपकरण अथवा लिंग नहीं है। आश्रम-विकल्प के विषय में श्री शंकराचार्य का मत इस विषय को स्पष्ट कर देता है। आश्रम-विकल्प स्मृति-सम्मत है।[१२७] श्री शंकराचार्य ने उसका समर्थन केवल आत्मरक्षा के लिये ही नहीं किया। उनको आश्रमों के क्रम की अनिवार्यता स्वीकार करने में यह आपत्ति नहीं थी कि उन्होंने इस क्रम का स्वयं पालन नहीं किया, किन्तु इस लिये कि इस क्रम नियम को वे अन्तिम सत्य नहीं मानते थे। सत्य का कोई नियमित क्रम नहीं हो सकता। क्योंकि सत्य-साधन के विषय में व्यक्तियों की क्षमता को हम जान नहीं सकते। बहुत से ऐसे व्यक्ति होंगे जो सम्पूर्ण क्रम-विधि के समाप्त कर लेने पर भी पूर्ण अज्ञान ही रह जाते हैं। इसके विपरीत कुछ साधकों के लिये सम्पूर्ण क्रम आवश्यक नहीं। क्रम और अवस्थानों का इतना महत्व नहीं है; वे किसी के लिये आवश्यक तथा किसी के लिये अनावश्यक हो सकते हैं। किन्तु वास्तविक महत्व भावना का है। अपवादों के लिये भी स्थान होना चाहिये। आश्रम-विकल्प के विधान में यह सिद्धान्त निहित है कि आश्रमों का बाह्य रूप और लक्षणों का न अन्तिम प्रामाण्य है और न परम महत्व। अस्तु, आत्मज्ञान का जिस संन्यास के साथ आनन्तर्य सम्बन्ध आवश्यक है वह आश्रम-

---

१२५. न यज्ञोपवीतत्रिदण्डकमण्डल्वादिपरिग्रहः। छा० भा० २-२३

१२६. न, तद्व्यतिरेकेण चास्त्याश्रमरूपं पारिव्राज्यं ब्रह्मलोकादिफल प्राप्ति-साधनम्। बृह० भा० ३-५-१

१२७. सर्वस्मृतिषु चाविशेषेणाश्रमविकल्पः प्रसिद्धः।

ऐत० उप० भा० १-१-१

संन्यास नहीं भावना-संन्यास है। यह संन्यास-भावना अध्यात्म-साधना का आवश्यक अंग है।[128] किन्तु यह भावना किसी आश्रम अथवा वर्ण तक ही सीमित नहीं है। किसी भी आश्रम में स्थित व्यक्ति को वह प्राप्त हो सकती है तथा समस्त आश्रम-क्रम को पूर्ण कर लेने वाले को भी प्राप्त न हो सके यह सम्भव है। आश्रम की दृष्टि से सभी आश्रमों का समान स्थान है। तथा श्री शंकराचार्य के मत से किसी भी आश्रम में स्थित व्यक्ति को ब्रह्मज्ञान का समान अधिकार है।[129] अध्यात्म-भावना ही एक परम महत्वपूर्ण तत्व है; अतः जिसे वह प्राप्त है उसके लिये कोई आश्रम अपेक्षित नहीं। यदि प्रथम आश्रम में ही वह संन्यास भावना प्राप्त हो जाय तो द्वितीय आश्रम अनावश्यक है।[130] द्वितीय आश्रम में स्थित व्यक्ति को भी यदि यह संन्यास भावना प्राप्त हो जाय तो गृहस्थाश्रम में स्थित भी उसको अर्थतः संन्यास प्राप्त है।[131] क्योंकि पुत्रवित्तलोकैषणा-जन्य अंहकार और मोह से मुक्ति की भावना ही वास्तविक संन्यास है, पुत्रवित्तादि का बाह्य परित्यजन नहीं।[132]

## ११—वेदान्त में नैतिक गुण—( moral virtues )

अस्तु, हम देखते हैं कि वेदान्त में बाह्य व्यवहार की अपेक्षा आन्तरिक भावना को अधिक महत्व दिया गया है। नैतिक साधना हमारे अन्तस् को शुद्ध करके आत्मानुभव सुगम बनाती है। एक श्रेयःशील चरित्र का निर्माण वेदान्तिक साधना का सबसे महत्वपूर्ण अंग है। विविध नैतिक गुणों का अनुशीलन ज्ञान का पथ प्रशस्त करता है। नैतिक कर्म द्वारा संस्कृत होने पर हमारा आन्तरिक व्यक्तित्व नैतिक गुणों के रूप में अभिव्यक्त होता है। उपनिषद् तथा भगवद्गीता में अनेक नैतिक गुणों की प्रशंसा की गई है।

---

१२८. सर्वक्रियोपरमं एव आत्मलोकसाधनं मुख्यमन्तरंगम्। बृह० भा० ४-४-२२.

१२९. अतः सिद्धान्याश्रमान्तराणि सर्वेषांचाधिकारो विद्यायाम्। तै० १-११.

१३०. प्रतिपन्नगार्हस्थ्यास्यापि विद्योत्पत्तौ विद्यापरिपाकाद्विरक्तस्य कर्मसु प्रयोजनमश्यतः कर्मभ्योः निवृत्तिरेव स्यात्। तै० भा० १-११.

१३१. एतेने गृहस्थस्यैकत्वविज्ञाने सति पारिव्राज्यमर्थसिद्धम्। छां०भा० २-२३.

१३२. कामनिमित्तपुत्रवित्तादिसम्बन्धनियमःभावमात्रं न हि ततोऽन्यत्रगमनं व्युत्थानमुच्यते। ऐत० भा० १-१.

श्री शंकराचार्य ने भी उन्हें ज्यों का त्यों ग्रहण कर लिया है। वेदान्त शास्त्रों में गुणों का विभाजन या वर्गीकिरण किसी सिद्धान्त के अनुसार नहीं किया गया है। हम वेदान्त-साधना में नैतिक गुणों के स्थान और मूल्य का यथोचित निरूपण करने के लिये तीन वर्गों में उनका विभाजन करेंगे।

### (१) संन्यास गुण—(Ascetic virtues)

अन्तःकरण के संस्कारके लिए कुछ संन्यास गुणों का अनुशीलन आवश्यक है। उनसे हमारी भावना शुद्ध होती है। शौच, उपशम, त्याग, तप और क्षमा ये पाँच प्रधान संन्यास गुण है। शौच प्रथम कर्तव्य है क्योंकि शौच के बिना अन्य श्रेष्ठ गुणों की प्राप्ति सम्भव नहीं। शौच दो प्रकार का होता है—बाह्य और आन्तर। जलादि द्वारा शरीरेन्द्रियादि की पवित्रता बाह्य शौच है तथा मोह, राग आदि आन्तरिक कलुष के निवारण द्वारा मन और बुद्धि का नैर्मल्य आन्तर शौच है।[१३३] शौच से उपशम की प्राप्ति होती है। उपशम भी दो प्रकार का होता है। बाह्य इन्द्रियों का उपशम दम है, अन्तःकरण का उपशम शान्ति या शम कहलाता है।[१३४] उपशम से त्याग, तप, सन्तोष का मार्ग प्रशस्त होता है।

### (२) सामाजिक गुण—(Social virtues)

वेदान्त का आचार-दर्शन एक व्यावहारिक आचार-दर्शन है, अतः नैतिक गुणों का एक सामाजिक पक्ष भी है। नैतिक गुणों के अनुशीलन का उद्देश्य एकान्त चिन्तन को ही सम्भव बनाना नहीं वरन् श्रेष्ठतम सामाजिक आचार को भी व्यवहार्य बनाना है। उक्त संन्यास गुण सामाजिक गुणों के रूप में अपने को व्यक्त करते हैं। शौच से हमारे स्वभाव में मार्दव आता है, उपशम हमें दया का भाव देता है, त्याग हमें उदार तथा दानशील बनाता है, तप हमें संयम देता है, और संतोष दूसरों के प्रति घृणा का भाव दूर कर सब के प्रति सौहार्द भाव उत्पन्न करता है।

---

१३३. शौचं द्विविधं मृज्जलकृतं बाह्यमाभ्यन्तरं च मनोबुद्धयो नैर्मल्यं ...कालुष्याभावं एवं द्विविधं शौचम्। गी० भा० १६-३।

१३४. दमश्य बाह्यकरणानामुपशमः अन्तःकरणस्य उपशमं शान्तिर्वक्ष्यति। गी० भा० १६-२।

### (३) मौलिक गुण—(cardinal virtues)

सामाजिक गुणों के रूप में व्यक्त होकर संन्यास गुण मौलिक गुणों के रूप में पर्यवसित होते हैं जो हमारे श्रेष्ठतम नैतिक चरित्र का निर्माण करते हैं तथा हमारी आध्यात्मिक साधना की नींव है। स्वभाव की मृदुता में व्यक्त होकर शौच हमें पवित्रता-जन्य विनय (नम्रता) देता है। दूसरों के प्रति दया-भाव में व्यक्त होकर उपशम हममें नैतिक-शक्ति जन्य अहिंसा का भाव उत्पन्न करता है। उदारता तथा दानशीलता के रूप में व्यक्त होकर त्याग हमारे चरित्र में ऋजुता लाता है। तप जो हमारे चरित्र को संयम देता है हमें निर्भय बनाता है। संतोष जो हमें सब के प्रति सौहार्द भाव देता है सत्य का मार्ग प्रशस्त करता है, जो जीवन का सबसे बड़ा गुण तथा सर्वोत्तम लक्ष्य है। अस्तु, सत्य, अभय, आर्जव, अहिंसा और विनय वेदान्त में मूल गुण माने गये हैं। सत्य, वाणी, मन और कर्म से चरित्र की ऋजुता है।[१३५] जो सत्य में विश्वास करता है वही अभय हो सकता है। जो हृदय से अभय है वही व्यवहार में ऋजु हो सकता है तथा अहिंसा का अनुशीलन कर सकता है। ये सब मिलकर मनुष्य को विनयशील बनाते हैं। विनय दुर्बलता का नहीं नैतिक बल का चिह्न है। बलवान् ही विनयशील हो सकता है। सत्य में आस्था और अपने बल में विश्वास होने पर अविनय न सम्भव है न आवश्यक। अविनय दुर्बल मनुष्य की अपनी दुर्बलता की असहिष्णुता की द्योतक है।

## १२—वेदान्त में ईश्वर का स्थान और उपासना का मूल्य

इन नैतिक गुणों को भगवद्गीता में दैवी सम्पद् की संज्ञा दी गई है।[१३६] गुण सत्य का प्रतियोगी नैतिक पक्ष (moral counterpart of Truth) है। सत्य दिव्य है, अतः गुण भी जो सत्य के जीवन में व्यक्त रूप हैं, दिव्यता के भागी बन जाते हैं। हमारे चरित्र के अंग बन कर वे हमें ईश्वर के निकटतर ले जाते हैं। निष्काम-कर्म तथा संन्यास गुणों द्वारा अन्तःकरण का संस्कार हमें ईश्वर के मार्ग पर बढ़ने में सहायता देता है। ईश्वर की उपासना वेदान्त में आत्मशुद्धि तथा ब्रह्मज्ञान का एक महत्वपूर्ण

---

१३५. सत्यमिति अमायिता अकौटिल्यं वाङ्मनःकायानाम्।
केन० वा० भा० ४-८

१३६. दैवी सम्पद्। गीता० १६.५।

साधन मानी गई है। यद्यपि सगुण ब्रह्म वेदान्त में चरम सत्य नहीं माना गया है, किन्तु फिर भी सगुण ब्रह्म नितान्त कल्पना नहीं है तथा उसकी उपासना बिलकुल व्यर्थ नहीं है। हमारी नैतिक भावना के लिये ईश्वर की कल्पना आवश्यक है। वेदान्त में ईश्वर की समस्या की सांगोपांग मीमांसा की गई है। ईश्वर की कल्पना की तात्त्विक कठिनाईयों के विरुद्ध भी जहाँ तक सम्भव हो सका है ईश्वर की सत्यता तथा उपासना की उपादेयता स्वीकृत की गई है।

वेदान्त के अनुसार ब्रह्म हमारी सत्ता का चरम सत्य है और ब्रह्मानुभव जीवन का परम श्रेय है। ब्रह्म नितान्त निर्विशेष नहीं है, उसके अखण्ड एकत्व में जीव और जगत् की विवेच्य सत्ता के लिये स्थान है। किन्तु उनका अस्तित्व विविक्त नहीं है और वह ब्रह्म की एक-पिण्डता में भेद उत्पन्न नहीं करता। ब्रह्म से पृथक् कोई जीव या पदार्थ नहीं। ब्रह्म सब भूतों की आत्मा है। हमारी आत्मा से बहिर्भूत ईश्वर की कल्पना वेदान्त में असंगत है। उपास्य ब्रह्म हमसे पृथक् है, क्योंकि उपास्य-उपासक का भाव दोनों के भेद पर ही निर्भर है।[१३७] उपासना दो के बीच का सम्बन्ध है। उपास्य ईश्वर उपासक से 'अन्य' है।[१३८] यह द्वित्व और भेद वेदान्त में सम्भव नहीं। इसीलिए वेदान्त में उपास्य ईश्वर की पारमार्थिक सत्यता का निषेध किया गया है। केनोपनिषद् का वचन है कि 'यह वह नहीं है, जिसकी तुम उपासना करते हो'। श्री शंकराचार्य इस मंत्रपद में उपास्य ईश्वर का निषेध पाते हैं।[१३९] बृहदारण्यक उपनिषद् का वचन है कि 'जो यह सोचता है कि यह अन्य है और मैं अन्य हूँ वह ( सत्य को ) नहीं जानता।'[१४०] परमपुरुष (ईश्वर) तथा परम आत्मा (ब्रह्म) के स्वरूप में वेदान्त में विवेक किया गया है।[१४१] ब्रह्म

१३७. तस्माद्युक्तं यद्विदितमुपास्यं तद् ब्रह्म भवेत् ततोऽन्य उपासक इति। के० प० भा० १-४।

१३८. तस्माद्युक्तं यद्विदितमुपास्यं तद् ब्रह्म भवेत् ततोऽन्य उपासक इति। केन० पद० भा० १-४।

१३९. नेदं यदिदमुपासते। केन० उप० १-४।
नेदं यदिदमुपासत इत्युपास्यत्वं ब्रह्मणोऽपोदितम्। के० वा० भा० ३-१।

१४०. अन्योऽसौ अन्योऽहमस्मीति न स वेद। बृह० उ० १-४-१०।

१४१. एकमपि ब्रह्मापेक्षितोपाधिसम्बन्धनिरस्तोपाधिसम्बन्धं चोपास्यत्वेन ज्ञेयत्वेन च वेदान्तेषूपदिश्यते। ब्र० सू० भा० १-१-१२।

हमारी तथा समस्त जीवों की आत्मा है।[१४२] इस परमात्मा से पृथक कोई वस्तु नहीं है। जीव भी इससे अत्यन्त भिन्न नहीं है।[१४३] अस्तु परमात्मा तथा सब की चरम आत्मा एक ही है। इस परमात्मा को वेदान्त में परब्रह्म कहा है। अन्य धर्मों के ईश्वर की भाँति गुणों द्वारा इसकी परिभाषा सम्भव नहीं है, क्योंकि यह कोई पुरुष नहीं है। यह समस्त गुणों से अतीत है, गुण-परिच्छेद से इसका वास्तविक स्वरूप अन्यथा हो जाता है। ऐसा निरुपाधिक ब्रह्म मंद बुद्धि वालों के लिए दुर्गम है।[१४४] उनको यह असत् के समान प्रतीत होगा।[१४५] सगुण ईश्वर जिसकी वे उपासना कर सकें उनके लिये सुगम हैं।[१४६] अतः उनकी सुविधा के लिये सगुण ब्रह्म का आदेश किया गया है।[१४७] किन्तु यह प्रवंचना नहीं है। यह एक व्यावहारिक सत्य है, कल्पना मात्र नहीं। यह एक सापेक्ष सत्य है, किन्तु मिथ्या नहीं। सत्य और श्रेय के अन्तिम प्रमाण, जगत् के कृपालु तथा उदार अधिष्ठाता, पुण्य-पाप के नियन्ता तथा फल-दाता, और संसार के जीवों के उद्धारक के लिये मनुष्य की स्वाभाविक आकांक्षा का एक मात्र उत्तर सगुण परमेश्वर है। इसी में ईश्वर में विश्वास का रहस्य भी निहित है। ऐसे ईश्वर की कल्पना की तात्विक कठिनाइयों के प्रति सतर्क होते हुए भी वेदान्त ने ईश्वर में विश्वास का निषेध नहीं किया है। वेदान्त में ब्रह्म चरम सत्य है। वह समस्त सत्ता का अन्तर्निहित सत्य भी है, और उससे पृथक् कोई वस्तु नहीं है। ब्रह्म में आरूढ़-रूप से कोई भी परिच्छिन्न पदार्थ मिथ्या नहीं है। ब्रह्म से (जिसमें सबकी स्थिति है) पृथक् कल्पित होने पर ही वह मिथ्या है। यदि गुण का अर्थ ब्रह्म को परिच्छिन्न अथवा निरूपित करना है तो ब्रह्म नितान्त निर्गुण है, किन्तु ब्रह्म में संस्थित होने के अर्थ में सभी गुण ब्रह्म में है। सभी परि-

---

१४२. परमात्मा हि सर्वेषामात्मा। बृह० २-४-६।
१४३. न हि जीवो नाम अत्यन्तभिन्नो ब्रह्मणः ब्र० सू० भा० १-१-४।
१४४. न हि निरुपाधिकमेव ब्रह्म मन्दबुद्धिभिराकलयितुं शक्यं। केन० प० भा० ४-५।
१४५. दिग्देशगुणगतिफलभेदशून्यं हि परमार्थसदद्वयं ब्रह्म मन्द बुद्धीनाम-सदिव प्रतिभाति। छां० भा० ८-१-१।
१४६. एवमादिश्यमानं ब्रह्ममन्दबुद्धिगम्यं भवति। केन० प० भा० ४-४।
१४७. एवमादिश्यमानं ब्रह्ममन्दबुद्धिगम्यं भवति। केन०प० भा० ४-४।

च्छिन्न सत्व किसी न किसी अंश में ब्रह्म के ही प्रतीक है, यद्यपि ब्रह्म स्वयं सर्वातीत है।[१४८] सर्व-गुण-सम्पन्न परमात्मा हमारी ब्रह्म-विषयक कल्पना की पराकाष्ठा है। किन्तु हमारी कल्पना की सीमा सत्य के स्वरूप की सीमा नहीं हो सकती। वह कितनी ही निकटतम हो, चरम नहीं हो सकती। वह सत्य की व्यंजना के रूप में अस्वीकार्य न हो, किन्तु वह उसके स्वरूप की निरूपक नहीं हो सकती। ब्रह्म की निर्विकल्पता सगुण परमेश्वर की सत्ता का निषेध अथवा विरोध नहीं करती। उसका तात्पर्य इतना ही है कि ब्रह्म उस परमेश्वर से परे अनन्त और चरम सत्य है। ब्रह्म परमेश्वर से परे है किन्तु परमेश्वर ब्रह्म के अन्तर्गत है। हमारी चरम आत्मा से बहिर्भूत उपास्य रूप से कल्पित ईश्वर मिथ्या है, किन्तु यदि अनिर्वचनीय परब्रह्म का वह उच्चतम ग्राह्य रूप है तो वह निस्सन्देह सत्य है।

वस्तुतः वेदान्त में एक ही ब्रह्म है। जिसे अपर ब्रह्म अथवा सगुण ईश्वर कहा जाता है वह परब्रह्म से विविक्त कोई अपर तत्व नहीं है, वरन् निर्विकल्प परब्रह्म की ही उच्चतम मनुष्य-ग्राह्य कल्पना है। एक ही स्वसंवेद्य निरुपाधिक ज्ञेय ब्रह्म का उपाधि सम्बन्ध की अपेक्षा से उपास्य ब्रह्म रूप से उपदेश किया जाता है।[१४९] पर ब्रह्म के साथ किसी उपाधि सम्बन्ध की कल्पना नहीं की जा सकती, यदि इसका अभिप्राय ब्रह्म को परिच्छिन्न बनाना है। ब्रह्म अनन्त है और समस्त उपाधियाँ ब्रह्म के स्वरूप निरूपण के लिये अनुपयुक्त हैं। किन्तु परब्रह्म इसी अर्थ में निर्गुण है कि कोई भी गुण उसके स्वरूप का निरूपण नहीं कर सकते, क्योंकि उसका स्वरूप अनन्त है। स्वरूप शून्य होने के अर्थ में ब्रह्म निर्गुण नहीं है। ब्रह्म कोई दार्शनिक महाशून्य नहीं है, वरन् आध्यात्मिक तत्व से परिपूर्ण एक अनन्त सत्य है। समस्त सद्गुणों के सागर की कल्पना ब्रह्म के विरुद्ध नहीं है, किन्तु उसके पूर्ण स्वरूप की अभिव्यक्ति के लिये अनुपयुक्त है। सगुण ब्रह्म न मिथ्या है और न अपर सत्य, किन्तु सत्य का ही एक पक्ष है, जो पूर्ण परब्रह्म का स्थान ग्रहण नही कर सकता। श्री शंकराचार्य के मत में दो ब्रह्म 'पर' और 'अपर' नहीं है,

---

१४८—यद्यद्विभूतिमत्सत्वं श्रीमदूर्जितमेव च।
तत्तदेवावगच्छत्वं मम तेजोंऽश सम्भवम्॥ गी० १०-४१

१४९—एकमेव ब्रह्मापेक्षितोपाधि सम्बन्धं निरस्तोपाधि सम्बन्धं चोपास्यत्वेन ज्ञेयत्वेन च वेदान्तेषूपदिश्यते। ब्र० सू० भा० १-१-१२

जैसा कि प्रायः विश्वास किया जाता है। वेदान्त में एक ही आध्यात्मिक तत्व है जो चरम सत्य है तथा परम श्रेय भी। यह समस्त परिच्छेदों से परे हैं। तर्क-कोटियों द्वारा वह कल्पनीय नहीं है। किन्तु आध्यात्मिक अनुभव द्वारा ही गम्य है। जो अपर ब्रह्म कहलाता है वह ब्रह्म से भिन्न कोई अपर सत्य नही है वरन् ग्रहण की सुविधा तथा उपासना के उद्देश्य से सगुण रूप से कल्पित परब्रह्म ही है। वह अनन्त का परिच्छिन्न रूप से कल्पित स्वरूप है। किन्तु परिच्छिन्न न अनन्त का प्रतियोगी है और न विरोधी, अतः सगुण ब्रह्म परब्रह्म से बहिर्भूत अथवा विरुद्ध नहीं है। यदि सगुण ब्रह्म को ही पर ब्रह्म मान लिया जाय तो वह मिथ्या है; पर ब्रह्म के प्रतीक के रूप में वह मिथ्या नहीं है। दोनों कल्पनाओं में कोई विरोध या व्याघात नहीं है जैसा प्रायः समझा जाता है। श्री शंकराचार्य ने स्पष्ट रूप से कहा है कि 'यद्यपि परब्रह्म अनन्त और सर्वगत है, फिर भी परिच्छिन्न और उपास्य ईश्वर की कल्पना इसकी अनन्तता के विरुद्ध नहीं है। निरुपाधिक ब्रह्म की भी उपाधिविशेष सम्बन्ध से कल्पना उपपन्न है।'[१५०] जैसे समस्त वसुधाधिपति को भी अयोध्यापति कहा जा सकता है, उसी प्रकार सर्वगत तथा अनन्त ब्रह्म का परिच्छिन्न तथा सोपाधिक स्वरूप उसके एक पक्ष की अभिव्यक्ति के रूप में अवगम्य है।[१५१] इस उदाहरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि सगुण ब्रह्म पर ब्रह्म का एक पक्ष है, विरोधी नहीं है। वह अनन्त की ही एक परिच्छिन्न कल्पना है। 'ग्रहण और उपासना की सुविधा के लिये ही अनन्त पर ब्रह्म का भी सगुण रूप में यत्रतत्र उपदेश दिया गया है। इसमें कोई अन्याय्यता अथवा असंगति नहीं है, जैसे कि शाल ग्राम के रूप में विष्णु की कल्पना में कोई विरोध नहीं है।'[१५२] अपनी अनन्त महिमा में प्रतिष्ठित ब्रह्म की ही उपासना के उद्देश्य से आधार विशेष में

---

१५०. सर्वगतस्यापि ब्रह्मण उपासनार्थः प्रदेशविशेष परिग्रहो न विरुध्यते नतूक्तम् निष्प्रदेशस्यापि ब्रह्मणः प्रदेशविशेषकल्पना नोपपद्यते इति। नायं दोषः निष्प्रदेशस्यापि ब्रह्मण उपधिविशेषसम्बन्धात् प्रदेशविशेष कल्पनोपपत्तेः। ब्र० सू० भा० १-१-२४

१५१. यथा समस्तवसुधाधिपतिरपि सन्नयोध्यापतिरिति व्यपदिश्यते। ब्र० सू० भा० १-२-७

१५२. निर्गुणमपि सद् ब्रह्म नामरूपगतैर्गुणैःसगुणमुपासनार्थं तत्रतत्रोपदिश्यते सर्वगतस्यापि ब्रह्मणः उपलब्ध्यर्थं स्थानविशेषो न विरुध्यते शालग्राम इव विष्णोः। ब्रह्म० सू० भा० १-१-२४

परिच्छिन्न रूप से कल्पना की जाती है।[153] सर्वगत तथा अनन्त ईश्वर भी इस प्रकार सगुण रूप में उपास्यमान होने पर प्रसन्न होता है,[154] तथा उसके प्रसाद से श्रेयःसिद्धि होती है। उपास्य ब्रह्म तात्विक सत्य ( metaphysical Reality) की अपेक्षा एक प्रयोजनवत्सत्य (Pragmatic Reality) अधिक है। अतः उपासना में वास्तविक महत्व भावना का है, उपास्य के रूप का नहीं। उपासना का फल भावना के अनुरूप होता है।[155]

इस सगुण ब्रह्म की कल्पना वेदान्त में सांगोपांग तथा सयुक्ति की गई है। यह ईश्वर जगत् का स्रष्टा, विश्व का अधिष्ठाता तथा कर्म-फल का नियन्ता है। यदि जगत् को सृष्टि कहा जाय तो ईश्वर की कल्पना अनिवार्य हो जाती है। अनन्त आश्चर्यों से परिपूर्ण जगत् अत्यन्त कुशल शिल्पियों द्वारा भी निर्मित नहीं किया जा सकता। यह अनन्त शक्ति तथा ज्ञान से सम्पन्न तथा समस्त प्राणिजात के कर्मफल-विभाग से अभिज्ञ ईश्वर की सृष्टि हो सकता है।[156] किन्तु अन्य किसी के लिये असम्भव होते हुए भी सृष्टि कार्य ईश्वर के लिए लीला मात्र है।[157] लीला कहने का तात्पर्य यह नहीं कि सृष्टि ईश्वर के लिए विनोद अथवा परिहास मात्र है। इस उपमा का प्रयोजन केवल सृष्टि कार्य में ईश्वर की स्वतन्त्रता का निर्देश करना है। सृष्टि के लिये ईश्वर को किसी प्रयत्न विशेष की अपेक्षा नहीं होती और न सृष्टि रचना में उसका कोई प्रयोजन विशेष है। लीला के समान यह उसके लिए एक स्वच्छन्द कर्म है तथा लीला की भाँति ही केवल उसकी अनन्त शक्ति तथा उसकी अभिव्यक्ति में ईश्वर के स्वाभाविक आनन्द का द्योतक है।[158] ईश्वर असत् के शून्य में ब्रह्माण्डों के बुद्बुद् उड़ाने वाले एक स्वैर राजकुमार के समान नहीं; किन्तु वह एक सर्वशक्तिमान् सम्राट् के समान है, जो अपने

---

१५३. स्वमहिम्नि प्रतिष्ठतस्यापि आधारविशेषोपदेश उपासनार्थं भविष्यति। ब्र० सू० भा० १-१-२

१५४. सर्वगतोऽपीश्वरस्तत्रोपास्यमानः प्रसीदति। ब्र० सू० भा० १-२-७

१५५. भावनाविशेषतः फलविशेषोपपत्तेः। छां० भा० २-२०-२

१५६. यदिदं जगत् तदत्यन्तकुशलशिल्पिभिरपि दुर्निर्माणं भोक्तृकर्म विभागज्ञः प्रयत्नपूर्वकं भवितुमर्हति। केन० प० भा० ३-१

१५७. लोकवत्तु लीला कैवल्यम्। ब्र० सू० २-१-३३

१५८. देवस्यैष स्वभावोऽयं आप्तकामस्य का स्पृहा। मां० का०

साम्राज्य में प्रचलित नियमों से परे है। वह जगत् का स्रष्टा तथा अधिष्ठाता है।[१५९] वह सर्वशक्तिमान है तथा उसकी इच्छा से तृण भी वज्रवत् कठिन हो सकता है।[१६०] जगत् और प्रकृति की व्यवस्था तथा नियत-प्रवृति एक नियन्ता की सत्ता का संकेत करती है, जिसके आदेश से वे प्रकृत नियमों का अतिक्रमण न करके नियत रूप से प्रवृत्त रहती हैं।[१६१] किन्तु जगत् व्यवस्था का यह कार्य ईश्वर के लिये बन्धन का कारण नहीं है। उसकी अनन्त तथा मूल स्वतन्त्रता से इसका विरोध नहीं।[१६२] और न अपनी सर्वशक्तिमत्ता के कारण वह देववाद (Deism) के ईश्वर की भाँति कठोर शासक है। ईश्वर समस्त भूतों की आत्मा है तथा वह सब के आत्मभाव से सब का शासन करता है।[१६३]

ईश्वर जगत् के जीवों के कर्म-फल का नियन्ता भी है।[१६४] कर्म-सिद्धान्त के लिये ईश्वर की कल्पना जो समस्त जीवों के कर्म-विभाग का ज्ञाता है तथा नियमानुकूल उनके फल का विभाजन कर सकता है आवश्यक है।[१६५] एक सर्वज्ञ तथा सर्वशक्तिमान ईश्वर की कल्पना के बिना, जो समस्त जीवों के कर्म का साक्षी तथा कालान्तर में होने वाले उनके फलविभाग का विधान कर सके[१६६] कर्म सिद्धान्त का निर्वहण असम्भव है। किन्तु यह कर्म-फल विधान कार्य ईश्वर के लिए बन्धन का कारण नहीं है क्योंकि वह उसे कर्तृ-

---

१५९. ब्रह्मसर्व प्रकारेण प्रशास्तृ। केन० प० भा० ३१

१६०. ईश्वरेच्छया तृणमपि वज्रीभवत्युपपद्यते। के० वा० भा० ३-१

१६१. तत्सिद्धिर्जगतो नियतप्रवृत्तेः। के० वा० भा० ३-१

१६२. महेश्वरस्यापि सर्वेश्वरत्वात्प्रतिनिग्रहानुग्रहेपि स्वातन्त्र्यमेव। ऐत० भा० १ ३ १

१६३. ईशिता परमेश्वरः परमात्मा सर्वस्य स हि सर्वमिष्टे सर्वजन्तूनामात्मा सन्। ईश० भा० १

१६४. सेवायाश्च क्रियात्वात् तत्सामान्याच्च यागदानहोमादीनां सेव्यात् ईश्वरादेः फलप्राप्तिरुपपद्यते। बृह० भा० ३-८-६

१६५. तस्माच्छान्ते यागादिकर्मणि नित्यकर्तृकर्मफलविभागज्ञः ईश्वर सेव्यादिवद् यागाद्यनुरूपफलदातोपपद्यते। के० व० भा० ३-१

त्वाऽभिमान रहित-भाव तथा फलाकांक्षा रहित भाव से करता है।[१६७] वह पर्जन्य के समान निष्पक्ष भाव से जीव-कृत धर्माऽधर्म के अनुकूल फल-विधान करने के कारण निमित्त मात्र है।[१६८] तथा उसकी सत्ता के प्रभुत्व मात्र से उसका कर्म विधान में निमित्तत्व है, कर्तृत्व भाव से नहीं।[१६९] सृष्टि के उत्पादन तथा व्यवस्थापन की भाँति ही कर्म-फल-विधान के लिए भी ईश्वर को किसी प्रयत्न की अपेक्षा नहीं होती। वह अपनी सर्वज्ञता तथा सर्वशक्तिमत्ता के बल से बिना किसी प्रयत्न के ही कर्म-फल-विधान की व्यवस्था करता है।[१७०]

यह ईश्वर समस्त सद्गुणों का आगार है।[१७१] यह पूर्ण शुद्ध है, कोई पाप उसका स्पर्श नहीं कर सकता।[१७२] पाप अज्ञान मूलक है, और ईश्वर में अज्ञान की कल्पना नहीं की जा सकती, वह समस्त जीवों की आत्मा तथा सब का सुहृद है।[१७३] ऐसे ईश्वर की उपासना से हमारे नैतिक व्यक्तित्व का उत्थान होता है, तथा जन्मान्तर में ऊर्ध्वलोकों की प्राप्ति होती है, जिनका आध्यात्मिक साधना में उपयोग करने से मोक्ष की प्राप्ति होती है।

---

१६६. यागादे ··कालान्तरस्थात्कर्मदेशकालनिमित्तविपाकबुद्धिसंस्कारापेक्षफलस्यैव। तस्मात् सिद्धः सर्वज्ञः ईश्वर सर्वजन्तुबुद्धिकर्मफलविभाग साक्षी सर्वभूतान्तरात्मा। केन० वा० भा० ३-१

१६७. अतः अन्यस्यापि कर्तृत्वाभिमानाभावः फलसंगाभावश्च असंगकारणम्। गीता० भा० ६-१०

१६८. जीवकृतधर्माधर्मवैषम्यापेक्ष एव तत्तत्फलानि विषयं विभजेत् पर्जन्यवदीश्वरो निमित्तत्वमात्रेण। ब्र० सू० भा० २-३-४२

१६९. स्वात्मसत्तामात्रेण अचिन्त्यशक्तित्वात्। कठ० भा० २-२-१२

१७०. किञ्च सर्वज्ञः सर्वेश्वरः कामिनां संसारिणां कर्मानुरूपं कामान्कर्मफलानि स्वानुग्रहनिमित्तांश्च कामान्य एको बहूनामनायासेन विदधाति प्रयच्छतीति। क० भा० २-१-१४

१७१. सर्वकल्याणास्पदमीश्वरम्। के० वा० भा० ३-२

१७२. न च पाप्मसंसर्ग ईश्वरस्य। छां० भा० २-१४-२

१७३. अविद्यादि दोषस्यानुपपत्तेः। छां० भा० २-१४-२

१७४. यत, ईश्वरः सर्वात्मा सर्वभूतसुहृच्चेति। गी० भा० ११-३६

# सातवाँ अध्याय

## मोक्ष और जीवन के मूल्य

### १—मोक्ष और जगत्

वेदान्त के मतानुसार मोक्ष एक नित्य सत्य है। आध्यात्मिक साधना के द्वारा वह एक अनुभव-गत तथ्य बन जाता है। अध्यात्म-पथ पर चरण रखने के पूर्व साधक से जो साधन चतुष्टय अपेक्षित किया जाता है वह उसे आध्यात्मिक मूल्यों की ओर अभिमुख करता है। ब्रह्मनिष्ठ गुरु के मुख से श्रुति के उपदेश द्वारा उसे अन्तर में अपनी सत्ता के वास्तविक स्वरूप की कुछ प्रारम्भिक चेतना जाग्रत होती है। निष्काम कर्म तथा सत्य का स्वरूप-चिन्तन निदिध्यासन द्वारा इस प्रारम्भिक चेतना को पूर्ण चेतना के रूप में परिणत करने में सहायक होते हैं। जब नैतिक संस्कार द्वारा हमारे अन्तर का वातावरण स्वच्छ हो जाता है तो सत्य का शुद्ध आलोक प्रकाशित होता है। संघर्ष और साधन-अवस्था की समस्त उष्णता मुक्ति और शान्ति के अमल आलोक में परिणत हो जाती है। आत्मनिष्ठ होकर साधक मुक्ति की आत्मिक शान्ति तथा दिव्य आनन्द में प्रतिष्ठित हो जाता है।

कुछ लोग इस मोक्ष को हमारे अस्तित्व का विलय तथा इस शान्ति को मरण की शान्ति समझते हैं। उनका विचार है कि जब जगत् की सत्ता नहीं रहती, जब जीव का व्यक्तित्व अनन्त की अवैयक्तिक शून्यता में विलय हो जाता है, जब सक्रिय जीवन का अन्त होजाता है, तो यह मोक्ष और शान्ति की अवस्था मृत्यु और विनाश की अवस्था से किस अर्थ में भिन्न है ? इस प्रकार का विचार वेदान्तिक मोक्ष की अवस्था के विषय में एक महान् भ्रान्ति के ऊपर आश्रित है। आध्यात्मिक साधना का पर्यवसान मोक्ष में होता है जो पूर्ण शान्ति तथा अनन्त आनन्द मय है, किन्तु यह शान्ति मृत्यु की शान्ति नहीं और न यह अनन्त आनन्द अनुभव-शून्यता है। यह शान्ति उच्चतम जीवन से अनुप्राणित है जिसमें आध्यात्मिक साधना और नैतिक नियम की अवस्था के संघर्ष और उष्णता का मोक्ष के आलोक तथा आत्मिक शान्ति के आनन्द में पर्यवसान

होता है। नैतिक विकास तथा नैतिक कर्म का मोक्ष की नित्यता से कोई असामंजस्य नहीं, तथा आत्मानुभव में सहकारी होने में सभी साधनों की सार्थकता है। उसी प्रकार श्रेष्ठ नैतिक कर्म सत्य और मोक्ष के स्तर से पतन नहीं है वरन् उनकी सिद्धि की एक स्वाभाविक अभिव्यक्ति हैं। जीवन के सामान्य व्यवहार तथा विषय-जगत् की सत्ता का वेदान्त में निषेध नहीं किया गया है। वेदान्त का उद्देश्य जीवन और जगत् के विषय में अज्ञान-मय दृष्टिकोण का निवारण है, जीवन का अन्त और जगत् का विनाश नहीं। वेदान्त में जगत् को माया कहा गया है, जिसका अर्थ सामान्य रूप से मिथ्या समझा जाता है। किन्तु हम पीछे स्पष्ट कर चुके हैं कि माया का अर्थ जगत् की काल्पनिक प्रतीति नहीं, वरन् हमारे तद्विषयक दृष्टिकोण गत अज्ञान है। ईश्वर की रहस्यमयी सृजन शक्ति के रूप में भी माया जगत् की सत्ता पर आघात नहीं करती। अध्यास-भाष्य में, जिसमें श्री शंकराचार्य के वेदान्त का सार निहित है, विषय और विषयी की अत्यन्त विविक्त सत्ता का प्रतिपादन किया गया है।[१] अपने भाष्यों में श्री शंकराचार्य ने बौद्ध वैनाशिकों के मत से वेदान्त मत के भेद पर ज़ोर दिया है। विज्ञान-वाद के खण्डन-प्रसंग में उन्होंने बड़ी उग्रता से विषत-जगत् की सत्ता का प्रदिपादन किया है। यद्यपि अपने मत के समर्थन के स्वार्थवश डॉ० अर्कहार्ट इसे तात्कालिक समझौता मात्र मानते हैं; प्रो० राधाकृष्णन् के विचार से 'विज्ञान वाद का खण्डन विषयी से बहिर्भूत विषय-जगत् की सत्ता का निर्णा-यक है।'[२] कदाचित् डॉ० अर्कहार्ट श्री शंकराचार्य के विचार को स्वयं श्री शंकराचार्य से भी अधिक समझते हो, किन्तु यह सन्देह पूर्ण है; अथवा श्री शंकराचार्य स्वयं अपने को ही प्रवंचित कर रहे हों, किन्तु यह उनके जैसे उच्चकोटि के दार्शनिक के लिये सम्भव नहीं है। अतः इस विषय में प्रो० राधाकृष्णन् का मत अधिक मान्य है। इस प्रसंग में प्रो० हिरियन्ना ने कहा है कि श्री-शंकराचार्य के मत के विषय में यह विचारणीय है कि "विषय (object) विज्ञान (idea) नहीं वरन् 'विज्ञान का विषय' है। यह जन-मत बड़ा ही भ्रान्त है कि श्री शंकराचार्य विषय को मिथ्या अथवा

---

१. युष्मदस्मत्प्रत्ययगोचरयोः विषयविषयिणोःतमःप्रकाशवद् विरुद्ध स्वभावयोः—अध्यासभाष्य

२. Indian Philosophy. Vol. I. P. 582.

असत्य मानते थें। यह तो दूर रहा उन्होंने तो भ्रान्ति-विषय के लिये एक भिन्न कोटि के (प्रातिभासिक) सत्य की श्रेणी में स्थान देने का प्रयत्न किया है।"[3] अद्वैतब्रह्मसिद्धिकार ने विषयी से विविक्त विषय की सत्ता को ही विज्ञानवाद से वेदान्त का भेदक माना है।[४] श्री शंकराचार्य ने अर्थ और ज्ञान के भेद को स्वीकार किया है।[५] विषय (अर्थ) विज्ञान मात्र नहीं वरन् विज्ञान का विषय है।

किन्तु ऐसा कहा जाता है कि श्री शंकराचार्य ने ज्ञान-गत विषय पदार्थ की बाह्यता को चरम नहीं माना है। जगत् की बाह्य विषय रूप से सत्ता है, किन्तु वह व्यावहारिक है पारमार्थिक नहीं। जगत् के पारमार्थिक सत्य न होने का अर्थ यह है कि वह तभी तक सत्य है जब तक प्रतीत होता है। और जगत् की प्रतीत ज्ञानावधि है; मोक्ष के बाद इसकी सत्ता नहीं रहती। मोक्ष से जगत् का बाध हो जाता है; बाध का अर्थ सत्ता का अन्त है। जगत् माया है जो सत्य के प्रकाश के सामने विलीन हो जाती है। किन्तु 'माया का अर्थ असत्ता नहीं है'[६] जैसा कि प्रो० राधाकृष्णन् का मत है 'जगत् मिथ्या प्रतिभास नहीं है, यद्यपि वह सत्य भी नहीं है।'[७] उनके मत में 'जगत् असत्य अवश्य है किन्तु प्रतिभास मात्र नहीं है।'[८] यह एक व्यावहारिक सत्य है, किन्तु कल्पना नहीं है। किन्तु जगत् की व्यावहारिक सत्यता का अर्थ यह नहीं है कि मोक्ष के साथ उसकी सत्ता का नाश हो जाता है, वरन् यही है कि वह ऐकान्तिक सत्य नहीं है। व्यवहार और परमार्थ ज्ञान के दो दृष्टि कोण मात्र हैं, सत्य की दो पृथक् कोटियाँ नहीं; वे ज्ञान के विपरीत पक्ष है, किन्तु सत्ता के दो विरोधी धरातल नहीं। जगत् की व्यावहारिक सत्यता और परमार्थिक असत्यता का अर्थ असत्ता नहीं है, वरन्

---

३. Outlines of Indian Philosophy. P. 351.

४. न ब्रह्मवादिनो नीलाद्याकारवित्तिमात्रमभ्युपगच्छन्ति किन्तु वक्ष्यमाणा-निर्वचनीयनीलादिविषयम्। वयं तु विज्ञानस्यान्तरं नीलादिरूपमाचक्ष्महे इति विशेषम्। अद्वैत ब्रह्मसिद्धिः २

५. तस्मादर्थज्ञानयोर्भेदः ब्र० सू० भा० २-२-२८.

6. Eastern Religions & western thought p. 86.

7. ibid p. 86.

8. Indian Philosophy Vol II p. 583

सापेक्ष सत्यता है। ब्रह्म के समान जगत् की पारमार्थिक सत्यता नहीं है। किन्तु व्यवहार और परमार्थ का यह भेद ही व्यावहारिक है, क्योंकि व्यावहारिक जगत् की ब्रह्म में सर्वदा सत्ता है। ब्रह्म के साथ अपृथक्-तादात्म्य सम्बन्ध से जगत् की सत्ता सनातन है। ब्रह्म से पृथक् इसकी सत्ता नहीं है। यदि ब्रह्म से पृथक् इसकी सत्ता की कल्पना की जाय तो यह मिथ्या है, किन्तु ब्रह्म से पृथक् जगत् की सत्ता कल्पना मात्र है। अतः ब्रह्म के साथ अपृथक् तादात्म्य-सम्बन्ध से जगत् सर्वदा सत्य है। माया वस्तुस्वरूप के विषय में भ्रान्ति और अज्ञान है, एक प्रातिभासिक सत्ता की सृष्टि करने वाली तात्विक अविद्या-शक्ति नहीं। प्रो० राधाकृष्णन् के मतानुसार 'भ्रान्ति का मूल तर्क-गत (logical) तथा मनोगत (Psychological) है, तात्विक (metaphy sical) नहीं। प्रपंचात्मक जगत् ज्ञान-गत भ्रान्ति है।'[9] मोक्ष केवल वस्तु-स्वरूप का ज्ञान है, जगत् की सत्ता का विनाश नहीं। प्रो० राधा-कृष्णन् का कथन है कि 'भ्रान्ति का परिशोध विचार का परिवर्तन मात्र है। रज्जु सर्प की भाँति प्रतीत होती है जब भ्रान्ति दूर हो जाती है तो सर्प के स्थान पर रज्जु का दर्शन होने लगता है। उसी प्रकार व्यावहारिक जगत् का ब्रह्मानुभव रूप से परिणाम हो जाता है। जगत् की सत्ता का नाश नहीं होता, उसका स्वरूप परिणत हो जाता है।'[10] श्री शंकराचार्य का मोक्ष-सिद्धान्त इस सिद्धान्त का समर्थन करता है। उनका मत है कि मोक्ष का अर्थ जगत् का विलय नहीं है, यदि ऐसा होता तो प्रथम मुक्ति के साथ ही उसका विलय हो जाता।[11] मुक्ति की अवस्था में प्रपंचात्मक जगत् विलीन नहीं हो जाता किन्तु वह एक नवीन प्रकाश से आलोकित हो उठता है।[12] मुक्ति से जगत् की सत्ता में कोई अन्तर नहीं आता, केवल उसके विषय में हमारा दृष्टिकोण बदल जाता है।[13] अस्तु, मोक्ष जगत् की सत्ता का नाश नहीं है। बाध का अर्थ एक कोटि के 'अनुभव' द्वारा दूसरी कोटि के 'अनुभव' का बाध है, एक कोटि की 'सत्ता' द्वारा दूसरी कोटि की

---

9. Indian Philosophy Vol II P 583
10. ibid p 583.
11. ibid p. 637.
12. ibid p. 684.
13. ibid p. 637

'सत्ता' का बाध नहीं। ज्ञान जगत् के प्रति हमारे दृष्टि कोण को बदल देता है, उसे विनष्ट नहीं करता। मोक्ष और ज्ञान कोई कालावच्छिन्न घटना नहीं है, जो वह जगत् की सत्ता की अवधि हो। श्री शंकराचार्य ने मोक्ष के प्रसंग में समस्त व्यवहार के अभाव की चर्चा की है, किन्तु यह व्यवहारा-भाव कोई कालगत अवस्था-विशेष नहीं है।[१४] बृहदारण्यक-उपनिषद्-भाष्य में उन्होंने ब्रह्मज्ञानी और अज्ञानी दोनों के लिए ही व्यवहार का विधान किया है।[१५] इस सब का समाधान तभी हो सकता है जब हम मोक्ष को एक मनोवृत्ति मात्र मानें। मोक्ष का अर्थ अद्वैत ज्ञान है, श्रीशंकराचार्य ने स्वयं अद्वैत-ज्ञान को एक मनोवृत्ति मात्र बतलाया है।[१६] जीवन और जगत् के प्रति दृष्टि कोण के परिवर्तन का अर्थ उनके मूल्यों का पुनर्मूल्यांकन हो सकता है, किन्तु इससे उनके सत्ता-गत मूल्य में कोई अन्तर नहीं आसकता। मोक्ष समस्त सत्ता के एकत्व का अनुभव है। चरम आध्यात्मिक एकत्व हमारी सत्ता का चरम सत्य है तथा हमारे जीवन का परम श्रेय भी है।

## २—मोक्ष और व्यक्तित्व

मोक्ष प्रत्येक व्यक्ति का आध्यात्मिक लक्ष्य है। वह प्रत्येक व्यक्ति के लिये साध्य है, अतः उसकी प्राप्ति एक व्यक्तिगत सिद्धि है। अनन्त की साधना और प्राप्ति वेदान्त की मूल प्रेरणा है, अतः उसमें अन्य मित व्यवहार-कोटियों को अधिक महत्त्व नहीं दिया गया है। किन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं है कि वे मिथ्या हैं और वेदान्त में उनके लिये कोई स्थान नहीं है। उनका अस्तित्व और मूल्य स्वीकार करते हुए भी उन्हें ऐकान्तिक अथवा चरम नहीं माना गया है। अनन्त ब्रह्म के साथ अपृथक्-तादात्म्य-सम्बंध से वे सत्य हैं। ब्रह्म से पृथक् उनकी सत्ता सम्भव नहीं, अतः उनके स्वतंत्र अस्तित्व की सत्यता का हठ एक कल्पना को सत्य का पद देना है। इसके अतिरिक्त जीव की प्रकृति का विश्लेषण करने पर हम देखते हैं कि वह कोई कठोर परि-

---

१४. नायं व्यवहाराभावोऽवस्थाविशेषोपनिबद्धोऽभिधीयते। ब्र० सू० भा० २-१-१४।

१५—अस्ति चायं भेदकृतो मिथ्याव्यवहारः येषां ब्रह्मतत्वादन्यत्वेन वस्तु विद्यते येषां च नास्ति बृह० भा० ३-५-१।

१६—अद्वैतज्ञानं मनोवृत्तिमात्रम् छां० भा० १-१-१।

च्छिन्न पदार्थ नहीं है। परिच्छिन्नता इसकी भौतिक सत्ता का प्रकार है, उसके आध्यात्मिक स्वरूप का सत्य नहीं। परिच्छिन्न जीव के अन्तर्गत एक अनन्त आत्मा विद्यमान है[१७] परिच्छिन्न की चेतना में भी एक अनन्त तत्व की सत्ता अन्तर्भूत है। समस्त परिच्छिन्न पदार्थ-जगत् से अपने को विविक्त करने वाले एक आत्मतत्व की प्रत्यक्-चेतना, उसकी अनन्तता तथा चिरन्तनता का प्रमाण हैं। यह प्रत्यक्-चेतना अपने स्वरूप-लाभ के लिये सदा सयत्न सी जान पड़ती है। भौतिक जीवन के कोलाहल में भी हमारी अन्तरात्मा की वह गूढ़ पुकार सुनी जा सकती है। यदि आत्मा में अपने अनन्त स्वरूप की प्राप्ति की प्रेरणा अन्तर्निहित न होती तो प्रत्येक जीव अपनी स्थिति से सन्तुष्ट रहता और आत्म विकास की कोई चेष्टा न करता। मनुष्य की उत्तरोत्तर विकास-मुखी प्रवृत्ति में प्रत्यक् चेतन आत्म-तत्व की अभिव्यक्ति होती है।[१८] प्रत्येक परिच्छिन्न जीव-भूत किसी आत्मातीत श्रेय की साधना में लीन है और अपनी परिच्छिन्नता से मुक्त होकर पूर्णता की कामना करता है।[१९] अनन्त की यह आकांक्षा उसकी अन्तः प्रेरणा होने के कारण एक प्रवृति सी बन गई है। कोई भी मनुष्य अपनी परिच्छिन्नता से सन्तुष्ट नहीं है। उसकी आत्मा सीमाओं के बन्धन के प्रति सदा आकुल रहती है तथा निर्बन्ध मुक्ति के लिये आतुर रहती है। मनुष्य स्वभाव से ही अन्य जीवों में अपनी आत्मा का विकास खोजता है, चाहे वह परिवार, वर्ग, समूह, राष्ट्र अथवा विश्व हो। प्रत्येक मनुष्य अपने से महत्तर स्वरूप में अपनी आत्मा का विकास खोजता है। आत्म-विकास की इस आकांक्षा का पर्यवसान अनन्त और सार्वभौम सर्वात्मभाव में ही है। महात्माओं तथा महापुरुषों के जीवन का तो यह एक ऐतिहासिक सत्य रहा है। उनके जीवन का उद्देश्य राजनीतिक अथवा भौतिक न होकर आध्यात्मिक था। अतः सर्वात्मभाव उनके जीवन का सिद्धांत और संदेश था। बुद्ध तथा श्रीकृष्ण, ईसा तथा गाँधी के प्रेम और करुणा की कोई सीमा नहीं थी। वह अनन्त और चिरन्तन थी। किन्तु अनन्त होने के कारण वह अवैयक्तिक नहीं। व्यक्तित्व कोई कठोर रूप से परिच्छिन्न तत्व नहीं है। वह चेतना की एक-केन्द्रीयता है जिसका आत्मिक अनन्तता से कोई विरोध नहीं है। व्यक्ति

---

१७. Indian Philosophy vol. I. p. 203.

१८. सर्वो हि उपर्युपरि बुभूषति लोकः। क० भा० १-१-२८

१९. Ind. ph. vol. I. p. 203.

कोई गणित का अंक अथवा बिन्दु नहीं है। व्यक्तित्व का सार अनन्यता है जिसका आत्मा की अनन्तता से कोई विरोध नहीं। जीवन में नहीं केवल बेन्थम ( Bentham ) के स्वप्नलोक ( Utopia ) में प्रत्येक मनुष्य गणित की एक इकाई है। जीवन में प्रत्येक मनुष्य एक से अधिक का व्यंजक है। जितने अधिक मनुष्यों की व्यंजना उसके व्यक्तित्व में होगी उतना ही उसमें मनुष्यत्व अधिक होगा; सच्चा और पूर्ण मनुष्य मनुष्यमात्र का व्यंजक है। उदार चरित वालों के लिये समस्त भूमण्डल एक कुटुम्ब के समान है[२०] यह जीवन और सत्य की भारतीय-भावना का सूचक एक प्राचीन वचन है। ईश्वर ने जगत् की सृष्टि अस्वाभाविक परिस्थित में नहीं की तथा आत्मा कोई परिगण्य वस्तु नहीं है। वह एक अनन्त और निरन्तन तत्व है। इसकी अभिव्यक्ति और स्वरूप-प्राप्ति के साधन-भूत परिच्छिन्न केन्द्र रूप जीवों से इसकी अनन्तता का विरोध नहीं है। मित न अनन्त का प्रतियोगी है, न विरोधी। यह उसकी अभिव्यक्ति और स्वरूप लाभ का एक प्रकार मात्र है, जिसमें न उसकी नित्यता और न अनन्तता को आघात पहुँचता है। और न सत्ता और चेतना के विविध परिच्छिन्न केन्द्रों में आत्मा की अनन्तता की अभिव्यक्ति में कोई व्याघात है। यही सरल किन्तु दुर्ग्राह्य सत्य बृहदारण्यक के विरोधी प्रतीत होने वाले शान्ति पाठ का रहस्य है[२१] और यही सत्य आत्म-ज्ञान और मोक्ष के वेदान्तिक सिद्धान्त का मूल आधार है।

शांकर-वेदान्त के अनुसार मोक्ष हमारी व्यक्तिगत सत्ता का विनाश नहीं वरन् एक अनन्त व्यक्तित्व के रूप में उसका विकास है। प्रो० राधाकृष्णन् के शब्दों में 'मनुष्य का लक्ष्य निरन्तर अपने व्यक्तित्व का विकास है जब तक वह अपने अन्तर्निहित तथा चरम स्वरूप की प्राप्ति न करले जिसे जीवन के परिच्छिन्न रूप आवृत करते हैं अथवा अपूर्ण रूप से अभिव्यक्त करते हैं। इस प्रक्रिया में हमारे व्यक्तित्व का विनाश नहीं होता वरन् वह सार्वभौम सत्ता के एक सजीव प्रतीक सर्वातीत् ब्रह्म के एक सवाक् प्रतीक के रूप में परिणत हो जाता है। उपदेश और ज्ञान दोनों आध्यात्मिक व्यक्तित्व में फलीभूत हो जाते हैं।[२२] व्यक्तित्व हमारी सत्ता की

२०. उदारचरितानांतु वसुधैव कुटुम्बकम्।

२१. ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णमुदच्यते।
पूर्णस्य पूर्णमादायपूर्णमेवावशिष्यते॥

२२. Eastern Religions & Western thought p. 37

इकाई नहीं वरन् हमारी चेतना की अखण्डता है—जीवत्व चेतना की परिच्छिन्नता नहीं केन्द्रीयता है। व्यक्तित्व एक परिच्छिन्न कोटि है तथा जीवत्व एक पृथक् इकाई है, यह भ्रान्त भावना ही इस मत का आधार है कि वेदान्त में व्यक्तित्व के लिये स्थान नहीं है। वेदान्त-दर्शन के सिद्धान्तों का सूक्ष्म पर्यवेक्षण करने पर विदित होगा कि वेदान्त में दोनों को अधिकतम मूल्य और महत्व दिया गया है। वेदान्त साधना की समस्त प्रक्रिया का आधार व्यक्ति है। मोक्ष की प्राप्ति भी व्यक्तिगत है। यदि व्यक्ति और जीव मिथ्या होते तो वेदान्त दर्शन के अस्तित्व की सम्भावना भी नहीं की जा सकती। वेदान्त के ही अनुसार स्वयं वेदान्त एक महान् असत्य सिद्ध होता। जिस प्रकार लाइब्नीज़ ( Leibnitz ) के जगत् में स्वयं लाइब्नीज़ के लिये अथवा स्पिनोज़ा ( Spinoza ) के जगत् में स्वयं स्पिनोज़ा के लिये स्थान नहीं है, उसी प्रकार वेदान्त के मत में वेदान्त-दर्शन के ही लिये स्थान न रहेगा। यह कहना कि यह वेदान्त की शिक्षा को सम्भव बनाने के लिये एक उपाय मात्र है, विश्वोत्पादक नहीं। श्री शंकराचार्य ने निस्सन्देह यह कहा है कि एक असत्य भी सत्य का प्रदर्शक हो सकता है, किन्तु वह असत्य कम से कम एक अनुभवगत तथ्य अवश्य होना चाहिए। एक सत्ता-गत तथ्य ही सत्य का प्रदर्शक हो सकता है, किन्तु सत्य के अनुभव के पश्चात् वह तथ्य नष्ट न होकर उस सत्य में ही रूपान्तरित हो जायगा। सत्य के कृत्स्न स्वरूप में उस तथ्य के परिच्छिन्नत्व और पृथक्त्व को एक नवीन अभिव्यक्ति प्राप्त होगी। किन्तु इससे यह सिद्ध नहीं होता कि वह तथ्य असत् होने के अर्थ में असत्य है। श्री शंकर के अनुसार जो असत्य सत्य का प्रदर्शन करने में समर्थ है वह एक अनुभवगत मिथ्याज्ञान है, सत्तागत असत्य अर्थात् असत्ता नहीं। किसी भी पदार्थ की सत्ता के अभाव में भ्रान्ति भी सम्भव नहीं है और न भ्रान्ति में हम उस पदार्थ को देख सकते हैं जिसकी कहीं भी सत्ता नहीं है। यथार्थ ज्ञान होने पर भ्रान्ति के आस्पद पदार्थ का नाश नहीं हो जाता, वरन् केवल हमारे मिथ्या ज्ञान का नाश होता है। अस्तु, श्रीशंकराचार्य के मतानुसार आत्मा की अनन्तता का अनुभव हमारे व्यक्तित्व अथवा जीवत्व का नाश नहीं, वरन् केवल हमारी पृथक्त्व भावना तथा अहङ्कार का नाश है। प्रो० राधाकृष्णन् के अनुसार 'धर्म का लक्ष्य प्राप्त करने के लिये व्यक्तिगत जीवन का विनाश आवश्यक नहीं है। एक श्रेष्ठतर सत्य के आलोक में उसका संस्कार और पुनर्विधान करना है, जिसमें आत्मा की किरण दीप्त होती है और उसका एक

नवीन व्यक्ति के रूप में विकास होता है। वह परिवर्तित व्यक्ति ईश्वर का जन बन जाता है।'[२३] आचार्य और अन्तेवासी तथा श्रुति की सत्ता अनन्त के शून्य में विलीन नहीं हो जाती, किन्तु शिक्षा और साधना काल का सम्बन्ध समाप्त हो जाता है। ज्ञान के आलोक में शिष्य का अज्ञानमय दृष्टिकोण विलीन हो जाता है और विधि के अर्थ में शास्त्र उस पर लागू नहीं होता। यदि मोक्ष और आत्मज्ञान से श्रुति का विलय हो जाता तो वेदान्त के अनुसार ही शेष जीवों के लिये मुक्ति का एक मात्र साधन नष्ट हो जाता। आचार्य के विलय का अर्थ लोक को सत्य के साधन-पथ के प्रदर्शक और आश्रय से वंचित करना होगा।

उपनिषदों में व्यक्ति को सत्य का साधक माना गया है और श्री शंकराचार्य ने भी उसे तथावत् स्वीकार किया है। ब्रह्मसूत्र-भाष्य के आरम्भ में ही साधन-चतुष्टय का निरूपण साधक व्यक्ति को ही ध्यान में रख कर किया गया है। आचार्य को उन्होंने प्रायः ब्रह्मनिष्ठ अथवा ब्रह्मिष्ठ की संज्ञा दी है।[२४] आचार्य के लिए एक अन्यपद 'अपृथक् दर्शी'[२५] भी प्रायः प्रयुक्त हुआ है। यह द्वितीय पद पूर्व पद के अर्थ का व्याख्यान सा है और उसके तात्पर्य को स्पष्ट कर देता है। समस्त पदार्थ जगत् के अधिष्ठान रूप से जिसके अन्तर्गत अपृथक् तादात्म्य-भाव से पदार्थ-मात्र की सत्ता है, उस ब्रह्म का अनुभव कर लेने पर वह ब्रह्मनिष्ठ हो जाता है और समस्त संसार के साथ अपृथक्-भाव का अनुभव करता है। विरोध और परत्व (अन्यत्व) की भावना का, जिसका मूल पृथक्त्व और भेद की कल्पना है, उसके लिये अन्त हो जाता है और उसकी आत्मा से अनन्त प्रेम तथा असीम करुणा की धारा प्रवाहित होने लगती है। वेदान्त के अनुसार यही निःश्रेयस है। किन्तु आत्मा की इस अनन्तन्ता तथा सर्वात्मैकत्व के अनुभव से हमारी भौतिक सत्ता की परिच्छिन्नता का कोई असामंजस्य नहीं है। गुरु एक व्यक्ति रूप से ही साधक व्यक्ति को अध्यात्म में दीक्षित कर उसका पथ प्रदर्शन करता है। ब्रह्मज्ञान प्राप्त कर लेने पर शिष्य की व्यक्तिगत सत्ता नष्ट नहीं हो जाती और न इस ब्रह्म ज्ञान का परिणाम श्रुति और गुरु की सत्ता का विलय है। केवल

---

२३. ibid p. 32

२४. केवलेऽद्वये ब्रह्मणि निष्ठा यस्य सोऽयं ब्रह्मनिष्ठः। मु० भा० १-२-१२

२५. अपृथक् दर्शिणा आचार्येण। क० भा० १-२-८

उसका अज्ञानमय दृष्टिकोण बदल कर विज्ञानमय हो जाता है, जिससे वह अपनी आत्मा की अनन्तता तथा सर्वात्मैकत्व का अनुभव करता है। अज्ञानावस्था के विरोध और भेद का स्थान एकत्व और सामंजस्य ग्रहण कर लेता है। एक बाह्य उपदेष्टा के रूप में गुरु की तथा बाह्य प्रमाण के रूप में श्रुति की सत्ता नहीं रहती। श्रुति-निहित तथा गुरु-विदित सत्य का अपनी आत्मा के सत्य के रूप अनुभव कर साधक मुक्त हो जाता है।

उक्त मत का समर्थन इस बात से और होता है कि श्री शंकराचार्य का वास्तविक मोक्ष-सिद्धान्त जीवन्मुक्ति है, विदेह-मुक्ति नहीं। मृत्यु जीवन का तथ्य ( fact ) है, किन्तु सत्य ( Truth ) नहीं। वह एक अनिवार्य घटना है, किन्तु चरम सिद्धान्त नहीं। श्रीशङ्कराचार्य के लिये मृत्यु का शरीरावसानरूप भौतिक-पक्ष इतना महत्व पूर्ण नहीं जितना नश्वर के प्रति 'अहंकार' 'ममत्व' की भावना में निहित अज्ञान का मानसिक पक्ष। हमारी सत्ता के एक पक्ष के रूप में शरीर हमारा है, किन्तु वह हमारी आत्मा नहीं है। हमारी भौतिक सत्ता में अन्तर्निहित एक गूढ़तर आध्यात्मिक तत्व है जो उससे विविक्त है। हम अपनी अपरोक्ष और अन्तर्तम चेतना के रूप में इस तत्व का प्रत्यक्ष अनुभव करते हैं। भौतिक जीवन की उपाधियों के आवरण के कारण हम आत्मा और अनात्मा में विवेक नहीं कर पाते और एक पर दूसरे के गुण तथा स्वभाव का अध्यारोपण करते हैं। इस अविवेक जन्य भ्रान्ति से ही शरीर एवं नश्वर वस्तुओं में हम आत्मभाव की कल्पना करते हैं तथा अपनी मरणशीलता में विश्वास करने लगते हैं। श्रीशङ्कराचार्य के मत में मृत्यु एक प्राकृतिक प्रक्रिया ( Natural Phenomenon ) है और नश्वर पदार्थों की अनिवार्य नियति है। किन्तु आत्मा, जो सबसे विविक्त है, अनश्वर और अमृत है। आत्मा के इस अमृतत्व का अनुभव ही मृत्यु के पाश से मुक्ति है। अपने अमृत और चिरन्तन आध्यात्मिक स्वरूप का अनुभव कर लेने पर हमें इससे भीत होने की आवश्यकता नहीं है। यदि मृत्यु आती है तो वह एक अनिवार्य प्राकृतिक घटना के रूप में आती है, जिसका प्रभाव हमारी भौतिक सत्ता पर पड़ता है, हमारे आध्यात्मिक स्वरूप पर नहीं। अस्तु, श्रीशङ्कराचार्य के अनुसार न भौतिक सत्ता का आत्मानुभव से कोई असामंजस्य है और न मृत्यु हमारी आत्मिक सत्ता का अवसान है। यह अपने प्रकृत रूप से आती है, किन्तु इससे हमारे सत्य-स्वरूप पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। मोक्ष इस जगत् में ही

इसी जीवन के अन्तर्गत प्राप्य है तथा मोक्ष में प्राप्त उसकी आध्यात्मिक सत्ता मृत्यु के बाद भी अक्षुण्ण रहती है।[२६] वेदान्तिक साधना का समस्त स्वरूप व्यक्तिगत है। प्रगति तथा जीवन का मोक्ष से और भौतिक सत्ता का आत्मज्ञान से सामंजस्य मोक्ष के व्यक्तिगत साध्य और सिद्धि होने का समर्थन करता है। श्री शङ्कराचार्य ने लोक संग्रह को मुक्तों का स्वाभाविक कर्तव्य माना है। अतीत काल में कुछ जीवों के मुक्ति प्राप्त करने की तथा कुछ के अधिकारी रूप से पुनः जगत् में अवतीर्ण होने की चर्चा भी वेदान्त में आती है। इससे मोक्ष का व्यक्तिगत होना तथा व्यक्तिगत भौतिक सत्ता से उसका समंजस-पूर्ण होना और भी पुष्ट होता है। सर्वमुक्ति की कल्पना शंकरोत्तर-वेदान्त का सिद्धान्त है। इसकी आवश्यकता उत्तर वेदान्त में बद्ध जीवों के प्रति मुक्तों की उदासीनता का सिद्धान्त रूढ़ हो जाने के कारण हुई। इसका मूल कारण यह भ्रान्त भावना थी कि मुक्ति का जीवन और व्यक्तिगत सत्ता से कोई सामंजस्य नहीं है। सर्वमुक्ति के सिद्धान्त को मानने वालों की भाँति श्री शङ्कराचार्य भी मुक्तों को बद्ध जीवों के उत्तरदायित्व से मुक्त नहीं करना चाहते। वह उत्तरदायित्व केवल उन पर भार नहीं है। आत्म-ज्ञानी के लिये लोक-संग्रह एक स्वाभाविक कर्तव्य है। अन्य जीवों को मोक्ष-साधन में सहायता देकर ही वे लोक संग्रह कर सकते हैं।

अस्तु श्री शङ्कराचार्य के मतानुसार मोक्ष का जीवन तथा लोक-कल्याणार्थ कर्म से कोई असामंजस्य नहीं है, अतः उसका मनुष्य के व्यक्तिगत और भौतिक अस्तित्व से भी कोई विरोध नहीं है। मोक्ष हमारी व्यक्तिगत सत्ता का किसी अवैयक्तिक तत्त्व में भौतिक अथवा पारमार्थिक विलय नहीं है, वरन् हमारे आध्यात्मिक स्वरूप का एक अनन्त व्यक्तित्व के रूप में विकास है। हमारी व्यक्तिगत सत्ता में अन्तर्निहित अध्यात्म तत्व इस अर्थ में तो अवैयक्तिक अवश्य है कि वह सार्वभौम है, विशिष्ट नहीं, किन्तु एक व्यक्ति द्वारा उसकी प्राप्ति निश्चय ही एक व्यक्तिगत सिद्धि है। वह अध्यात्म तत्व अपने स्वरूप में चिन्मात्र हैं, किन्तु उसका अनुभव आत्म चेतना के रूप में होता है, तथा 'अहं ब्रह्मास्मि, के रूप में उसकी अभिव्यक्ति होती है। चेतना की केन्द्रीयता का आत्मा की अनन्यता से कोई असामंजस्य नहीं। श्री शङ्करा

---

२६. स एवं लक्षणो विद्वान् जीवन्नेव स्वाराज्येऽभिषिक्तः पतितेऽपिदेहे स्वराडेव भवति। छां० भा० ७-२५-२

चार्य इन दोनों को समंजस पूर्ण मानते हैं इसका यही प्रमाण है कि विषय रूप से आत्मा की ज्ञेयता का निषेध करते हुए भी वे अपने मत को विज्ञान वाद से विविक्त रखते हैं तथा आत्मा को 'अस्मत्प्रत्यय विषय' मानते हैं। आत्मा सामान्य विषय की भाँति ज्ञेय नहीं है, किन्तु वह नितान्त अविषय भी नहीं है क्योंकि वह 'अस्मत्प्रत्यय का विषय है।'[२७] आत्मा हमारी चेतना में विक्षिप्त विज्ञानमात्र नहीं है, वरन् वह चिन्मात्रतत्व हमारे 'अस्मत्प्रत्यय' में आत्मचेतन हो गया है। जिस तत्व के माध्यम से सत्य अभिव्यक्त होता है, उस तत्व का सत्य के स्वरूप से असामंजस्य नहीं हो सकता। चरम अनुभव अपने ब्रह्म स्वरूप का बोध है जिसके प्राप्त होने पर सर्वात्मभाव सिद्ध होता है। विषय और विषयी का भेद तर्क शास्त्र की दृष्टि से कितना ही महत्व पूर्ण हो, किन्तु इस विषय में अप्रासंगिक है। 'अहम्' और 'ब्रह्म' न्याय-वाक्य में चाहे दो पद ( terms ) हों, किन्तु अनुभव में दो पृथक् तत्व ( entities ) नहीं हैं। 'जीव' और 'ब्रह्म' दोनों ही चैतन्य तत्व है, किन्तु श्री शङ्कराचार्य ने दो चैतन्य तत्वों की सम्भावना का स्पष्ट निषेध किया है।[२८] अस्तु, ब्रह्मानुभव को विषयी द्वारा विषय-ज्ञान की कोटि का ज्ञान नहीं माना जा सकता। वह एक व्यक्ति द्वारा अपने चरम अध्यात्म स्वरूप ( जिसे ब्रह्म कहते हैं ) के अपरोक्ष और अन्तर्तम अनुभव के रूप में ही अवगम्य है। इस अपरोक्ष आत्मानुभव को न्याय-वाक्य का रूप देने की चेष्टा एक कोटि के अनुभव को अपर कोटि के अनुभव द्वारा समझने की चेष्टा के समान, एक जीवित प्राणी को उसके अंग विभाग द्वारा समझने की चेष्टा के समान, एक चित्र को वर्ण भंगिमा के रूप में समझने की चेष्टा के समान, एक कविता को शब्दों के द्वारा, एक नृत्य को हाव-भाव अंग-भंगिमाओं के द्वारा समझने की चेष्टा के समान है। ब्रह्म ज्ञान एक अखण्ड अनुभव है, जो स्वातिरिक्त किसी अन्य ज्ञान द्वारा अवगम्य नहीं है। यद्यपि यह हमारी अनन्तता का साक्षात्कार है फिर भी इसका केन्द्र हमारी व्यक्तिगत सत्ता में है। जीवत्व हमारी सत्ता की अखण्डता है और व्यक्तित्व चेतना

---

२७. न तावदयमेकान्तेनाऽविषयः अस्मत्प्रत्ययविषयत्वात्।

ब्र० सू० भा० १-१-१

२८. एको हि प्रत्यगात्मा भवति न हि दौ प्रत्यगात्मानौ सम्भवतः।

ब्र० सू० १-२-२०

की केन्द्रीयता है। मोक्ष न हमारी सत्ता का विखण्डन है और न हमारी चेतना का विकेन्द्री-करण वरन् दोनों का एक अनन्त आत्मा के रूप में विकास है। जीवात्मा कोई परिच्छिन्न द्रव्य नहीं, वरन् केन्द्रित आत्मा है। श्री रामानुज के विरुद्ध जो जीव को अणु मानते हैं, श्रीशङ्कराचार्य ने जीव को विभु माना है। यह सिद्धान्त और भी इस मत की पुष्टि करता है कि आत्मा की अनन्तता का हमारी सत्ता की अखण्डता तथा चेतना की केन्द्रीयता से कोई विरोध नहीं है। अतएव व्यक्तित्व से भी उसका कोई विरोध नहीं है।

इसके अतिरिक्त मनोवृत्तिमात्र रूप से मोक्ष की कल्पना और भी इस मत का समर्थन करती है कि मोक्ष व्यक्तित्व का विनाश नहीं है, किन्तु हमारी आत्मा और दृष्टि कोण का विकास है, जिससे हमारा व्यक्तित्व पूर्णता को प्राप्त करता है। जब मुक्त की व्यक्तिगत सत्ता का मोक्ष से कोई विरोध नहीं है तो मोक्ष में चेतना की केन्द्रीयता का विलय भी मान्य नहीं हो सकता क्योंकि वह व्यक्तिगत सत्ता का सार है। आत्म-ज्ञान द्वारा हमारी भावना का स्वरूप परिणत हो जाने के कारण अहंकार और पृथकत्व का भाव विलीन हो जाता है, किन्तु हमारे व्यक्तित्व की अखण्डता और चेतना की केन्द्रीयता अक्षुण्ण रहती है।

## ३—मोक्ष और जीवन

मोक्ष का अभिप्राय जगत् की सत्ता का अन्त अथवा जीव के व्यक्तित्व का विनाश नहीं है, अतः जीवन और उसके धर्म से भी मोक्ष का कोई असामंजस्य नहीं हो सकता। ब्रह्म के साथ तादात्म्यभाव प्राप्त कर यह जगत् एक नया महत्व ग्रहण कर लेता है, आध्यात्मिक अनन्तता के रूप में व्यक्तित्व एक नई कोटि प्राप्त कर लेता है और जीवन आत्मतन्त्र तथा परार्थ होकर एक नया मूल्य प्राप्त कर लेता है।

ब्रह्मज्ञान जीवन और उसके धर्म के प्रति एक नवीन दृष्टिकोण मात्र है, जीवन का विनाश और उसके धर्म का अवसान नहीं। बृहदारण्यक-उपनिषद्-भाष्य में श्री शंकराचार्य ने कहा है कि 'यह भेद कृत लोक व्यवहार ब्रह्मतत्व से पृथक् वस्तु देखने वाले अज्ञानी तथा ब्रह्मतत्व से पृथक् कोई वस्तु न देखने वाले ब्रह्मज्ञानी के लिए समान रूप से विद्यमान रहता है'।[२९] जो भेद और

२९. अस्ति चायं भेदकृतो मिथ्याव्यवहारः येषां ब्रह्मतत्वादन्यत्वेन वस्तु विद्यते येषां च नास्ति। बृह० भा० ३-५-१

प्रपंच में भ्रान्त है तथा जो प्रपंचान्तर्गत आत्म-तत्व का विज्ञाता है उन दोनों के लिए लोक व्यवहार की सत्ता समान है। गीता भाष्य की श्री शंकराचार्य ने भूमिका में स्पष्ट रूप से लोकसंग्रहार्थ कर्म को ईश्वर की स्वतन्त्रता से सामंजस्य पूर्ण माना है।[30] अन्यत्र वे लोक संग्रहार्थ कर्म को मुक्त पुरुष का एकमात्र कर्तव्य मानते हैं और उसके लिये अन्य किसी कर्तव्य का विधान स्वीकार नहीं करते।[31]

सूक्ष्म रूप से श्री शंकराचार्य के कर्म-विषयक मत का विश्लेषण करने पर ज्ञात होगा कि व्यवहार के क्रियात्म (conative aspect) मात्र का मोक्ष से कोई विरोध नहीं है, सामान्य लोक व्यवहार का विधि पक्ष (injunctive aspect) और अहंकार-प्रसंग ब्रह्मज्ञान से असामंजस्य पूर्ण अवश्य है। कर्म से श्रीशंकराचार्य का अभिप्राय शास्त्र द्वारा पुरुष के लिये विहित कर्म से है।[32] यदि श्री शंकराचार्य-कृत कर्म-व्याख्या में कर्मकाण्ड के समानार्थक होने में संदेह भी किया जाय तो भी उसका विधि-पक्ष तो असन्दिग्ध है, और अहंकार का भाव तो सभी सामान्य कर्म में समान है। यह अहंकार कर्तृत्व-भावना के रूप में अपने को व्यक्त करता है। यह कर्तृत्व भावना ही हमारा अज्ञान है, और अज्ञान समस्त अनर्थों का मूल है। मोक्ष आत्मा के वास्तविक स्वरूप का ज्ञान है। आत्मा अकर्त्ता है अतः कर्तव्य-भावना का तथा तन्मूलक अहंकार का निवारण ही ज्ञान अथवा मोक्ष है। आत्मा वह चरम आध्यात्मिक तत्व है जो समस्त ज्ञान और व्यवहार का अन्तर्गत आधार है। यह ज्ञान का कर्त्ता नहीं है क्योंकि कर्त्ता (subject) एक सापेक्ष पद है जो कर्म (object) के प्रसंग से ही समझा जा सकता है और आत्मा दोनों का अन्तर्गत आधार है। इसी प्रकार आत्मा व्यवहार-कर्म का भी कर्ता नहीं है। कर्म का आधार-भूत तत्व होने के कारण वह कर्म का कर्ता (agent of actions) नहीं माना जा सकता। किन्तु कर्म मिथ्या नहीं है, यद्यपि वह आत्मा

---

३०. तस्य कर्मणि कर्मप्रयोजने च निवृत्तेऽपि लोकसंग्रहार्थं यत्नपूर्वं यथा प्रवृत्तस्तथा एव कर्मणि प्रवृत्त स्ययत्प्रवृत्तिरूपकर्म दृश्यते न तत्कर्म। तत्ववित्तु न अहंकरोमीति न च तत्फलमभिधत्ते। गी० भा० २-११

३१—न आत्मविदः कर्तव्यमस्ति लोकसंग्रहं मुक्त्वा। गी० भा० ३-२६

३२—क्रियाहि नाम सा यत्र वस्तु स्वरूप निरपेक्षैव चोद्यते पुरुषचित्तव्यापाराधीना। ब्र० सू० भा० १-१-४

का स्वरूप नहीं है। यद्यपि समस्त कर्म की आधार भूत आत्मा ही कर्म को सम्भव बनाती है, फिर भी कर्तृत्व का भाव आत्मा के स्वरूप पर अध्यारोपण है। कर्ता इन्द्रियों तथा आत्मा के अन्तर्वर्ती कोई माध्यमिक तत्व है। यह हमारे व्यावहारिक व्यक्तित्व के रूप में व्यक्त एक अनोखा रहस्य है। निस्सन्देह मनुष्य अपने कर्मों का कर्त्ता है और उनका पूर्ण उत्तरदायी है। किन्तु मनुष्य के अन्तर्गत एक आध्यात्मिक तत्व निहित है जो उसके समस्त कर्म और व्यवहार से परे है। उसके व्यावहारिक स्वरूप में अन्तर्निहित इस अध्यात्म-तत्व में ही उसके उद्धार की आशा निहित है। कामना समस्त कर्मों का मूल है और कामना ही कर्तृत्व की अहंकार भावना का कारण है।[33] मनुष्य कामना करता है और विश्वास करता है कि वह अपने काम्य पदार्थ में आत्म लाभ कर रहा है, इसीलिये वह अपने को कर्त्ता समझता है। कर्म जीवन का यथार्थ तथ्य है, किन्तु यह कर्तृत्व की अहंकार मय भावना तात्विक दृष्टि से मिथ्या है।[34] अहंकार जीवन के समस्त अनर्थों का मूल है।[35] वेदान्त का उद्देश्य मनुष्य की यह मिथ्या भावना दूर कर उसे जीवन के प्रति सच्चा दृष्टिकोण देना है। समस्त वेदान्त दर्शन का मुख्य प्रयोजन इस मूल अज्ञान का निवारण ही है। नश्वर पदार्थों में आत्मभाव का अध्यास तथा तन्मूलक कामना जो अहंकारमय कर्म का कारण बनती है अविद्या है। इस अविद्या को कहीं कहीं नाम-रूप प्रपंच के विक्षेप का सिद्धान्त भी बतलाया गया है।[36] किन्तु विक्षेप से वहाँ नाम रूप प्रपंच का आरम्भ (उद्‌भावना) नहीं समझना चाहिये क्योंकि वे ब्रह्म के साथ तादात्म्य-भाव से सदा वर्तमान माने गये हैं। विक्षेप का अर्थ केवल 'यह नाम' 'यह रूप' इस प्रकार व्यवहार में विशेष रूपों से उनकी अभिव्यक्ति मात्र है।[37] अहंकार विशिष्टीकरण ( Particularization ) के इस तात्विक सिद्धान्त का मनोवैज्ञानिक पक्ष है। मानस-जगत् में 'असौ' और 'तत्' 'मम और तव' का रूप ग्रहण कर लेते हैं। 'मम' और 'तव' में

---

३३. कर्महेतुः कामः स्यात्

३४. अहंकार विमूढात्मा कर्त्ताहमिति मन्यते। गीता० ३-२७.

३५. सर्वानर्थहेतुः

३६. अविद्याप्रत्युपस्थापितनामरूप। ब्र० सू० भा० १-४-२२.

३७. असौ नाम अयमिदं रूप इति। छां० भा० ३-२.

विशिष्टीकरण का एक आन्तरिक अनुषंग (subjective reference) है 'असौ' और 'तत्' में केवल वस्तु प्रसंग ( objective reference ) है। किन्तु जीवन और व्यवहार में दोनों मिश्रित और भ्रान्त हो जाते हैं क्योंकि आत्मा तथा अनात्मा का अविवेक ही अज्ञान का स्वरूप है। वह भ्रान्ति 'इदं मम' 'असौ तव' के रूप में व्यक्त होती है।[३८]

अस्तु, जब समस्त सत्ता के एकत्व का तात्विक सत्य अनुभवगत तथ्य बन जाता है, तो प्रपंच-भेद का भाव नष्ट होता है। किन्तु प्रपंच की सत्ता विलय नहीं हो जाती। जगत् की सत्ता का कोई भी अंश नष्ट नहीं होता, वरन् प्रत्येक अंश का आत्म तत्व के साथ अपृथक्-तादात्म्य दिखाई देने लगता है। एकत्व के इस तात्विक सत्य का मनोवैज्ञानिक पक्ष अहंकार का विलय तथा समस्त भूतों की एकता का अनुभव है। जिस प्रकार समस्त सत्ता के एकत्व का तात्विक सत्य प्रपंच की सत्ता का नाश नहीं करता वरन् एकत्व की भावना से उसके भेद को समन्वित कर देता है, उसी प्रकार समस्त जीवों की एकता का अनुभव व्यक्तियों का नाश नहीं वरन् एकत्व भावना में उनका समन्वय कर देता है। जीवों के स्वार्थगत विरोध को दूर कर यह भावना उनमें सामंजस्य स्थापित करती है। यह विरोध ही जीवन के सब अनर्थों का मूल है और उसका सामंजस्य ही आचार-शास्त्र की सनातन समस्या रही है। व्यवहार-कर्म-गत अज्ञान तथा अहंकार का विलय कर्म का नाश नहीं वरन् रूपान्तर है। अहंकार रहित कर्म को श्री शंकराचार्य ने 'अकर्म' कहा है, जिसका अभिप्राय यही है कि वह साधारण अर्थ में 'कर्म' नहीं है।[३९] देह, इन्द्रिय आदि की चेष्टा मात्र का नाम 'कर्म' नहीं है, और न देहादि की निश्चेष्टता तथा मौन बैठना ही 'अकर्म' है।[४०] वास्तव में

३८. तथाप्यन्योऽन्यस्मिन् अन्योन्यात्मकतां अन्योन्यधर्मांश्च अध्यस्य इतरेतराविवेकेन अत्यन्त-विविक्तयो धर्मधर्मिणोर्मिथ्याज्ञाननिमित्तः सत्यानृते मिथुनीकृत्य अहमिदं ममेदमिति नैसर्गिकऽयंलोकव्यवहारः । ब्र० सू० भा १-१-१.

३९. विदुषा क्रियमाणं कर्म परमार्थतः अकर्म एव तस्य निष्क्रियात्मदर्शन सम्पन्नत्वात् । गी० भा० ४-२०.

४०. न चैतत्त्वया मन्तव्यं कर्म नाम देहादिचेष्टा-लोकप्रसिद्धमकर्म तदक्रिया तूष्णीमासनम् । गीता० भा० १-४-१७.

अकर्म कर्म के प्रति दृष्टिकोण का परिवर्तन है। ब्रह्म-ज्ञानी में अहंकार और कर्तृत्व का भाव शेष नहीं रहता, जो साधारण कर्म का लक्षण है, अतः उसका कर्म वस्तुतः अकर्म ही है और उसका जीवन-बन्धनादि फल नहीं होता।' किन्तु ऐसा ब्रह्मज्ञान समस्त कर्म का निरोध नहीं कहा जा सकता, कर्म-निरोध जीवन और उसके धर्म की मृत्यु है। वेदान्त निष्क्रियता और उदासीनता का उपदेश देता है, वह मत वेदान्त की भ्रान्त व्याख्याओं पर निर्भर है। इस प्रसंग में श्री शंकराचार्य के कतिपय वचनों का अशुद्ध अर्थ लगा कर समालोचक उन परिणामों पर पहुँचे हैं जो आचार्य के उद्देश्यों के अनुकूल नहीं है। जिस प्रकार स्वामी विवेकानन्द सक्रियता के आवेश के क्षणों में ऐसे क्रियावाद का उपदेश देते थे जिसके लिये मूल वेदान्त में कोई आधार नहीं है, उसी प्रकार श्री शंकराचार्य अपने अति-दार्शनिक भावावेशों में कुछ निष्क्रियता के-से सिद्धान्त का ही प्रतिपादन करते जान पड़ते हैं। किन्तु जो प्रतीत होता है वही सत्य नहीं है। ब्रह्मसूत्र भाष्य में एक स्थल पर, अलोचकों के अनुसार, उन्होंने निष्क्रियता का प्रतिपादन ही नहीं, सगर्व समर्थन किया है। उनका वचन है कि 'यह हमारा (वेदान्तियों का) अलंकार है कि ब्रह्मात्म-भाव की अवगति होने पर कृत-कृत्यता तथा समस्त कर्तव्यता की हानि हो जाती है।'[४१] अतः मोक्ष के बाद कोई कर्तव्य शेष नहीं रह जाता। 'परमात्मा के यथार्थ स्वरूप का ज्ञान प्राप्त होने पर शान्ति के आचरण के अतिरिक्त और कोई विहित कर्म शेष नहीं रहता'।[४२] माण्डूक्यकारिका की एक उक्ति से ऐसी लक्षणा होती है कि 'अद्वैत-भाव की प्राप्ति के बाद मनुष्य को जगत् में जड़वत् व्यवहार करना चाहिये।'[४३]

इन और ऐसे ही कुछ अन्य वचनों के आधार पर यह परिणाम निकाला गया है कि वेदान्त निष्क्रियता और उदासीनता की शिक्षा देता है। किन्तु यदि इन्हीं बचनों का अधिक सूक्ष्म रूप से तथा अपने पाठ-प्रसंग में विचार

४१. अलंकारो ह्ययमस्माकं यद् ब्रह्मात्मावगतौ सत्यां सर्वकर्त्तव्यता हानिः कृतकृत्यता चेति। ब्र० सू० भा० १-१-४.

४२. न परमात्मयाथात्म्य विज्ञानवतः शमोपायव्यतिरेकेण किञ्चित् कर्म विहितमुपलभ्यते। बृह० भा० १-३-१.

४३. अद्वैतं समनुप्राप्य जडवल्लोकमाचरेत्। मां का २-३६.

किया जाय तो यह सरलता से समझा जा सकता है कि वेदान्तिक आदर्श में जीवन और व्यवहार का निषेध नहीं किया गया है वरन् मोक्ष की अवस्था में भी उन्हें उच्चतम स्थान और श्रेष्ठतम महत्व दिया गया है। मुक्त के लिए कर्म-निषेध करते समय श्री शंकराचार्य का अभिप्राय शास्त्र-विहित कर्म के विधान की प्रयोजनीयता के निषेध से है। शास्त्र द्वारा पुरुष के लिये विहित विधि को ही उन्होंने 'कर्म' कहा है।[४४] इससे ज्ञात होता है कि कर्तव्य-गत अहंकार भावना के प्रसंग के अतिरिक्त कर्म के विहितत्व (injunctiveness) पर ही श्री शंकराचार्य का जोर था। उन्होंने शास्त्रविहित कर्म को 'करण' तथा मनुष्य के स्वतंत्र संकल्प से साधित व्यवहार को 'चरण' कहा है।[४५] इससे स्पष्ट होता है कि स्वतन्त्र नैतिक आचार के सत्य और मूल्य की उन्होंने उपेक्षा नहीं की है। मुक्त के स्वतन्त्र-संकल्प की उन्होंने चर्चा की है। यह स्वतन्त्र-संकल्प बाह्य विधि के नियमन से रहित है। उन्होंने प्रायः कर्म शब्द का प्रयोग शास्त्र विहित अग्निहोत्रादि कर्मकाण्डीय कर्मों के लिये तथा अन्य बाह्य प्रमाण द्वारा विहित कृत्य के लिये 'कर्तव्य' शब्द का प्रयोग किया है। मुक्त के लिये उन्होंने दोनों ही प्रकार के कर्मों की उपादेयता का निषेध किया है, कहीं कहीं तो उन्होंने इस निषेध को वेदान्त का अलंकार तक माना है।[४६] श्री शंकराचार्य के उन वचनों में जिनके आधार पर अलोचकों ने जड़ता का अथवा निष्क्रियता का सिद्धान्त ही वेदान्त का परम तत्व माना है, केवल कर्म के विहितत्व (Injunctiveness) तथा कर्तव्य के बाह्य प्रमाणत्व (Heteronomy) का निषेध किया है। श्री शंकराचार्य ने बार बार इस मत का प्रतिपादन किया है कि मोक्ष यहीं इसी जीवन में साध्य है। यह सिद्धान्त मोक्ष के साथ जीवन और कर्म के सामंजस्य में उनके विश्वास का निर्णायक प्रमाण है। जैसा प्रो० हिरियन्ना ने कहा है, बाह्य कर्म में कोई ऐसी बात नहीं जो आन्तरिक शान्ति से असामंजस्य पूर्ण हो।[४७] इसके अतिरिक्त उन्होंने जीवन धारण के लिये जीवन के साधारण कर्मों का

४४. क्रिया हि नाम सा यत्र वस्तु स्वरूप निरपेक्षैव चोद्यते पुरुषचित्तव्यापाराधीना। ब्र० सू० भा० १-१-४

४५. करणं नाम नियता क्रिया विधिप्रतिषेधगम्या चरणं नामानियतमिति विशेषः। बृह भा०४-४-५

४६. Loc. cit.

४७. Outlines of Indian ph. 127

पालन तथा लोक-संग्रह के लिये उच्चतम कर्मों का अनुशीलन स्वीकार किया है, इससे यह असन्दिग्ध रूप से स्पष्ट हो जाता है कि जीवन और कर्म के क्रियाशीलत्व का मोक्ष से कोई विरोध नहीं है। प्रो० राधाकृष्णन् का मत है कि 'अपने स्वरूप मात्र से कर्म ( क्रिया ) अद्वैत के सत्य से विरुद्ध नहीं है'।[४८] मोक्ष का उद्देश्य पूर्ण आत्म-तन्त्र की सिद्धि द्वारा कर्म के विहितत्व तथा कर्तव्य के बाह्यप्रमाणत्व से मुक्ति पाना है। जब तक कर्तव्य बाह्य-प्रमाण रहता है, तब तक आचार-शास्त्र अपने लक्ष्य से दूर है क्योंकि इसके अन्तर्गत नैतिक व्याघात इसे एक आचार सिद्धान्त मात्र बना देते हैं, तथा उसे जीवन-गत सत्य बनने से रोकते हैं। वेदान्त नैतिक-नियम का अध्यात्म-तत्व से समन्वय कर आचार शास्त्र के सिद्धान्तों की सब उलझनें दूर कर देता है। नैतिकता के आध्यात्मिकता में समन्वित हो जाने के कारण नैतिकता की अवस्था के बाह्य-तन्त्र और व्याघात जीवन के एक उच्चतर स्तर पर समाहित हो जाते हैं; नैतिक नियम अध्यात्म तत्व में अन्तर्भूत हो जाता है, और उसका बाह्य तथा परायत्त रूप एक आध्यात्मिक एकत्व में समन्वित हो जाता है।

जब श्री शंकराचार्य मुक्तों की सर्व-कर्तव्य-विमुक्ति पर गर्व करते हैं तो उनका अभिप्राय यह नहीं है कि मुक्तों को आलस्य और निष्क्रियता का अधिकार मिल जाता है। आत्मज्ञानी मुक्त होकर नैतिक नियमों से परे हो जाते हैं किन्तु इसका अर्थ यह नहीं कि उन्हें स्वच्छन्दता पूर्वक स्वैराचार का अधिकार मिल जाता है, वरन् केवल यही कि वे नैतिक नियमों के विधान और व्याघातों से परे हो जाते हैं। मुक्ति का अर्थ अनियम और स्वैराचार नहीं वरन् आत्म-नियम है। प्रो० राधाकृष्णन् के शब्दों में मुक्त पुरुष अपने लिये स्वयं ही नियम बन जाता है, वह स्वराट् हो जाता है तथा विश्वराट् भी। नियमों और विधानों की आवश्यकता उनके लिये है जो स्वभाव से ही आत्मा की प्रेरणा के अनुकूल आचरण नहीं करते। किन्तु जो अपने अहंकार से ऊपर उठ चुके हैं, नैतिकता उनके जीवन की सत्ता का स्वरूप बन जाती है और नियम प्रेम में पर्यवसित होता है। उनमें दुश्चरित की किञ्चित् भी सम्भावना नहीं रह जाती।[४९] अपने से बहिर्भूत नैतिक नियम के बन्धन से वे मुक्त हैं क्योंकि उच्चत्तम नैतिक नियम उनके आध्यात्मिक स्वरूप में

48. Indian ph. Vol II p. 644.
49. Indian Ph. Vol, I, p, 224,

समवेत हो जाते हैं, जिसे वे प्राप्त कर चुके हैं। श्रेय उनके स्वभाव का एक अंग बन जाता है, वह अब दुर्गाह्य और दुष्प्राप्य आदर्श नहीं रहता। कोई वैदिक अथवा सामाजिक कर्म अथवा कृत्य उन पर बाह्य बन्धन के रूप में लागू नहीं होता। ये सब साधनावस्था की सापेक्ष नैतिकता के अवस्थागत संयोग हैं जो आत्मानुभव की स्थिति में पूर्णता प्राप्त कर लेते हैं। आत्मानुभव की स्थिति में साधनावस्था की कठिनाइयाँ और संघर्ष व्यतीत हो जाते हैं और कठिन संघर्ष के बाद प्राप्त किया हुआ आदर्श एक स्वभावाधिकार तथा स्वरूप का एक अंग बन जाता है। विधि और कर्तव्य का बाह्याधिकार-रूप न प्रयोज्य है और न उनका प्रयोजन ही शेष रहता है। नैतिक नियम मुक्तों की आत्मा से एकाकार हो जाता है और नैतिकता उनके स्वभाव और व्यवहार से सूर्य से प्रकाश की भाँति अथवा प्रो० राधाकृष्णन् के सुन्दर शब्दों में 'तारकों से आलोक की भाँति, पुष्पों से सौरभ की भाँति' [५०] अनायास ही अभिव्यक्त होती है। ज्ञान और सिद्धि की इस स्थिति में उच्चतम नैतिक कर्म सम्भव ही नहीं, स्वाभाविक होगा। नदी के बांध के निवारण की भाँति अहंकार के निवारण से वे शक्तियाँ जो हमारे स्वार्थों के संघर्ष में क्षीण होती थी मुक्त होंगी। नैतिक नियम के आत्म समन्वय से सापेक्ष नैतिकता की अवस्था का हमारे अन्तर्गत अध्यात्म-तत्व के साथ संघर्ष और व्याघात समाप्त हो जायगा तथा पुण्य-पाप के सिद्धान्त मात्र के स्थान पर नैतिकता जीवन का एक सत्य बन जायगी। सोत्साह कर्मठता की प्रेरणा वेदान्त में नहीं पाई जाती, इसलिये नहीं कि वेदान्त उसके मूल्य में विश्वास नहीं करता, वरन् इसलिये कि वह भी उस सापेक्ष नैतिकता की अवस्था की ही वस्तु है जब कि कर्म के लिये प्रेरणा की अपेक्षा रहती है। वेदान्त के अनुसार उच्चतम नैतिक कर्म के लिये न बाह्य प्रेरणा की अपेक्षा है, और न अन्तःप्रेरणा की, क्योंकि अन्तः प्रेरणा में भी संघर्ष का एक प्रकार शेष रह जाता है। वेदान्तिक नैतिक आचार मुक्त शक्तियों का सूर्य से प्रकाश के प्रसार की भाँति अनिवार्य रूप से सत्य-पथ में स्वच्छन्द प्रवाह है। इसीलिये नम्रता पूर्वक यह कहा गया है कि मुक्त के लिये उच्चतम नैतिक कर्म सम्भव है और श्री शंकराचार्य ने विनम्रता से स्वीकार किया है कि लोक संग्रहार्थ कर्म को छोड़ कर अन्य कोई कर्ममुक्त के लिये प्राप्य नहीं है। [५१]

50. ibid p. 229.

५१. न आत्मविदः कर्त्तव्यं लोक-संग्रहं मुक्त्वा। गीता भाष्य ३-२६

मुक्त कर्म की इस बाह्य-विधि तथा अन्तःप्रेरणा के अभाव का अर्थ यह नहीं है कि मुक्त कर्म तथा वनस्पति-प्रक्रिया में कोई अन्तर नहीं है। मुक्तों का कर्म संकल्प पूर्वक होता है, यद्यपि मुक्त-संकल्प स्वतन्त्र संकल्प है, तथा वनस्पति प्रक्रिया संकल्प रहित एक प्राकृतिक प्रक्रिया है, जिसमें संकल्प का आधार नहीं है; यही दोनों में मौलिक अन्तर है। वनस्पति-प्रक्रिया एक बाह्य प्राकृतिक शक्ति से नियामित होती है, मुक्त नैतिक कर्म हमारे स्वरूप-भूत तथा अन्तर्निहित अध्यात्म-तत्व की स्वतन्त्र अभिव्यक्ति है। मुक्त पुरुष पूर्ण आत्म तन्त्र प्राप्त कर लेते हैं अतः वे किसी बाह्य देवता अथवा नियम से अनुशासित नहीं हो सकते।[५२] वे किसी कार्य के करने के लिये बाध्य नहीं किये जा सकते।[५३] मुक्त का कर्म भी संकल्प पूर्वक होता है, किन्तु वह संकल्प स्वतन्त्र अथवा आत्मतन्त्र है और अज्ञानी के परतन्त्र संकल्प से भिन्न है। इस अ-पर तन्त्र संकल्प के कारण मुक्त स्वाराज्य में अभिषिक्त तथा अनन्याधिपति हो जाता है।[५४] वह कोई कर्म करने के लिये बाध्य नहीं किया जा सकता।[५५] किन्तु मुक्त के लिये जिस कर्म का निषेध किया गया है वह शास्त्र विहित विधि रूप कर्म है। बृहदारण्यक उपनिषद् भाष्य के उक्त उदाहरण में 'विहितम्' पद इसका स्पष्ट प्रमाण है कि मुक्त के लिये विधि कर्म का ही निषेध किया गया है। सर्वात्म-भाव-प्राप्त आत्म-तन्त्र मुक्त पुरुष के लिये बाह्य तन्त्र ( External obligation ) के रूप में नैतिक नियम उपयोज्य नहीं। मुक्त-पुरुष अज्ञान और अहंकार से, जो संसार के समस्त अनर्थों का मूल है, मुक्त होकर वह ज्ञान दृष्टि प्राप्त कर लेता है जो परम निःश्रेयस है तथा श्रेष्ठतम नैतिक कर्म में स्वाभाविक रूप से अभिव्यक्त होती है। माण्डूक्य

---

५२. न हि स्वाराज्येऽभिषिक्तो ब्रह्मत्वं गमितः कञ्चन नमितुमिच्छति।
के० वा० भा० १-१।

५३. अतो ब्रह्माहमस्मीति सम्बुद्धो न कर्म कारयितुं शक्यते।
के० वा० भा० १-१।

५४. अतएव चाऽनन्यसंकल्पत्वादनन्याधिपतिर्विद्वान् भवति।
ब्र० सू० भा० ४-४-९।

५५. अतो ब्रह्माहमस्मीति सम्बुद्धो न कर्म कारयितुं शक्यते।
के० वा० भा० १-१।

कारिका के उस पद का श्री शंकराचार्य कृत भाष्य, जो अद्वैतावस्था-प्राप्त, ज्ञानी को लोक में जड़वत् आचरण करने का आदेश करता है, इस बात का असंदिग्ध प्रमाण है कि मुक्तों की कर्म-मुक्ति तथा नियम-मुक्ति निष्क्रियता का अधिकार अथवा अनैतिकता का अधिकार-पत्र नहीं वरन् केवल कर्म की विधेयता तथा नैतिक नियम की बाह्य-तन्त्रता से मुक्ति है और वह स्वतन्त्र तथा निष्काम कर्म के रूप में अभिव्यक्त होती है। कारिका का अन्तिम चरण 'जडवल्लोकमाचरेत्' स्पष्ट रूप से यह आदेश करता है कि मुक्त को लोक में जड़ अर्थात् पत्थर के समान आचरण करना चाहिये, किन्तु श्री शंकराचार्य ने इसकी व्याख्या इस प्रकार की है कि 'मैं ऐसा हूँ इसका विज्ञापन न करते हुए आचरण करना चाहिये।'[५६] इसका अर्थ केवल अहंकार और दर्प से मुक्ति है जो निष्क्रियता से इतना भिन्न है जितना प्रकाश अन्धकार से।

श्री शङ्कराचार्य के अन्य वचनों का विवेचन करने पर भी ज्ञात होगा कि मुक्त नैतिक-कर्म के विषय में उन्होंने सर्वत्र इसी सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है। कर्म को उन्होंने मिथ्या अथवा असत् कभी नहीं माना है। यद्यपि साधारण लौकिक कर्म को वे अविद्याऽऽश्रित अवश्य मानते हैं; किन्तु उनके लिये अविद्या और कर्म दोनों ही स्वाभाविक होने के कारण मिथ्या नहीं है। कर्म मात्र में कोई दोष नहीं है, किन्तु अविद्या और अहङ्कार जो साधारण कर्म के प्रेरक हैं, दोष पूर्ण हैं। कर्म और व्यवहार उनकी दृष्टि में इतना स्वाभाविक है कि वे किसी भी दर्शन सम्प्रदाय को मानने वाले के लिये अनिवार्य हैं।[५७] जीवन का व्यवहार एक अनुभव-गत तथ्य है, उसके विषय में कुछ भी कहने की आवश्यकता नहीं, किसी तन्त्र द्वारा उसके न विधान की अपेक्षा है और निषेध की।[५८] जीवन का व्यवहार उच्चतम आध्यात्मिक सिद्धि के साथ असामंजस्य पूर्ण नहीं है। वह ब्रह्मज्ञानी और

---

५६. अप्रत्याख्यापयन्नात्मानमहमेवं विध इत्यभिप्रायः।
मा० का० भा० २-३६।

५७. सर्ववादिनामप्यपरिहार्यं परमार्थसंव्यवहारकृतो व्यवहारः।
बृह० भा० ३-५-१

५८. व्यवहारे तु यत्र यथा दृष्टस्तथ्यतापक भावस्तत्र तथैव स इति न चोदयित व्यः परिहर्त्तव्यो वा भवति। ब्र० सू० भा० २-२-१०

अज्ञानी दोनों के लिये समान रूप से वर्तमान रहता है।[५९] किन्तु तत्वज्ञानी और साधारण अज्ञानी पुरुष के कर्म के प्रति दृष्टि कोण में भेद है। शास्त्र और गुरु की कृपा से तत्वज्ञान प्राप्त कर लेने के कारण ज्ञानी सत्याऽसत्य में विवेक कर सकता है, वह यह जान लेता है कि एक अद्वैत ब्रह्म ही चरम सत्य है। वह मेरी तथा सर्वभूतों की आत्मा है। मेरे स्वार्थों से किसी के स्वार्थ का विरोध नहीं है क्योंकि मेरे लिये 'अन्य' अथवा 'पर' कोई नहीं है। इस प्रकार कर्तृत्व का अभिमान दूर हो जाता है।[६०] किन्तु जीवन के प्रति तात्विक दृष्टि कोण का वस्तुओं की यथार्थ सत्ता से कोई विरोध नहीं। अस्तु, जीवन की यथाभूत क्रिया की अध्यात्म सिद्धि की उच्चतम स्थिति से भी कोई असंगति नहीं है।[६१] प्रो० हिरियन्ना के शब्दों में बाह्यकर्म में आन्तरिक शान्ति से विरोध की कोई बात नहीं है।[६२] आत्म-ज्ञान न जगत् का नाश करता है और न कर्म का अन्त; वह केवल साधारण कर्म के आधारभूत अज्ञान और अहंकार को दूर कर देता है।[६३] अस्तु, जहाँ यह स्पष्ट रूप से भी कहा गया है कि ब्रह्मात्मदर्शी के लिये क्रिया कारक-फल-रूप समस्त कर्म का अभाव हो जाता है।[६४] वहाँ भी वास्तविक प्रयोजन समस्त कर्म और व्यवहार के अभाव से नहीं वरन् कर्म की विधिरूपता के अतिक्रमण तथा अहङ्कार के अभाव से है जो कर्तृत्वाभिमान तथा फलाकांक्षा के रूप में व्यक्त होता है। अतएव श्री शंकराचार्य ने शीघ्र ही इसका समाधान किया है कि यह व्यवहाराभाव कोई अवस्था विशेष नहीं है, क्योंकि ब्रह्म ज्ञान किसी अवस्था विशेष से उपनिबद्ध नहीं है।[६५] अभिप्राय यह है कि आत्मज्ञान

---

५६. अस्ति चायं भेदकृतो मिथ्याव्यवहारः येषां च ब्रह्मतत्वादन्यत्वेन वस्तु विद्यते येषां च नास्ति। बृह० भा० ३-५-१

६०. परमार्थवादिभिस्तु श्रुत्यनुसारेण निरूप्यमाणे वस्तुनि किं तत्वोऽस्ति किं वा नास्तीति। बृह० भा० ३-५-१

६१ तेन न कश्चित् विरोध। बृह० भा० ३-५-१

६२. Outlines of Ind. Ph. P. 127.

६३. सत्यामेव च नैसर्गिक्यामविद्यायां लोकव्यवहारावतार इति तम तत्रावोचाम। ब्र० सू० भा० ३-२-१५.

६४. ब्रह्मात्मदर्शिनं प्रतिसमस्तस्य क्रियाकारकफललक्षणस्य व्यवहारस्याभावः।

६५. न चायं व्यवहाराभावोऽवस्थाविशेषोपनिबद्धोऽभिधीयते। ब्र० सू० भा० २-१-१४

कोई अवस्था नहीं है जो कर्म की अवस्था के समाप्त होने के पश्चात् अकर्मा-ऽवस्था के आरम्भ होने पर प्राप्त होती हो, किन्तु वह एक अ-काल क्षण में अनुभूत सत्य के प्रकाश द्वारा प्राप्त जीवन के प्रति नवीन दृष्टिकोण है। आत्मज्ञान एक अवस्था के रूप में प्राप्य नहीं है क्योंकि कालावच्छिन्न अवस्था-परम्परा का कहीं चरम नहीं है। आत्मज्ञान के बिना तात्विक दृष्टिकोण सम्भव नहीं है। स्वाभाविक होने के कारण कर्म अनिवार्य है। हम अपने अस्तित्व का अन्त किये बिना कर्म का अन्त नहीं कर सकते। हम केवल कर्म के प्रति अपने अज्ञानमय दृष्टि कोण को एक ज्ञानमय दृष्टि कोण के रूप में बदल सकते हैं। यह दर्शन का एक मूल सत्य है। भगवद्गीताकार ने इसे स्पष्ट शब्दों में कहा है कि किसी भी क्षण मनुष्य निष्क्रिय नहीं बैठ सकता।[६६] श्री शंकराचार्य दर्शन के इस मूल और सरल सत्य से भली भाँति परिचित थे। भारतीय दर्शन में सामान्य रूप से तथा वेदान्त में विशेष रूप से जो कर्म की निन्दा पाई जाती है, वह कर्म के क्रिया रूप के कारण नहीं, न जल वायु मूलक भारतवासियों के प्रकृत आलस्य के कारण और न राजनीतिक दुर्भाग्य के कारण, वरन् भारतीय दर्शन के एक मूल सिद्धान्त के कारण पाई जाती है। फलाकांक्षा-मूलक कर्तत्वाभिमान कर्म को बन्धन का रूप देता है जो जीव को जन्म मरण के चक्र में भ्रमाता है। कर्म तो अनिवार्य है अतः मुक्ति का एक मात्र उपाय कर्म के प्रति हमारे दृष्टिकोण का परिवर्तन है जिससे कर्म बन्धन से आत्मा प्रभावित न हो। कामना समस्त कर्म का मूल है, कामना का कारण अज्ञान है। जब हम किसी वस्तु को अपने से अन्य मानते हैं तो उसकी प्राप्ति की कामना करते हैं। आत्मज्ञान प्राप्त कर लेने पर सर्वात्म भाव प्राप्त हो जाता है, कोई भी वस्तु हमारे लिये अन्य नहीं रह जाती। अतः कामना का कोई प्रेरक नहीं रहता और कामना न रहने पर अहंकार भी जाता रहता है।[६७] जब यह कामना और अहङ्कार रहित दृष्टिकोण प्राप्त हो जाता है तो कर्म अपने साधारण दोषों से मुक्त हो जाता है। कामना के नाश होने पर कर्म पुण्याऽपुण्य उपचय का कारण नहीं होता अतः वह जन्मान्तर का भी कारण नहीं होता।[६८] वह कर्म-व्यवहार

६६. नहि कश्चित्क्षणमेप जातु तिष्ठत्यकर्मकृत। गीता ३ ५

६७. ज्ञायमानो ह्यन्यत्वेन पदार्थः कामयितव्यो भवति न चावसावन्यो ब्रह्मविद आप्तकामस्यास्ति। बृह० भा० ४-४-६

६८. कामप्रहाणे तु कर्माऽविद्यमानमपि पुण्यापुण्योपचयकरं न भवति। बृह० भा० ४-४-५

नैतिक दृष्टि से पूर्ण परार्थ कर्म होता है तथा लोक कल्याण के लिए किया जाता है, अतः वह आत्मा के बंधन का कारण नहीं होता।[६९] ब्रह्मज्ञानी के सर्वात्मभाव प्राप्त कर लेने पर वह आप्त-काम हो जाता है। साधारण कर्म की सभी सीमाओं से वह मुक्ति पा जाता है। किन्तु वह मुक्ति दार्शनिक निष्क्रियता का अधिकार-पत्र नहीं है। लोक के कल्याण के लिये श्रेष्ठतम नैतिक कर्म मुक्त ज्ञानी के लिये बाह्य-तन्त्र द्वारा विहित रूप से नहीं वरन् आत्माभिव्यक्ति के रूप में कर्तव्य हो जाता है। आत्मज्ञान केवल भेद का भाव दूर कर देता है जो समस्त अनर्थ का मूल है किन्तु वह कर्म का निरोध नहीं करता।[७०] वेदान्त का उपदेश केवल इतना ही है कि ब्रह्मज्ञानी स्वतन्त्र और अमृत हो जाता है क्योंकि उसके लिये मृत्युरूप अज्ञान और बन्धन रूप अहंकार का अन्त हो जाता है, इससे अधिक नहीं।[७१]

## ४—मोक्ष और नैतिकता

नैतिक नियम से ऊपर तथा पुण्य पाप से परे होने के कारण मुक्तों को निर्भीक रूप से अनैतिक आचार का अधिकार नहीं मिल जाता। आध्यात्मिक स्वतन्त्रता का अर्थ नैतिक स्वैराचार नहीं है और मुक्त पुरुष अतिचारी नहीं हो जाते। आत्मज्ञान का वेदान्तिक आदर्श एक अतिनैतिक आदर्श है, यद्यपि आलोचकों ने इसे अ-नैतिक, तथा नैतिकता विरोधी आदर्श भी बताया है। आत्मा पुण्य-पाप, सुख दु:ख से अस्पृष्ट है, अतः आत्मा का अनुभव प्राप्त करने वाले मुक्त पुरुष भी पुण्य-पाप से अस्पृष्ट हैं। यह कहा जाता है कि वे दोनों से परे पहुँच जाते हैं, अतः उनके लिये दोनों में से कोई भी महत्व नहीं रखता। उन्हें आचार-शास्त्र और उसके नियमों के उपेक्षण का अधिकार मिल जाता है। इस स्वतन्त्रता में उन्हें अनियम का अधिकार मिल जाता है तथा आत्म-तन्त्रता में इसके स्वैराचार का रूप ग्रहण कर लेने का भय रहता है।

वेदान्त के विषय में इस प्रकार का मत उपस्थित करने वाले समालोचक

---

६९. स तत्र एवं वर्तमानो लोकसंग्रहाय कर्म कुर्वन्नपि न लिप्यते कर्मभि र्नबध्यते इत्यर्थः। गी० भा० ५-७

७०. स्वाभाविकभेदबुद्धिमात्रनिरोधकत्वान्नहि विध्यन्तरे निरोधकमात्मज्ञानं स्वाभाविकभेदबुद्धिमात्रं निरुणद्धि। बृह० भा ४-५-१५

७१. एतावद्ध्येवतावदेव तावन्मात्रं नाधिकमस्तीति आशंका कर्तव्या। क० भा० २-३-१५

इस बात को भूल जाते हैं कि वेदान्त में नैतिक साधना को कितना महत्व दिया गया है। अध्यात्म-मन्दिर के द्वार पर ही साधक से उच्चतम नैतिक गुणों की आशा की जाती है तथा परमावस्था को पहुँचने तक कठिनतम नैतिक साधना आवश्यक समझी गई है। नैतिक विकास आध्यात्मिक ज्ञान का एक आवश्यक पक्ष है। जैसा प्रो० रानडे का वचन है कि 'साथ साथ समान रूप से नैतिक-भावना के उत्थान के बिना आध्यात्मिक अनुभव और उसका विकास सम्भव नहीं। नैतिकता के विकास के बिना आध्यात्मिक अनुभव प्राप्त करने की चेष्टा करना डेनमार्क के राजकुमार के बिना हेमलेट के नाटक का अभिनय रचने की चेष्टा करने के समान है।,[७२] बाह्य-तन्त्र के रूप में प्रयुक्त होने वाले सापेक्ष नैतिक नियम अध्यात्म-ज्ञान की अवस्था में प्रयोज्य नहीं रहते, यही सिद्धान्त इस मत के लिये उत्तरदायी है कि वेदान्त का आदर्श नैतिकता का निषेध है। एक उपमा का अवलम्ब लेकर कहा जाता है कि सत्य के दुर्ग का आरोहण करने के लिये नैतिकता एक नसेनी की भाँति है। दर्शन-दुर्ग के ऊपर पहुंच जाने पर हम उसे ठुकरा सकते हैं, क्योंकि उसका प्रयोजन शेष नहीं रह जाता। श्री शंकराचार्य ने स्वयं नौका की उपमा का प्रयोग किया है।[७३] किन्तु उसके आधार पर यह परिणाम निकाल लेना कि वेदान्तिक आदर्श नैतिकता का निषेध है उपमा मात्र को दर्शन-सिद्धान्त मान लेना है। श्री शंकराचार्य का प्रयोजन केवल वैदिक कर्मों के परित्याग से जान पड़ता है, क्योंकि मोक्ष के बाद उनकी अपेक्षा नहीं रह जाती। इसके अतिरिक्त उपमा उपमा ही है, ठीक अर्थ में ग्रहण करने पर जहाँ वह अर्थ-व्यंजना में सहायक हो सकती है वहाँ अधिक खींचने पर उसकी अनर्थ-व्यंजना भी कर सकती है। मोक्ष की प्राप्ति बिलकुल नदी पार करने के समान नहीं है, और न दुर्गारोहण की भाँति। तीनों में हमें साधनों की अपेक्षा होती है, बस इतनी ही उनमें समानता है। किन्तु तीनों में साध्य और साधन का सम्बन्ध भिन्न है। नसेनी और नौका, साधक और साध्य से बहिर्भूत साधन है, तथा दुर्ग और तट साधक से बहिर्भूत साध्य है, एवं उभय-गत कर्म स्थानान्तर गति है। किन्तु आत्मज्ञान एक

---

७२. Contemporary Ind. Ph. P. 314

७३. के० उप० वा० भा० १-१-भूमिका

स्थान से अन्य स्थानावधि गति नहीं है। इसके साधन हमारे स्वरूप से बहिर्भूत नहीं वरन् हमारे व्यक्तित्व के अन्तरंग हैं। वैदिक कर्म मोक्ष के बाद अपेक्षित न हों, किन्तु अखिल कर्मों के नैतिक मूल्य का विद्याफल में अन्तर्भाव हो जाता है।[७४] नैतिकता का परित्याग उसी प्रकार असम्भव है, जिस प्रकार अपनी सत्ता को त्याग कर अपने स्वरूप का साक्षात्कार। आत्मज्ञान के स्वरूप का निरूपण अरणियों से अग्नि उत्पन्न करने की उपमा द्वारा अधिक अच्छा होगा। नैतिक अध्यवसाय अरणियों के संघर्ष की भाँति है जो एक अवस्था पर पहुँच कर अरणियों में अन्तर्हित अग्नि को प्रकट कर देता है; संघर्ष उष्णता की क्रियात्मक शक्ति उत्पन्न करता है जिसका पर्यवसान ज्वाला में होता है। किन्तु ज्वाला उष्णता का निषेध नहीं है, संघर्ष की उष्णता का ज्वाला में अन्तर्भाव हो जाता है तथा उसे आलोक की एक नई कोटि प्राप्त हो जाती है। संघर्ष और अध्यवसाय समाप्त हो जाता है तथा जो इतने संघर्ष से उत्पन्न हुआ था, वह अब एक प्राकृतिक प्रक्रिया बन जाता है। ज्वाला अधिकतर उष्णता देती है तथा उसे केवल आलोक के साथ ही नहीं वरन् ध्रुवता और सरलता से देती है। अस्तु, नैतिकता हमारे व्यक्तित्व से बहिर्भूत साधन नहीं है जिसे साध्य की प्राप्ति में प्रयुक्त करके ठुकरा दिया जा सके। वह हमारे व्यक्तित्व की अन्तर्निहित एक अन्तरंग शक्ति का हमारे पूर्ण स्वरूप के साक्षात्कार के लिये अध्यवसाय है। जब हम अपने आध्यात्मिक व्यक्तित्व की पूर्णता को प्राप्त कर लेते हैं तो हमारा नैतिक व्यक्तित्व न नष्ट होता है और न निषिद्ध। वह हमारे आध्यात्मिक व्यक्तित्व में अन्तर्भूत हो जाता है जिसमें उसका पूर्णत्व और पर्यवसान है। उसमें आध्यात्मिकता की एक नवीन कोटि प्राप्त कर वह महत्तर शक्ति और मूल्य प्राप्त कर लेता है तथा महत्तर साध्यों का साधन बनता है। साधना और समाराधना की अवस्था का संघर्ष और अध्यवसाय समाप्त हो जाता है, किन्तु संघर्ष का अन्त उस संघर्ष की संचालिका शक्ति का अवसान नहीं है। अध्यवसाय का अन्त इसलिये हो जाता है कि अब उसकी अपेक्षा नहीं रह जाती, संघर्ष इस लिये समाप्त हो जाता है कि अब युद्ध में विजय प्राप्त हो चुकी है। विजय से परीक्षित शक्ति और भी दृढ़तर आधार पर आरूढ़ हो जाती है, नैतिकता अब अनुशीलन की वस्तु नहीं रह जाती, वरन् वह मुक्त पुरुष का स्वभाव

---

७४. कृत्स्नस्य कर्मफलस्य विद्याफलेऽन्तर्भावात्। बृह० भा० ४-४-२

बन जाती है। नैतिक संघर्ष की उष्णता हमारे अन्तर में निहित आध्यात्मिक अग्नि की ज्वाला को प्रकट कर देती है। जिस प्रकार सूर्य से उष्णता और आलोक का प्रसार होता है उसी प्रकार हमारे आध्यात्मिक स्वरूप से नैतिकता का प्रवाह होता है। साधक जो नैतिक नियम का दास था उसका स्वामी बन जाता है। नैतिकता आध्यात्मिकता में परिपूर्णता प्राप्त कर पर्यवसित हो जाती है।

अस्तु, ऐसी नियम-मुक्ति का अर्थ नियम की उपेक्षा हो यह अकल्पनीय है। यह स्वभाव से ही असम्भव है कि आध्यात्मिक स्वतन्त्रता का अर्थ नैतिक स्वैरता हो और मुक्त स्वैराचारी हो जाय। स्वैरता मूढ़ों के लिये ही सम्भव है जिन्हें नैतिकता का किञ्चित भी बोध नहीं है। आत्मज्ञानी के लिये स्वैरता संभव नहीं हो सकती, अन्यथा मूढ़ और ज्ञानी में कोई भेद शेष नहीं रह जायगा।[७५] ज्ञानी स्वतन्त्र है इसका अर्थ यही है कि बाह्य-विधि के अर्थ में कोई भी नैतिक तन्त्र उस पर लागू नहीं। क्योंकि वह अपने आध्यात्मिक स्वरूप का साक्षात्कार कर चुका है जिसमें उच्चतम नैतिक नियम अन्तर्भूत है। ज्ञानी के विषय में यथा-कामित्व का कोई प्रश्न नहीं है। कोई अनर्थ या पाप उसके लिये सम्भव नहीं है क्योंकि वह पूर्ण आत्मज्ञान में दोनों की सम्भावना को पार कर चुका है। अहंकार समस्त अनर्थों का मूल है, ज्ञानी अहंकार से मुक्त हो चुका है।[७६] समस्त न्याय का अतिक्रमण करके ही हम एक उच्छिन्न-मूल वृक्ष के फल की आशा कर सकते हैं। अनैतिक तथा निषिद्ध आचरण से ऊपर उठना अध्यात्म-मन्दिर के द्वार पर प्रवेश करने के लिये आवश्यक गुण है। जो इनसे विरत नहीं हो चुका है वह अध्यात्म पथ पर चरण रखने योग्य नहीं है।[७७] शुद्ध अन्तः करण वाले ही यदि ईश्वर का दर्शन कर सकते हैं तो शुद्ध आत्मा वाले ही सत्य की प्राप्ति कर सकते हैं। नैतिक

---

७५. यथाकामित्वं तु विदुषोऽत्यन्तमप्राप्तमत्यन्तमूढ़विषयत्वेनावगमात्।
ऐत० भा० १-१-१

७६. न च नियोगाभावे यथेष्टचेष्टाप्रसंगः सर्वत्राभिमानस्यैव प्रवर्त्तकत्वात् अभिमानाभावाच्च सम्यग्दर्शिनः। ब्र० सू० भा० २-३-४८

७७. नाविरतः दुश्चरितात् नाशान्तो नासमाहितः।
नाशान्तमनसो वापि प्रज्ञानेनैनमाप्नुयात्।
क० उप० १-२-२४

पूर्णता के पर्यवसान रूप ही आत्मज्ञान प्राप्त होता है। आत्मज्ञान के बाद अनैतिक आचार की कोई सम्भावना नहीं रहती। अनर्थ और पाप अज्ञान-मूलक है, आत्मज्ञान में उनकी सम्भावना शेष नहीं रहती। आत्मज्ञान के पूर्व जिसका निराकरण आवश्यक है वह आत्मज्ञान के उपरान्त उदय नहीं हो सकता। जो शत्रु विजित तथा निहत हो चुका है वह पुनर्जीवित होकर विजय का प्रतिरोध नहीं कर सकता। जो रात्रि के अन्धकार में कूप अथवा कण्टकों में गिरता है उसके सूर्योदय के प्रकाश में भी पुनः उनमें गिरने की सम्भावना नहीं रहती।[७८]

---

७८. न च प्रतिषिद्धसेवाप्राप्तिः। एकत्वप्रत्ययोत्पत्तेः प्रागेव सा प्रतिषिद्धत्वात्। नहि रात्रौ कूपे कण्टके वा पतित उदितेऽपि सवितरि पतति तस्मिन्नेव। छा० भा० २-२३ १

# आठवाँ अध्याय

## उपसंहार

### वेदान्त का सन्देश

यह मत कि वेदान्त सर्वेश्वरवाद ( Pantheism ) अथवा एकत्ववाद ( monism ) है, तथा वेदान्त में आचार-दर्शन के लिये कोई स्थान नहीं है और वेदान्त धर्म की दृष्टि से भी सन्तोष जनक नहीं है, वेदान्त के मूल सिद्धान्तों के विषय में तथा आचार दर्शन और धर्म के विषय में भ्रान्ति पर आश्रित है। अधिकांश पश्चिमी आलोचना की प्रेरणा धार्मिक पक्षपात में है, दार्शनिक सचाई में नहीं, अतः उसमें बहुत से स्पष्ट तथ्यों को भ्रष्ट किया गया है। सत्य यह है कि वेदान्त एक आध्यात्मिक जीवन-दर्शन है, जो मनुष्य को उच्चतम आध्यात्मिक गौरव तथा जीवन के मूल्यों को अत्यन्त महत्व प्रदान करता है। वेदान्त का मूल और उसकी प्रेरणा मनुष्य की व्यक्तिगत, सामाजिक तथा आध्यात्मिक पूर्णता की स्वभावगत आकांक्षा में है। वेदान्त जीवन में आध्यात्मिक मूल्यों को अधिक महत्व देता है तथा समस्त मूल्यों के आध्यात्मिकीकरण में जीवन के समस्त अनर्थों की चिकित्सा पाता है। मनुष्य भी एक प्रकार का पशु है, किन्तु पाशविक प्रकृति उसकी भौतिक-सत्ता-गत एक संयोग है, उसका आध्यात्मिक-स्वरूप-गत सत्य नहीं। मनुष्य के भीतर एक दैवी शक्ति निहित है जो उसको सदा अपने आध्यात्मिक स्वरूप की प्राप्ति की प्रेरणा करती रहती है। जीवन में प्रायः मनुष्य की पाशविक प्रकृति उसे आक्रान्त कर लेती है और उसे ऐसे आचरण की ओर ले जाती है जो मानवीय से अधिक पाशविक है। इतिहास में कितनी बार देश के देश पाशविक प्रवृत्तियों से आक्रान्त होकर ऐसे कृत्यों में प्रवृत्त हुये हैं जिनके कारण मानवता लज्जित हुई है। अधिकाधिक भीषण रूप से पुनः-पुनः आवृत्त होने वाले युद्ध मनुष्य के लिये कोई गौरव की बात नहीं। वे मनुष्य की दुष्टता की सीमा अंकित करने के अतिरिक्त और कुछ सिद्ध नहीं करते। जिस शान्ति में उनका अन्त होता है वह फिर युद्ध की तैयारी की भूमिका बन जाती है। एक

प्रकार सेमनुष्य का इतिहास बर्बरता और रक्तपात का इतिहास है। किन्तु वही सब कुछ नहीं है। मनुष्य के भीतर छिपे हुये असुर ने उसके अन्तर्निहित ईश्वर को कुछ समय के लिये आक्रान्त कर लिया है किन्तु उसे पूर्णतया परास्त नहीं कर दिया है। घोरतम निराशा में भी उसकी पूर्णता की कामना लक्षित होती रही है; युद्ध के शंखनाद में भी वह क्षीण स्वर से शान्ति का आवाहन करता रहा है। असत्य में आकृष्ट होने पर उसने सदा सत्य की पुकार की है; अन्धकार से आवृत्त होने पर उसने सदा प्रकाश की कामना की है; मृत्यु से आक्रान्त होने पर उसने सदा अमृतत्व की अर्थना की है।[1] मनुष्य की इस अदम्य सत्याकांक्षा तथा पूर्णत्व और शान्ति की कामना में ही उसके आध्यात्मिक लक्ष्य की प्राप्ति की अमर आशा सन्निहित है।

वेदान्त के अनुसार आत्मानुभव मनुष्य का चरम लक्ष्य है। आत्मा हमारे अस्तित्व का चरम सत्य तथा हमारे जीवन का परम लक्ष्य है। समस्त जीवों के अस्तित्व का भी वह चरम सत्य है। सब में एक ही आत्मा व्याप्त है। अतः अपनी आत्मा के सच्चिदानन्द स्वरूप के अनुभव द्वारा हम सर्वात्मभाव की प्राप्ति कर सकते हैं। वही हमारा परम निःश्रेयस और वही मोक्ष है। जब हम पूर्णतया अपने स्वरूप का अनुभव करते हैं तो समस्त जीवों के साथ हम अपृथक् भाव का अनुभव करते हैं। यह आध्यात्मिक एकत्व का भाव समस्त विरोध और विद्वेष का अन्त कर देता है। समस्त आचार-दर्शन घोर स्वार्थ और पूर्ण परार्थ भाव के बीच सामंजस्य का प्रयास है। जब तक हम स्वार्थ को एक सीमित रूप में देखते रहेंगे और उसी को मनुष्य की मूल प्रकृति मानते रहेंगे तब तक मानवीय स्वार्थों का सामंजस्य कभी नहीं हो सकता। वेदान्त को इस समस्या का मूल अहंकार के अविद्या मूलक रूप में मिला है। अहंकार का मूल राग है, राग का मूल कामना है और कामना का मूल भेद की भावना है। जब हम किसी वस्तु को अपने से 'भिन्न' पाते हैं, और उसे अपने से 'अन्य' समझते हैं, तभी हमें उसकी प्राप्ति की कामना होती है। इसी कामना से राग और राग से अहंकार का उदय होता है। अहंकार से स्वार्थों का विरोध तथा जीवन के अन्य अनर्थ उत्पन्न होते हैं। अज्ञान में इस अहंकार का मूल है और अज्ञान का निराकरण ज्ञान से होता

---

१. असतो मा सद्गमय, तमसो मा ज्योतिर्गमय, मृत्योर्मा अमृतं गमय।
बृह० उप० १-३-२८

है। अतः ज्ञान से ही अनर्थ का उन्मूलन हो सकता है। इस प्रकार हमारे स्वरूप की आध्यात्मिक व्याख्या द्वारा वेदान्त जीवन की एक पूर्ण परार्थ-परक व्याख्या करने में समर्थ होता है। वेदान्त के सर्वात्मभाव के आदर्श में व्यक्तित्व का विनाश नहीं होता वरन् पृथक्त्व और अहंकार का भाव दूर हो जाता है। एक विश्वात्मा के रूप में हमारे व्यक्तित्व के विकास में हमारे जीवन का विकास होता है। स्वार्थों के संघर्ष का मूल व्यक्तित्व की अनेक रूपता में नहीं वरन् व्यक्तियों की पृथक्त्व-भावना में है। हमारी मित सत्ता का एक अमित व्यक्तित्व में विकास होने में इस संघर्ष का मूलोच्छेदन हो जाता है। जब हम अपने आत्मस्वरूप का दर्शन कर लेते हैं तथा समस्त जीवों के साथ सर्वात्मभाव का अनुभव कर लेते हैं तो स्वार्थों के साम्य द्वारा तद्गत संघर्ष दूर हो जाता है, तथा स्वार्थ-साम्य की गति साध्यैकत्व की ओर होती है। इस आध्यात्मिक एकत्व की भावना और साध्यैकत्व से एक पूर्ण समन्वय तथा अनन्त प्रेम का भाव उदय होता है, जो हमारे जगत् को आनन्द और शान्ति का स्वर्ग बना देने में समर्थ है।

वेदान्त के इस आदर्श में ही मानवता की समस्त आकांक्षाओं की पूर्ति हो सकती है। स्वार्थों के विरोध का उन्मूलन (चाहे वह व्यक्तियों के बीच हो अथवा वर्गों तथा राष्ट्रों के बीच) और उसके परिणाम भूत अनर्थों का निवारण उसके स्वार्थ के मूलोच्छेदन के बिना नहीं हो सकता। स्वार्थों के विरोध का मूल पृथक्त्व-भाव तथा अहंकार है। सर्वात्म भाव के आध्यात्मिक एकत्व में पृथक्त्व और अहंकार का अन्त हो सकता है। सर्वात्मभाव के आधार पर ही संसार में स्थायी शान्ति की स्थापना की जा सकती है। युद्धों का अन्त सन्धियों में हो सकता है, शान्ति में नहीं। युद्ध के बाद की शान्ति संहार और विनाश की शान्ति है, जीवन और प्रेम की शान्ति नहीं। जिन सन्धियों में युद्धों का अन्त होता है वे युद्ध की एक सुदूर सम्भावना को एक अनिवार्यता बना देती हैं। विवशता की अवस्था में पराजित राष्ट्र उन्हें स्वीकृत करते हैं और विजेता राष्ट्र अपनी विजय के गर्व में उन्हें आरोपित करते हैं। उनमें प्रतिशोध की भावना भरी रहती है, शान्ति के उत्तरदायित्व की भावना नहीं। युद्ध के कारणों के विश्लेषण और व्यवस्थापन से उनका प्रयोजन अधिक होता है, शान्ति के साधनों की व्यवस्था से नहीं। बली आक्रांता को पंगु तथा अशक्त बनाकर युद्ध की सम्भावना को रोकना उनका उद्देश्य रहता है, दुर्बल तथा आक्रान्त राष्ट्रों को सशक्त बनाकर युद्ध को

असम्भव बना देना नहीं। उनका उद्देश्य उन साधनों का उन्मूलन रहता है जो आक्रन्ता को युद्ध में सहायक होते हैं, उन कारणों का उच्छेदन नहीं जो उसे युद्ध के लिये प्रेरित करते हैं और न विश्व के शांति-प्रिय राष्ट्रों को उन साधनों के सम्पादन में सहायता देना जिनकी समृद्धि से वे शान्ति के पथ पर अग्रसर हो सकें। दण्ड रूप सन्धि किसी पराजित राष्ट्र र अनिच्छा से आरोपित नहीं की जा सकती। प्रतिशोध पूर्ण सन्धि की प्रतिक्रिया अनिवार्य रूप से युद्ध में होती है। पराजित राष्ट्र का भग्न-गर्व एक भीषणतर प्रतिक्रिया की योजना करता है। वारसेई (Versailles) का परिणाम द्वितीय महायुद्ध हुआ, पौट्सडैम (Pots-dam) का परिणाम मानवता का नाश हो सकता है। आशंका और भय में आरम्भ होने वाले युद्ध का अन्त एक सन्दिग्ध शान्ति में होता है जो विद्वेष और घृणा उत्पन्न करती है। द्वेष और घृणा के भाव समाज के आधार को काटते रहते हैं तथा एकत्व और समन्वय के प्रयासों को विफल बनाते रहते हैं।

ऐसा प्रतीत होता है कि आधुनिक विज्ञान ने देश-काल के भेद को बहुत कम करके विश्व को एक बाह्य एकता का रूप दे दिया है। हमारे ग्रह के इतिहास में प्रथम बार इसके निवासी एक समष्टि-समूह बने हैं। परस्पर संश्लिष्ट अंगों का यह समूह एक ऐसी सार्वभौमिक व्यवस्था बन गया है जिसमें एक के भाग्य का प्रभाव अन्य सभी पर पड़ता है। अर्थशास्त्र और राजनीति भी आज विश्व को एक समझने का अनुरोध करते हैं। मुद्रा-व्यवस्था परस्पर सम्बन्धित हैं तथा अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिक बातें परस्पराश्रित हैं। एक शब्द में विश्व एक शरीर बन गया है। किंतु वह शरीर अभी एकत्व की आत्मा से अनुप्राणित नहीं है। यह भावना कि मानवता एक-वर्ग हो जानी चाहिये अभी एक अनिर्दिष्ट आकांक्षा सी जान पड़ती है; वह एक सचेतन आदर्श अथवा व्यावहारिक सिद्धांत बन कर अभी हमें विश्व नागरिकता के गौरव तथा सामान्य-मानव धर्म के महत्व को स्वीकार करने के लिये प्रेरित नहीं कर रही है। वस्तुतः आज के विश्व ने एक बाह्य एकता तो प्राप्त करली है किंतु अभी उसने आंतरिक एकता प्राप्त नहीं की है। अब भी वह वर्ण, सम्प्रदाय, जाति, धर्म आदि के अनेक भेदों से विभाजित है। भय और घृणा, स्वार्थ और लोभ अब भी मनुष्य के शासक तथा उसकी नियति के निर्णायक हैं। आज जिस जगत् में हम रहते हैं वह निरन्तर भय और हिंसा, युद्ध और अशांति का जगत् है। इस जगत् में हम प्रत्येक बात से भयभीत रहते हैं,

पैरों के नीचे बारूद, प्रत्येक झाड़ी में गोले और वायु तथा भोजन में भी विष का संदेह करते हैं। इस जगत् में घृणा सघन मेघों की भाँति फैल रही है। आतंक देशों की राजनीति बन गया है। शताब्दियों के संघर्ष से प्राप्त स्वतंत्रता सहज में खो देनी पड़ती है। समस्त जगत् में भय व्याप्त है और हमारे हृदय पल पल आशंकित हो रहे हैं। विश्व की इस अशांति और अराजकता का आध्यात्मिक एकत्व की भावना में ही समाधान हो सकता है। एकत्व भी भावना में ही सब भेदों का समन्वय सम्भव है। बाह्य और भौतिक एकता तथा आर्थिक और राजनीतिक परस्पराश्रयत्व स्वतः सामान्य नागरिकता उत्पन्न करने के लिये पर्य्याप्त नहीं हैं। इसके लिये एक-जातीयता की मानवी चेतना और मनुष्यों में व्यक्तिगत सम्बन्ध की भावना जाग्रत करनी होगी। विश्व व्यवस्था की बाहरी योजनाओं से वास्तविक समन्वय और शांति स्थापित नहीं हो सकती। केवल विश्वास ही नहीं तदनुकूल कर्म भी अपेक्षित है। केवल विश्वास की दृढ़ता नहीं, सच्चे कर्म की शक्ति भी अपेक्षित है। इसके लिये हमें कुछ त्याग भी करने होंगे। हमें दूसरों पर आतंक, आरोप और अनुशासन का पुरातन छल छोड़ देना होगा। स्वार्थ, लोभ, घृणा, द्वेष आदि की चिर पोषित भावनाओं का परित्याग करना होगा। केवल सभाओं, अभिभाषणों और प्रस्तावों से काम नहीं चलेगा। उन प्रस्तावों को जीवन में चरितार्थ करना होगा। केवल उच्च आश्वासनों से काम न चलेगा, उन आश्वासनों को पूर्ण करना होगा। समुद्र के ऊपर चार्टरों पर हस्ताक्षर कर देना पर्य्याप्त न होगा, उन्हें भूमि पर चरितार्थ करना होगा। मनुष्य की समानता की घोषणायें प्रभाव हीन है। वास्तविक एकता उनके जीवन में व्यवहार से ही आ सकती है। हमें घोषणाओं और योजनाओं की आवश्यकता नहीं है। मनुष्य के हृदय में आत्मा की शक्ति चाहिये जो लोभ, स्वार्थ, घृणा, द्वेष आदि का अनुशासन कर हमारे अभीप्सित संसार का निर्माण कर सके। आत्म-विजय, साहस, त्याग, एकत्व और बन्धुत्व से ही पूर्णता प्राप्त की जा सकती है। हमें बाह्य एकता को आन्तरिक अखण्डता से अनुप्राणित करना है। जिस नूतन जगत के प्रसव की वेदना वर्तमान जगत् सह रहा है वह अभी भ्रूणावस्था में ही है। उसके देह के समस्त अंग बन चुके हैं, किन्तु उसमें अगों की उस संश्लिष्टता और शक्ति का अभाव है जो उसमें श्वास और प्राण का संचार करती है। उस पूर्णता का अभाव है जो शरीर को समवेत चेतना बनकर उसे वास्तविक अर्थ में 'एक' बनाती

है। हमारा सर्वोच्च कर्तव्य इस उदीयमान विश्व-चेतना को आत्मा प्रदान करना है; विश्वात्मा की सृजनात्मक अभिव्यक्ति के लिये आवश्यक आदर्शों और संस्थाओं का विकास करना है। तथा इन भावनाओं को भावी सन्तान के लिये छोड़कर उन्हें विश्व नागरिकता में दीक्षित करना है।

मनुष्य के इस परम लक्ष्य की प्राप्ति में वेदान्त की सहायता बड़ी हितकर होगी। वेदान्त मनुष्य को उच्चतम आध्यात्मिक गौरव प्रदान करता है और समस्त जीवों के आध्यात्मिक एकत्व की भावना में पूर्ण समाज और शान्त जगत् के स्वप्न की सफलता का साधन बताता है। वेदान्त के अनुसार समस्त अनर्थों का मूल भेद की भावना है जो घृणा और भय उत्पन्न करती है।[२] घृणा और भय ही जीवन और जगत् में समस्त दुःख और अशान्ति के मूल कारण हैं। घृणा और भय का मूल भेद अथवा अन्यत्व की भावना में है।[3] भय हमारी आत्म संरक्षण की प्रवृत्ति का ही प्रतिरूप है। जिसके नष्ट होने की आशंका है उसे हम सुरक्षित रखना चाहते हैं।[४] हम अपनी सत्ता, शरीर और स्वत्व की रक्षा करना चाहते हैं, जिन्हें हम अपनी आत्मा समझते हैं। जब हम अपने वास्तविक स्वरूप से अपरिचित होते हैं तो हम अनात्मा की, जो वस्तुतः नश्वर है, रक्षा करना चाहते हैं। आध्यात्मिक मूल्यों के स्थान पर भौतिक मूल्यों के महत्व का परिणाम परिग्रह और उसके संरक्षण की भावना में होता है। इसमें अपनी ही नहीं दूसरों की आत्मा अथवा उनके वास्तविक स्वरूप का अज्ञान भी निहित है। सब का वास्तविक स्वरूप एक ही आत्मा है, इसीलिए आध्यात्मिक एकत्व ही परम सत्य और परमार्थ है। अन्यत्व की भावना ही भय का मूल है।[५] जिसे हम 'अन्य' समझते हैं उससे हम जिसे आत्म-स्वरूप समझते हैं उसकी रक्षा करने के लिये व्यग्र रहते हैं। यही घृणा के विषय में भी है। अपने से अन्य में दोष देखना ही घृणा का मूल है।[६] जब हम अविनश्वर आत्मा का अपने मूल सत्य

---

२. नानाभूतंपृथक्त्वमन्यस्यान्यस्माद्यत्र दृष्टंतत्राशिवं भवेत्। मां० का० भा० ३-३४।

३. द्वितीयाद्वै भयं भवति। बृह० भा० १-४-१।
   यतः भेददर्शनमेव भयकरणम्। तै० भा० २-६-१।

४. यस्य हि विनाशाशंका तस्य भयोत्पत्तिः। छां० भा० ४-१५-१।

५. अन्यस्य ह्यन्यतो भयं भवति। तै० भा० २-७-१।

६. सर्वा हि घृणाऽऽत्मनोन्यद्दुष्टं पश्यतो भवति। ई० भा० ६।

के रूप में दर्शन कर लेते हैं तथा सर्वात्मा के रूप में उसका अनुभव कर लेते हैं, तो भय और घृणा का मूल ही उच्छिन्न हो जाता है। जो नित्य अद्वैत आत्मा का अनुभव कर लेता है उसके लिये भय का कारण शेष नहीं रह जाता। वह जनक की भाँति अभय को प्राप्त हो जाता है।[७] आत्मानुभव होने पर कौन, किसका और किससे संरक्षण करे![८] सभी तो आत्म-स्वरूप हैं। अमृत आत्मा के लिये नाश का भय नहीं। ईश्वर भी आत्मा का नाश नहीं कर सकता। और जब हम सर्वात्मभाव का अनुभव कर लेते हैं तो हमसे भिन्न कुछ भी नहीं रहता जो भय का कारण हो।[९] यही घृणा के विषय में भी है। जो सदा सर्वत्र शुद्ध आत्मा का दर्शन करता है, उसके लिये घृणा का कारण नहीं रह जाता।[१०] जो आत्म-ज्ञानी अव्यक्त से लेकर स्थावर तक समस्त जीवों को अपने से पृथक् नहीं देखता और आत्म स्वरूप से ही सबको देखता है, वह उन्हें घृणा की दृष्टि से नहीं देख सकता।[११] अतः वेदान्त का यह मत है कि भेद की भावना ही समस्त अनर्थों का मूल है।[१२] और आत्म-दर्शन अथवा सर्वात्मभाव ही निःश्रेयस अथवा परम-कल्याण का साधन है।[१३] इसी अवस्था में व्यक्तिगत तथा सामाजिक अभयत्व सम्भव है और मनुष्य पर मनुष्य के अत्याचार का अन्त हो सकता है।[१४] इसी साधन द्वारा जीवन और जगत् में स्थायी शान्ति की स्थापना की जा सकती है।[१५]

---

७. अभयं वै जनक प्राप्तोऽसि।

८. यदा तु नित्यमद्वैतमात्मानं विजानाति तदा किंवा कः कुतो वा गोपायितुमिच्छेत्। कठ० भा० २-१-१

९. नहि तस्माद्विदुषोऽन्यद्वस्त्वन्तरमस्ति यतो बिभेति। तै० भा० २-६-४

१०. आत्मानमेवात्यन्तविशुद्धं निरन्तरं पश्यतो न घृणानिमित्तम्। ई० भा० ६

११. यः परिव्राड् मुमुक्षुः सर्वाणिभूतान्यव्यक्तादीनि स्थावरान्तानि आत्मन्येवानुपश्यति आत्म व्यतिरिक्तानि न पश्यति स तस्मादेव दर्शनान्न जुगुप्सते घृणा न करोति। ई० भा ६

१२. नानाभूतं पृथक्त्वमन्यस्यान्यस्माद्यत्र दृष्टं तत्राशिवं भवेत्। मां० का० भा० २-३४

१३. नान्यदात्मविज्ञानान्निरतिशयश्रेयःसाधनम्। छां० भा० १-१-१

१४. अद्वयता अभयता अतः सैव शिवा। मां० का० भा० २-३३

१५. मोक्षाख्या चाक्षया शान्तिः। मां० का० भा० ३-४०

यह तर्क कि अहंकार मनुष्य की प्रकृति है और युद्ध उसकी स्वाभाविक प्रवृत्ति है यही सिद्ध करता है कि संसार की स्थिति सदा ऐसी ही रहेगी जैसी कि रही है। यह जीवन के अनर्थों का समाधान नहीं उनकी वैज्ञानिक व्याख्या मात्र है। किन्तु यह तर्क मनुष्य को कभी सन्तुष्ट नहीं कर सका है और असफलताओं के बाद भी मनुष्य शान्ति और सुख के लिए निरन्तर प्रयास द्वारा अपना असन्तोष प्रकट करता रहा है; यह इस बात का प्रमाण है कि जब तक मानवता अपना अभीप्सित लक्ष्य प्राप्त नहीं कर लेती, जब तक वह सन्तुष्ट और शांत नहीं हो सकती। मनुष्य की प्रकृति प्रामाण्य-चिन्ता में दृष्टांत नहीं हो सकती।[१६] मनुष्य की आसुरी प्रवृत्ति उसकी भौतिक सत्ता का संयोग है, उसकी अध्यात्मिक सत्ता का सत्य नहीं। हमारी प्रवृत्तिओं के आध्यात्मिकीकरण द्वारा मनुष्य जाति के आध्यात्मिक एकत्व में ही शान्ति और सुख के साम्राज्य की आशा निहित है।

१६. प्रामाण्यचिन्तायां पुरुषप्रवृत्तेरदृष्टान्तत्वात्। छां० भा० २-२३-१

# परिशिष्ट—१

## संकेत-निर्देश

| संकेत | नाम |
|---|---|
| ई० उ० | ईशावास्योपनिषद् |
| केन० उ० | केन उपनिषद् |
| कठ० उ० | कठ उपनिषद् |
| मुं० उ० | मुंडक उपनिषद् |
| प्र० उ० | प्रश्न उपनिषद् |
| मां० उ० | मांडूक्य उपनिषद् |
| मां० का० | मांडूक्य कारिका |
| ऐत० उ० | ऐतरेय उपनिषद् |
| तै० उ० | तैत्तिरीय उपनिषद् |
| छां० उ० | छान्दोग्य उपनिषद् |
| बृ० उ० | बृहदारण्यक उपनिषद् |
| भ० गी० | भगवद्गीता |
| ब्र० सू० | ब्रह्मसूत्र |
| ई० भा० | ईशोपनिषद्भाष्य |
| के० प० भा० | केनोपनिषद्पदभाष्य |
| के० वा० भा० | केनोपनिषद्वाक्य भाष्य |
| कठ० भा० | कठोपनिषद् भाष्य |
| मुं० भा० | मुंडकोपनिषद् भाष्य |
| प्र० भा० | प्रश्नोपनिषद् भाष्य |
| मां० भा० | माण्डूक्योपनिषद् कारिकाभाष्य |
| ऐ० भा० | ऐतरेयोपनिषद् भाष्य |
| तै० भा० | तैत्तिरीयोपनिषद् भाष्य |
| छां० भा० | छांदोग्योपनिषद् भाष्य |
| बृ० भा० | बृहदारण्यकोपनिषद् भाष्य |
| गी० भा० | गीताभाष्य |
| ब्र० सू० भा० | ब्रह्मसूत्रभाष्य |

# परिशिष्ट—२

## आधारभूत मूल संस्कृत ग्रन्थों की सूची

१—ईशावास्योपनिषद्
२—केनोपनिषद्
३—कठोपनिषद्
४—मुण्डकोपनिषद्
५—प्रश्नोपनिषद्
६—माण्डूक्योपनिषद्
७—माण्डूक्य कारिका
८—ऐतरेयोपनिषद्
९—तैत्तिरीयोपनिषद्
१०—छान्दोग्योपनिषद्
११—बृहदारण्यकोपनिषद्
१२—भगवद् गीता
१३—ब्रह्मसूत्र
१४—ईशोपनिषद् भाष्य
१५—केनोपनिषद् भाष्य
१६—कठोपनिषद् भाष्य
१७—मुण्डकोपनिषद् भाष्य
१८—प्रश्नोपनिषद् भाष्य
१९—माण्डूक्योपनिषद् कारिका भाष्य
२०—ऐतरेयोपनिषद् भाष्य
२१—तैत्तिरीयोपनिषद् भाष्य
२२—छान्दोग्योपनिषद् भाष्य
२३—बृहदारण्यकोपनिषद् भाष्य
२४—भगवद्गीता भाष्य
२५—ब्रह्मसूत्र भाष्य

# परिशिष्ट--३

## सहायक अंगरेजी ग्रन्थों की सूची


| | | |
|---|---|---|
| 1. | Bradley, F.H. | Appearance and Reality. |
| 2. | Dasgupta, S. N. | History of Indian Philosophy Vol. I. |
| 3. | | ,, ,, Vol. II. |
| 4. | Deussen, Paul : | Philosophy of Upanishads. |
| 5. | | The system of the Vedanta. |
| 6. | Gough, A. E. | Philosophy of Upanishads. |
| 7. | Hiriyanna, M. | Outlines of Indian Philosophy. |
| 8. | Hopkins, E. W. | Ethics of India. |
| 9. | Jha, G. | Sankara Vedanta. |
| 10. | Muller, Max. | Three Lectures on Vedanta. |
| 11 | | Six systems of Indian Philosophy. |
| 12. | Mckenzie, J. | Hindu Ethics, |
| 13. | Muirhead, J. H. | Contemporary Indian Philosophy. |
| 14. | Mukerji, A. C. | The Nature of Self. |
| 15. | Paulsen, F. | Introduction to Philosophy. |
| 16. | Radhakrishnan, S. | Indian Philosophy Vol. I. |
| 17. | | ,, ,, Vol. II. |
| 18. | | An Idealist view of Life. |
| 19. | | Eastern Religions & Western Thought. |
| 20. | Ranade, R.D. | A constructive survey of Upanishadic Philosophy. |

21. Shastri, K. — Advaita Vedanta.
22. Thibeant, G. — Translation of the S'a'nkara-bhashya
23. ,, — Translation of the Sri-bhashya.
24. Urquhart, W. S. — Pantheism & the value of Life
25. ,, — Vedanta & Modern Thought.